1324

6.4

ant Editor,

by B.H.U.
ditor before
or the next
July 30

Dhanyakumar Rajput
M.A. Dyr

प्रज्ञा

१०६०३

श्री गणेश वर्णी दि. जैन (शोध) संस्थान
पुस्तक सं. 9328
दिनांक.......
नरिया, (का. हि. वि. वि.)

BANARAS HINDU UNIVERSITY JOURNAL

Vol. XII (2) MARCH 1967

Editorial Board

Dr. Nand Lal Singh
Head of the Deptt. of Spectroscopy (Convener)

Dr. Brij Mohan
Principal, Central Hindu College

Dr. A. K. Narain
Principal, College of Indology

College Editors

1. Pt. Ambika Dutta Upadhyaya—*Deptt. of Hindi & English Samskrit Mahavidyalaya*
2. Km. V. S. Deodhar—*Women's College*
3. Dr. Shrikrishna Lal—*Deptt. of Hindi, Central Hindu College*
4. Dr. N. K. Devaraja—*Deptt. of Indian Philosophy & Religion, College of Indology*
5. Dr. V. D. Shukla—*Deptt. of Geology, College of Science*
6. Pt. Ramapati Shukla—*Deptt. of Education, Teacher's Training College*
7. Dr. Lalmani Mishra—*Deptt. of Instrumental Music, College of Music and Fine Arts*
8. Shri P. N. Kaula—*Librarian, Deptt. of Library Science*

Assistant Editor

Dr. M. N. Dubey

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्थापक

पूज्य महामना

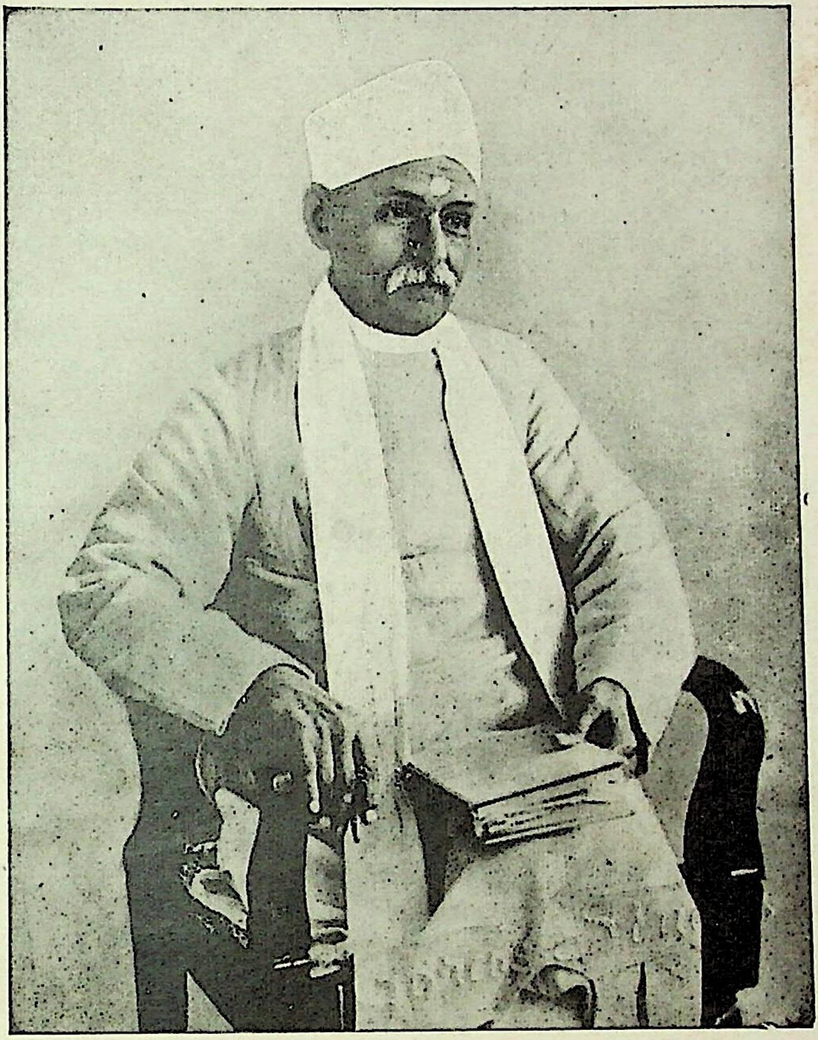

हिताय सर्वलोकानां निग्रहाय च दुष्कृतां
धर्मसंस्थापनार्थाय प्रणम्य परमेश्वरम् ।
प्रसादाद्विश्वनाथस्य काश्यां भागीरथीतटे
विश्वविद्यालयः श्रेष्ठः हिन्दूनां मानवर्धनः ॥
हिन्दूराज्याधिपतिभिर्धनिकैर्धार्मिकैस्तथा
मिलित्वा स्थापितः सद्भिर्विद्याधर्मविवृद्धये ॥

जन्म :—वि० सं० १९१८ पौषकृष्ण ८ (२५-१२-१८६१)
मोक्ष :—वि० सं० २००३ मार्गशीर्षकृष्ण ४ (१२-११-१९४६)

श्री गणेश वर्णी दि. जैन (शोध) संस्थान
पुस्तक नं० 9324
दिनांक ...

८०६०३

विषय-सूची

१. श्री काशी हिन्दू विश्वविद्यालयः
श्री जगदीश चन्द्र शास्त्री ...

२. सांख्य दर्शन
श्री हीरावल्लभ शास्त्री ३

३. हिन्दू विश्वविद्यालयमहाकाव्यम्
पं० मधुसूदन शास्त्री ८

४. व्यवहारेषु साक्षिणां स्वरूपम्
पं० विश्वनाथ शास्त्री १२

५. प्राचीन कृषि-विज्ञान
श्री केदारदत्त जोशी १७

६. काशी हिन्दू विश्वविद्यालयं नाटकम्
पं० मधुसूदन शास्त्री २४

७. हिन्दी साहित्य की ज्ञानाश्रयी शाखा पर आन्तरिक और बाह्य प्रभाव
श्री सकलदीप सिंह २९

८. हिन्दी प्रेमाख्यानों की पृष्ठभूमि और परम्परा
श्री प्रेमचन्द्र जैन ३४

९. आदिम काल में सामाजिक व्यवस्था और गीति-काव्य का उद्भव
सुश्री विद्यागुप्त ४४

१०. परमाणुओं के स्पेक्ट्रम
डॉ० नन्दलाल सिंह ५४

११. धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र—विधीय व्याख्या
डॉ० हरिहरनाथ त्रिपाठी ८६

१२. गन्ने के हानिकारक कीट
डॉ० एस० पी० मुखर्जी, जनार्दन सिंह, एस० एन० पाण्डेय ९२

१३. देश के युवकों की समस्या
श्री रमापति शुक्ल १०२

१४. बाजार-भाव की समस्या और कौटिल्य तथा अलाउद्दीन की व्यवस्था
कु० वीणा व्यास १०७

१५. वर्णरत्नाकर
डॉ० शिवनाथ शर्मा पाण्डेय ११३

१६. नौकरशाही और भारत
श्री सुरेन्द्र प्रसाद नारायण सिंह 'सुरेश' ... १२१

१७. आजमगढ़ जिले की बोली में व्यवहृत प्रमुख धातु और क्रियापद
डा० महेन्द्रनाथ दुबे १३९

१८. अहंकार मनुष्य का प्रबल शत्रु है
पं० चन्द्रवली त्रिपाठी १६०

१९. भारतीय विधान मण्डल में राष्ट्रपति तथा राज्यपाल के अभिभाषण
श्री केदारनाथ अग्रवाल १६१

20. Principal H. B. Malkani
—Shri Sita Ram Chaturvedi ... 167

21. Our Children Literature And Its Future
—Shri D. P. Patnaik ... 174

22. Educational Import of Accounting
—Shri H. S. Kulshrestha ... 178

23. Hero of the Veṇīsamhāra
—Dr. R. P. Dubey 185

24. Finances for Industrial Growth of Uttar Pradesh
—Dr. G. S. Baranwal 191

25. The Task for Indian Education
—Shri R. K. Yadav 199

26. Liberal Education In Scientific Society
—Shri Surya Nath Singh ... 204

27. Study of Musicology In India
—Dr. Prem Lata Sharma ... 211

28. Richard's Theory of Value In Relation to Coleridge's Theory of Imagination
—Shri Raj Nath 215

29. Wonders of the Spectroscope
—Dr. R. S. Sharma 223

30. Gems And Gem Stones—Their Varied Uses In Life And In Industries
—*Dr. Raj Nath & Shri B. R. Yadawa* ... 226

31. The Black Sea Riviera
—*Dr. Bhupendra Rai* 240

32. Ahimsā—An Analysis
—*Shri Bashistha Narayan Sinha* ... 248

33. Impact of Roman Catholicism on Romantic Poetry
—*Shri Narinder Sharma* ... 255

34. National Physical Efficiency Drive
—*Shri S. N. Das* 263

35. Common Accidents And Their Remedy
—*Shri A. L. Srivastava* ... 273

36. Kālidāsa's Concept of Characterisation
—*Dr. Amal Dhari Singh* ... 279

37. Training In Industry of India
—*Dr. D. P. N. Singh* 295

38. Central Hindu College 303

39. College of Indology 307

40. Teachers' Training College 310

41. Womens' College 313

श्री काशी हिन्दू विश्वविद्यालयः

(श्री काशी हिन्दू विश्वविद्यालयाष्टकम्)

श्री जगदीशचन्द्र शास्त्री
संस्कृत महाविद्यालयः

देशोऽयं जगतीतलाखिलबुधैः सम्मानितः सस्पृहं
तत्रांप्येष सुविज्ञवास-निलयो विश्वेश्वराधिष्ठितः ।
विद्वद्वृन्दसुपूजिताब्जचरणान् श्री मालवीयान् सदा,
यो वै स्मारयतीह विश्वमहितो विद्यालयो राजते ।।१।।

यश्चास्मिन् पृथिवीतले प्रचुरवाग्विद्याविवेकप्रदो
द्वीप्रः पण्डितमण्डनैर्विजितगीः स्वामिप्रभावैर्बुधैः ।
छात्रैश्छत्रपरायणैर्नवनवागारेस्तथा सन्त्रिभि-
र्विश्वाद्यः स कुलाग्रणी त्रिगुणवान् विद्यालयो राजते ।।२।।

व्यामोहं हन्ति वार्दैर्विविधगुणगणैरज्ञमोहं पिधत्ते
लोकौद्धत्यं निरस्यत्यपि च समुचितैर्निग्रहैर्युक्तियुक्तैः ।
भुक्तेर्मुक्तेश्च बोधं प्रवितरति शुभज्ञानतृष्णावते यः
सोऽन्यस्तर्काग्रबन्धुः सुजयति भुवने विश्वविद्यालयोऽसौ ।।३।।

गन्धर्वाः सन्ति यस्मिन् वसति नगसुता निश्छलोदञ्चदङ्गी
शम्भुर्देवास्तथाऽत्राऽधिभवनमखराः सन्ति सन्तोषसाराः ।
स्वक्षैर्यक्षैश्च रम्यो विविधमुनिकुलैर्योऽत्र सेव्यः सशिष्यैः,
प्रालेयाद्रेः सतीर्थ्यः स जयति भुवने विश्वविद्यालयोऽयम् ।।४।।

तत्तन्नेत्रच्छटाभी रचयति सुतरां भक्तवृन्दस्य तोषं
जोषं कल्याणकारी शरणचरणवान् सर्वगर्वैकभूमिः ।
यं दृष्ट्वा दिव्यदेहं स्मरति हरिमहो विज्ञमान्यो वदान्यः,
विद्यादानाप्तकीर्त्तिः प्रजयति भुवने विश्वविद्यालयोऽसौ ।।५।।

पाश्चात्या संस्कृतिर्या निखिलजनमनोमोहनेदक्षकक्ष्या,
याऽस्माकीना धरायां परहितरचनारम्यभावातिभावा ।
या चान्येषां कदाचिज्जनगणमहिता संगमो ह्यत्र तासां,
यत्रान्यो बोधवृक्षस्त्रिगुणकुलपती राजते राष्ट्रनेता ।।६।।

विद्यां हृद्यां ददात्याश्रितखलखलता तर्जनेऽनन्यतुल्यः
सौख्यं सख्यं समेषामतितरचतुरा राधनेऽकक्ष्य दाक्ष्यम् ।
तारुण्यं प्राविवेण्यं गुणगणगुरुतां तत्तदाराधकानाम्—
प्रायच्छन्निश्चयेनायमधि सुभुवनं कल्पवृक्षस्य मित्रम् ।।७।।

दर्शं दर्शं विभिन्नागणितगुरुगृहान्नेत्रप्रीतिप्रदातॄन्
प्राकाराकारमत्राधिककुतुककरं राजमार्गांश्च रम्यान् ।
लोकोत्कण्ठासुपात्रं त्रिपुररिपुगृहं हर्म्यमालां विशालां
के वा न स्युः स्व मुण्डा कलितडमरुभिः स्वर्चनाव्यग्रचित्ताः ॥८॥

विश्वविद्यालयस्यास्योन्नतिकामः शिरोमणिः ।
प्रस्तौति शिवसेवायां वसुदलसरोरुहम् ॥

सांख्य-दर्शन

श्री हीरावल्लभ शास्त्री
संस्कृत महाविद्यालय

कठोपनिषद् में "आत्मा की उपलब्धि किस प्रकार होती है और किस प्रकार से नहीं हो सकती" इस प्रसंग में "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः" मंत्र आया है और ठीक यही मन्त्र मुण्डकोपनिषद् में भी आया है। कठोपनिषद् के "भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पन्चमः" इस वाक्य में तथा तैत्तिरीयोपनिषद् के "भीषादस्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पन्चमः" में अत्यन्त अल्प भेद है। ऐसे बहुत से स्थल हैं जहाँ समान विषय के वर्णन में ग्रन्थों की अनेक अंशों में समानता देखी जाती है। इस समानता को देखकर कोई विज्ञ यह नहीं कह सकता कि "किसी एक उपनिषद् का ही तोड़-मरोड़ व हेर-फेर ही अन्य उपनिषदों में है; उनकी निजी मौलिकता कुछ नहीं है।" अतः यह क्यों न मान लिया जाय कि सूत्र ग्रंथ का ही संक्षिप्त ग्रंथ कारिका है। आचार्य शंकर के उदाहरण न देना तो ग्रंथ के परवर्ती होने में कोई अन्वय व्यतिरेक तो है नहीं। यदि उनके सूत्र का उदाहरण न देने से सूत्र ग्रन्थ वाद का मान लिया जाय तो उन्होंने जहाँ पुराणों के वचनो का उद्धरण दिया है वहाँ श्रीमद्भागवत् पुराण का कोई भी वचन नहीं लिया है, तब तो भागवत पुराण को शंकराचार्य जी के वाद का मानना पड़ेगा। किन्तु वैदिक परम्परा का अनुयायी स्मार्त व वैष्णव समाज इस बात को कदापि स्वीकार नहीं कर सकता है कि शंकराचार्य के वाद भागवत् की रचना हुई। पद्मपुराण, ब्रह्मवैवर्तादि पुराणों में भागवत का विस्तृत माहात्म्य वर्णित है। ब्रह्मवैवर्तादि पुराणों का उद्धरण शंकराचार्य देते हैं तो भागवत पुराण उनसे परवर्ती कैसे हो सकता है? कुछ लोगों का कहना है कि आचार्य वाचस्पति के सामने भी सूत्र ग्रंथ नहीं था। इसका समाधान ऊपर हो गया है। किन्तु दूसरे प्रकार से भी यहाँ उत्तर देना उचित होगा। वह यह है कि गौतम सूत्र के ऊपर न्यायवार्तिक नाम की उद्योतकराचार्य (भारद्वाज) की विस्तृत टीका है, उसके सांख्यादि परपक्ष के खण्डन वाले चतुर्थाध्याय में सांख्य के सत्कार्यवाद के खण्डन में उन्होंने सांख्यों का उद्धरण दिया है जो कि कारिका ग्रंथ की अपेक्षा सूत्र-ग्रंथ के साथ अधिक साम्य रखता है। चतुर्थाध्याय के ५१वे सूत्र के अवतरण में उद्योतकराचार्य अपनी तात्पर्य टीका में शंका पूर्वक इस प्रकार उद्धरण देते हैं—

यत्पुनरेतत् "नासदुपादान नियमादि" ति–१ इस उद्धरण सा ही सांख्य का यह सूत्र है "उपादान नियमात्" (सा० सु० १ अ०, ११५ सूत्र) इस सूत्र में इसके पूर्व "नासदुपपानृशृंगवत्" इस ११४ वें सूत्र से "नासद" पद की अनुवृत्ति आती है सब मिलकर यह अर्थ होता है कि कार्य असत् नहीं है प्रतिकार्य के साथ उसके उपादान कारण के नियम की व्यवस्था लगी है। मिट्टी से ही घड़ा, तन्तुओं से ही पट बनता है।

अब इस सत्कार्यवाद की सिद्ध करने वाली कारिका को भी देखिए—"असदकरणादुपादानग्रहणात्" (सां० का० ९) ऊपर निर्दिष्ट वार्तिक ने जो प्रतीक लिया है वह उक्त

सांख्यसूत्र के दोनों सूत्रों से सम्बद्ध ही लिया है न कि कारिका से। इससे स्पष्ट है कि वर्तमान सांख्यसूत्र ग्रंथ आचार्य शंकर से पहले ही विद्यमान था। उद्योतकर का समय ६वीं शताब्दी के लगभग माना जाता है, शंकराचार्य का समय ८वीं शताब्दी के आस पास माना जाता है, वाचस्पति मिश्र का समय ९वीं शताब्दी सिद्ध ह। वाचस्पति मिश्र ने वार्तिक के ऊपर तात्पर्य टीका बनाई है, वार्तिक में सांख्यसूत्र प्रतीक रूप से दिए गए हैं इससे सिद्ध है कि वाचस्पति मिश्र को सांख्यसूत्र ग्रंथ ज्ञात था।

आर्ष-दर्शनों में परस्पर सिद्धान्तों की चर्चा होने से उसी के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि कौन दर्शन पहले का है और कौन बाद का है। जैसे सांख्य के सिद्धान्तों की चर्चा न्याय दर्शन में है, न्यायवैशेषिक, सांख्य, योग, दर्शनों के सिद्धान्तों की चर्चा वेदान्त दर्शन में है एवं सांख्य दर्शन में न्याय वैशेषिक सिद्धान्तों की चर्चा है, इसलिए हमें श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास (वाल्मीकि रामायण, महाभारत) में वर्णित परम्परा का ही आश्रय लेना पड़ेगा, तदनुसार सांख्य-दर्शन सबसे प्राचीन सिद्ध होता है। सांख्य-दर्शन (षडध्यायसूत्र ग्रन्थ) में कोई ऐसी बात नहीं पाई जाती है कि जो उसको अर्वाचीन सिद्ध कर सके। उसमें जो व्यक्तिगत नाम आए हैं वे आधुनिक आचार्यों के नहीं हैं, महाभारत में वर्णित अति प्राचीन आचार्यों के नाम हैं। वे भी केवल दो व्यक्तियों के नाम हैं जैसे कि "पञ्चशिख" का नाम ५ अध्याय के ३२ वें सूत्र और छठें अध्याय के ६८वें सूत्र में आया है— "आधेय-शक्तियोगे इति पञ्चशिखः, अविवेकनिमित्तो वा पञ्चशिखः"। दूसरा व्यक्तिगत नाम ६ अध्याय के ६९ सूत्र में) सनन्दनाचार्य का (लिंग शरीर निमित्तक इति सनन्दनाचार्यः) आया है। इन दो अति प्राचीन कपिल के ही निकट काल के आचार्यों के नाम के अतिरिक्त अन्य किसी का भी नाम सांख्यदर्शन में नहीं है। इसके विपरीत वेदान्त दर्शन में तो जैमिनि आदि अनेकों आचार्यों के नाम निर्दिष्ट हैं। सांख्य में निर्दिष्ट सनन्दनाचार्य तो कपिल की तरह सृष्टि के आदि में उत्पन्न हैं, ब्रह्मा के मानस पुत्र हैं। सांख्य के उपदेष्टा पञ्चशिख भी महाभारत के वर्णन के अनुसार राजा जनकदेव के समय के हैं, दीर्घ जीवी हैं। कपिल भी दीर्घजीवी थे इनका परस्पर साक्षात्कार भी हुआ था। सांख्यसूत्र के पञ्चम अध्याय के ३१वें सूत्र में दूसरे किसी आचार्य का मत निर्देश करते हुए निजशक्त्युद्भावमित्याचार्याः कहा है। इससे भी यह सिद्ध नहीं होता कि कोई आधुनिक आचार्य का निर्देश है। कपिल से पूर्ववर्त्ती सनन्दनादि की ही तरह ये भी कोई प्राचीन आचार्य व्यक्त होते हैं। इस प्रकार के अन्य आचार्यों के मत निर्देश के सूचक वाक्य "अपर आह" आदि वाक्य वेदों के ब्राह्मण ग्रन्थों में भी वहुत स्थलों में देखे जाते हैं, तो क्या अपौरुषेय अनादिवेद भी उन निर्देशों के कारण आधुनिक मान लिए जाँय?

यदि आधुनिक सिद्धान्त की तरह किसी वाद का प्रतिपादन करने से ही सांख्य-सूत्र ग्रन्थ आधुनिक हो जाय तो ऐसे विवेचक ऐतीह्य वेत्ताओं के मत से कालान्तर में सांख्य सूत्र की रचना वीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध की माननी पड़ेगी क्योंकि इस शताब्दी के वैज्ञानिकों ने माना है कि परमाणु का भेदन हो सकता है। सांख्य के "न निभगित्वं कार्यत्वात्" (सां० सू० ५ अ०, ८८ सूत्र) में भी आया है कि पृथिव्यादि का परमाणु निर्भाग नहीं है किन्तु भाग युक्त है, परन्तु परमाणु को सभाग सिद्ध करने के कारण सांख्य अर्वाचीन नहीं

माना जा सकता। इसी प्रकार "नवयं षट् पदार्थ वादिनो वैशोषिकादिवत्" (सां० सू० १ अ० २५ सूत्र "षोडशादिप्तप्येवम्" (सां० द० ५अ०, ८६ सूत्र) इन सूत्रों में वैशोषिकादि के पदार्थो की चर्चा आने से भी सूत्र ग्रंथ नवीन नहीं कहे जा सकते। यहाँ यह नहीं कहा गया है कि कणादाभिमत षट् पदार्थ या गोतमाभिमत षोडश पदार्थवादी हम नहीं हैं। सूत्रों में कणाद और गौतम मुनि का नाम निर्देश न होने से यही अर्थ अभिप्रेत है कि विशेष पदार्थ को मानने वाले जो कोई भी षडपदार्थवादी हैं उनकी भाँति हम छः पदार्थ नहीं मानते। यदि यहाँ षट् पदार्थवादी केवल कणाद ही अभिप्रेत होते तो वैशेषिकवत् कहते और आदि पद न देते। सूत्र के 'आदि' पद से ज्ञात होता है कि षट्पदार्थवादी बहुत से आचार्य थे। इस समय उन षट्पदार्थन्ववादियों में केवल कणाद का ही नाम शेष है अन्य षडपदार्थवादी भी विशेष पदार्थ मानते रहे होगें तभी तो वे विशेष पदार्थ के सहित षटपदार्थवादी हो सकेंगे। विशेष पदार्थ सहित षट् पदार्थ मानने वाले सभी सामान्य तौर से लिए गए हैं। "जैसे २५ तत्व मानने वाले हिरण्य गर्भ, देवल, कपिलादि बहुत से सांख्याचार्य हुए हैं, वैसे षट् पदार्थवादी भी अनेक हुए हैं। उनमें अन्तिम आचार्य कणाद भी हो सकते हैं उनसे पूर्ववर्ती और आचार्य भी। इसी तरह षोडशादि पदार्थवादियों के बारे में भी कहा जा सकता है।

यह बात हो सकती है कि जैसे न्याय, वैशेषिकादि दर्शनों के सूत्रपात में पाठभेद, पाठभ्रंश, सूत्रों की संख्या में कमी या आधिक्यादि अनेक वैषम्य देखा जाता है उसी प्रकार सांख्यसूत्र ग्रन्थ में भी इतने दीर्घकाल के अन्दर कुछ व्यत्यय हो गया हो, इस प्रकार का भेद तो महाभारत वाल्मीकि रामायण, पुराणादि सभी परम्परागत प्राचीन ग्रन्थों में बहुत कुछ देखने में आता है। महाभारत का गौड़ पाठ और दाक्षिणात्य पाठ भेद तो प्रसिद्ध ही है। इसी तरह बहुत दिनों से चले आ रहे इस सांख्य दर्शन के सूत्रों में किसी कारण विशेष से कोई सन्देहास्पद बात प्रविष्ट हो गई हो तो सूत्रग्रन्थ को ऐतिहासिक दृष्टि से आधुनिक नहीं कहा जा सकता।

कुछ लोगों का यह भी सिद्धान्त है कि तत्वसमास सूत्र कपिल कृत हैं उसी मूल ग्रंथ के आधार पर यह सांख्य सूत्र दर्शन भी है, यह कथन भी प्रामाणिक प्रतीत नहीं होता। तत्व समास सूत्र इस नाम से ही प्रकट है कि यह (तत्वसमास) ग्रन्थ संक्षिप्त है। किसी विस्तृत का ही संक्षिप्त स्वरूप हो सकता है। कुछ एकाध प्राचीन सांख्याचार्यो का यह कहना है कि संक्षिप्त सूत्र ग्रन्थ (तत्त्वसमाससूत्र) कपिल का बनाया है। षडध्याय रूप सांख्य दर्शन वैश्वानरावतार रूप महर्षि कपिल प्रणीत है[१]।

इस मत में प्रमाण न देकर केवल "इतिवृद्धा" यह कह कर ही तत्व समास सूत्रों को नारायणावतार कपिल का निर्मित सिद्ध किया गया है। किन्तु इसी तत्त्व समास सूत्र के अन्य बहुत से व्याख्याताओं ने माना है कि संक्षेप में यह तत्व समास सूत्र भी कपिल कृत है। आचार्य भावगणेश समास सूत्रों की टीका के प्रारम्भ में ही लिखते हैं कि मैं इस

---

[१] "स्वतः सिद्ध तत्त्व ज्ञानो महर्षि भगवान् कपिलो द्वाविंशति सूत्राण्यु पादिक्षत्"
"सूत्र षडध्यायी तु वैश्वानरावतार महर्षि भगवान्कपिल प्रणीता"
(तत्व समास सूत्र सर्वोपकारिणी टीका भूमिका)

समास सूत्र और इस पर पन्चशिख की व्याख्या का अवलम्ब कर तत्व याथार्थ्य दीपन नाम की टीका करता हूँ।[1]

इसीलिए षडध्याय के सूत्र ग्रन्थ का उद्धरण देते हुए भी भावगणेश अपने तत्त्व समास सूत्र व्याख्या (तत्त्वयाथार्थ्यदीपन) में "सांख्य प्रवचन सूत्र" नाम से ही सर्वत्र सूत्रों का उल्लेख करते हैं—

"महदुपरागाद्वीपरीत मिति" सांख्य प्रवचन सूत्रात्। "श्री विज्ञान भिक्षु ने भी अपने सांख्य प्रवचन भाष्य में तत्त्व समास सूत्रों की गतार्थता की आशंका कर यह मतस्थिर किया है कि "तत्व समास सूत्र संक्षेप में सांख्य सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं, षडध्याय रूप सांख्य-दर्शन उसी का विस्तार पूर्वक वर्णन करते हैं इसी कारण यह दर्शन्त्रात्मक सूत्र ग्रंथ सांख्य प्रवचन नाम से कहा जाता है[2]

अपने प्रतिपाद्य विषय का प्रायः संक्षेप और विस्तार से वर्णन करने की प्रथा प्राचीन काल से ही विद्वानों तथा ऋषि, महर्षियों में चली आ रही है। आदि कवि वाल्मीकि ने अपने काव्य में वर्ण्यमान रामचरित को सर्वप्रथम नारद मुनि से पूछा तो उन्होंने सौ श्लोक में संक्षेप रूप से सम्पूर्ण रामायण की कथा सुना दी, जो कि मूल रामायण के नाम से प्रसिद्ध है। उस संक्षिप्त कथा के आधार पर वाल्मीकि मुनि ने जब रामायण की रचना की तो उन्होंने भी पहले अपने रामायण के बालकाण्ड के तीसरे सर्ग के १०वें श्लोक से सर्ग की समाप्ति तक सम्पूर्ण रामचरित को संक्षेप में ही कहा है। विद्वानों के पहले संक्षेप में फिर विस्तार से कहने के विषय में यह एक उक्ति भी व्याख्यानग्रन्थों में पाई जाती है—"इष्टं हि विदुषां लोके समास व्यासधारणम्"। समास (संक्षेप) और व्यास (विस्तार) से कहने की रीति स्मृतिकारों और व्याख्याकारों सभी में देखने में आती है। हारीत रचित हारीतस्मृति और वृद्धहारीत स्मृति दो स्मृतियाँ हैं। याज्ञवल्क्य स्मृति वृहद् याज्ञवल्क्य स्मृति, नारदस्मृति इत्यादि। इसी प्रकार टीकाकारों ने व्याकरणग्रंथों व्याख्याकार नागेश भट्ट ने लघु मंजूषा परमलघुमंजूषा, लघुशब्देन्दुशेखर, वृहच्छब्देन्दुशेखर आदि ग्रंथों को समास व्यास रूप में लिखा है। जैसे कि वरदाचार्य ने लघु कौमुदी, मध्य कौमदी और कौमदीसार ये ग्रंथ एक ही व्याकरण के विषय में विस्तार रूप में बनाए हैं।

इसी प्रकार महर्षि कपिल ने भी पहले संक्षेप में पुनः प्रवचन (विस्तार) के रूप में सांख्यसूत्रों का प्रणयन किया हो तो वह असम्भव या अप्रमाणिक नहीं हो सकता। ऊपर न्याय वार्तिक के उद्धरण से सिद्ध है कि न्यायवार्तिक से बहुत पहले ही सांख्य का सूत्रग्रंथ विद्यमान था। उद्योतकर वार्तिककार का समय षष्टशताब्दी है। आचार्य शंकर का

---

[1] "समास सूत्राव्यालम्व्य व्याख्यां पन्चशिखस्य च।
भावगणेशः कुरुते तत्वयाथार्थ्यं दीपनम्॥"

[2] "नन्वेवमपि तत्व समासांख्य सूत्रैः सहास्याः षडध्यायाः पौनरुक्त्यमितिचेन्मैवम्। संक्षेप विस्तार रूपेणोभयो रप्यपौनरुक्त्यात्। अत एव अस्याः षडध्याय्या योगदर्शनस्येव सांख्य प्रवचन संज्ञायुक्ता। तत्व समासांख्यं हि यत् संक्षिप्तं सांख्यदर्शनं तस्यैव प्रकर्षेणास्यां निर्वचनामिति।"

समय आठवीं शताब्दी माना जाता है। आचार्य शंकर से पूर्व सूत्रग्रंथ निश्चित रूप से था इसमें सन्देह को अवसर ही प्राप्त नहीं है। एक बात यह भी है कि स्वामी शंकराचार्य अपने शारीरिक भाष्य में सांख्यशास्त्र को प्रायः कपिल स्मृति के नाम से स्मरण करते हैं। वेदान्त सूत्र ग्रंथ के सांख्य शास्त्र २ अध्याय में (स्मृत्य नवकाश दोष प्रसंगः) इत्यादि सूत्र में स्मृति शब्द से स्मरण करते हैं। स्मृतियाँ जितनी भी हैं वे सब ग्रन्थ रूप से ही उपलब्ध हैं। कपिल की वह कौन सी स्मृति थी जिसका नाम निर्देश वेदान्त के सूत्र और भाष्यकार करते हैं। इस पर मानना पड़ेगा कि सांख्य सूत्र ग्रन्थ के अतिरिक्त और कोई कपिल स्मृति नहीं हो सकती। सांख्य के सम्पूर्ण विषयों का वर्णन भी सूत्र ग्रन्थ के अतिरिक्त कारिकादि किसी भी ग्रन्थ में देखने में नही आता। कारिका ग्रन्थ में तो सार और संक्षेप में ही सांख्य के सिद्धान्तों का वर्णन पाया जाता है, पूर्णतया नहीं। जैसे कि सांख्य कारिका में प्रकृति, अव्यक्त प्रधान तत्त्व का जगत् का मूल कारण व्यापक, नित्य इत्यादि स्वीकार किया गया है किन्तु प्रकृति का स्वरूप या लक्षण क्या है ? वह व्यापक कैसे है इत्यादि विषयों की स्पष्ट चर्चा नहीं की। सूत्र ग्रन्थ के सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः इत्यादि सूत्र में प्रकृति का स्वरूप स्पष्ट प्रतिपादित किया है "परिच्छिन्नंनसर्वोपादानम्" इस सूत्र में प्रकृति की सयुक्तिक विभुता सिद्ध की है। कारिका में भेदानां परिमाणाते" कह कर प्रकृति की विभुता किसी प्रकार झलकाई है एवं प्रकृतेर्विभुत्वयोगात सांख्य के मुख्य सिद्धान्त सत्कार्यवाद और पुरुष वहुत्व इस कारिका में भी कहा है। वाद में विपक्षियों के आक्षेपों का कुछ भी स्पष्ट उत्तर कारिका में नहीं दिया गया है किन्तु सूत्र ग्रंथ में पूर्णरूप से उत्तर मिलता है। एवं लिंग शरीर के परिसाण के वारे में कि वह अणु पारिमाण है या विभु या पञ्चम परिमाण है इत्यादि का कुछ भी वर्णन नहीं मिलता। एक काल और दिशाओं के वारे में कारिका में कुछ भी नहीं कहा है।

सूत्र ग्रन्थ ही इसका विचार रखता है। इस तरह सांख्य के आवश्यक अनेक ऐसे विषय जो कि सूत्र ग्रन्थ में ही वर्णित हैं, कारिका ग्रन्थ में नहीं। संक्षेप में उपर्युक्त विचारों के अनुसार यही सिद्ध होता है कि षडध्यायात्मक सूत्र ग्रन्थ अति प्राचीन कपिल मुनि कृत ही है।

हिन्दू विश्वविद्यालयमहाकाव्यम्

पं० मधुसूदन शास्त्री

अध्यक्ष—साहित्य विभाग संस्कृत महाविद्यालय

प्रणम्य पादं कुलदेवतायाः कल्याणमूलं बहुभिर्नुतायाः ।
कृपेष्ट गन्धेन समेऽनुकूला गीर्वाणभृंगाः प्रभवन्ति यस्याः ।।१।।

श्री बालकृष्णाख्यगुरोर्यथार्थविद्विद्यातपः सिद्धिसमेधमानात् ।
साहित्यविद्यामधिगम्य हृद्यां दध्यौ कथं स्यात्सफला ममेयम् ।।२।।

अथैकदाषाढवलक्षपक्षे क्षपाकरक्षान्ततमःसमूहा ।
गुरोः सपर्यातिथिपूर्णिमापद्विद्यार्थिसार्थे प्रथितप्रभावा ।।३।।

षड्प्रज्ञषड्दर्शनतत्वबोधे’ ख्यातो बिलासेन धियां सुधीर्यः
विद्यालये पूजयितुं तमेनं स्वधीतिनां मेलनमाबभूव ।।४।।

तदुत्सवप्राप्तजन व्रजेऽस्मिन् समाश्रयन् पीठवरं प्रधानम् ।
गुणर्द्धिवृद्धो गुरुबालकृष्णो भानां गणे चन्द्र इव व्यराजत् ।।५।।

षट्प्रज्ञमाराध्य कृतार्थभूतैर्यथार्हसंस्थानगतैः समस्तैः ।
विदिद्युते सा समितिः सुधर्मा यथामरैः, याग इवाग्रजैर्वा ।।६।।

समागतानां विदुषां परेषां निजोचितस्थाननिवेशनोर्ध्वम् ।
मया पुरोऽगादि गुरोर्विनीतं संक्षम्यतां चापलमार्यवृद्धैः ।।७।।

यस्योद्गमं छात्रहिताय सम्यक् चकार धीमान् ऋषि मालवीयः ।
तं विश्वविद्यालयमादिर्हिंदूं प्रवर्तते वर्णयितुं ममेच्छा ।।८।।

इहत्य सद्ग्रन्थनिकेतने स्याद्विज्ञैस्तु कैश्चिद्विहितो निवन्धः ।
यथापि हिन्द्यां, तमहं समीहे तथापि गीर्वाणगिरा विधातुम् ।।९।।

अगाध एष प्रततः पृथिव्यां श्रीमद्गुरो ! ते मयि राशिरोशीः ।
जागर्ति भावः चरणौ शरण्यौ विधाय पृच्छामि विनम्रभावात् ।।१०।।

कथं नु विद्यालयवर्णना स्यात् संतोषहेतुर्विदुषां च भूयात् ।
निबोधय ज्ञातविशेष ! मह्यं चिन्तामणिस्त्वं विदुषां कृतेऽसि ।।११।।

चातुर्यमाधुर्यधुराधिरूढं, साहित्यसौहित्यमिहाप्नुवन् सन् ।
तं वर्णयाम्याशु कलानिकेतं प्रज्ञानुसारं गुणधामधारम् ।।१२।।

एवंविधां सहृदयां विनतिं निशम्य क्षेमंकरो गुरुरुवाच गभीरवाचम् ।
प्रश्नः शुभोस्ति मधुसूदन शस्त्रविद्वन्! निर्णीयतां क्रमिकसंगतिमत्सुवृत्तम् ।।१३।।

प्रसंगलब्धं विदुषां चरित्रं सुवर्णय स्याच्च पवित्रिता वाक् ।
प्रकाशमीयाद्यदि तच्चरित्रमेधेत हर्षस्तवुरःस्थले नः ।।१४।।

चर्चां भवद्भिश्चरितां निषेव्य स्यात्सत्कृतार्थो गुणिवर्ग एषः ।
येऽन्ये भविष्यन्ति जनाः सुभक्ताः प्राप्स्यन्ति ते ज्ञानसुखार्थभक्तीः ।।१५।।

येषां कथायाः सुखमुद्धरं स्यात्सत्संगतेर्लब्धिरथापि भूयः ।
विद्यालयेऽस्मिन् गुरवो महान्तः सज्ज्ञानिनः प्रागभवन् सुकृत्याः ।।१६।।

तेषां चरित्रं शुभदं पवित्रं श्रोतुं समीहे समया समेतः ।
महात्मनां कश्चरितेषु तृप्येत् तच्छ्राव्यतां श्रीगणपः सहेतु ।।१७।।

ईर्यापथं प्राप्य समाधिकाले तद्ब्रह्म साक्षाद् दधते पुरा ये
तेषां विदां सच्चरितश्रवेच्छा जागर्त्ति चित्ते सफलां विधेहि ।।१८।।

महात्मनां सच्चरितं प्रमातुं शक्तो भवान् भक्त इति प्रसिद्धम्
प्रस्तूयतामत्र नियोजये त्वां सुवर्णयालंकृत भाषयेद्धम् ।।१९।।

एवं गुरोर्देशनया प्रवृत्तिर्ग्रन्थप्रकाशे दृढ़तामगच्छत् ।
तद्विश्वविद्यालय मादिहिन्दूं काव्यं विधातुं नियतः प्रवर्त्ते ।।२०।।

संस्थाप्य विद्यालयमत्र हिन्दूमानस्य सम्वर्द्धनहेतुमीड्यम् ।
महोपकारं कृतवान् स्वजातेर्देशस्य राष्ट्रस्य च तत्तदंशे ।।२१।।

अतः पुरस्ताद् यदुपज्ञमेषा प्रभूतभूतिर्विदुषां समाजे ।
तं मालवीयं विदुषां वरेण्यं सुवर्णये प्रांशु नुत प्रभावम् ।।२२।।

सानन्दं सुरभारतीयगणःपै, साशंकमिंग्लेडजैः
पुत्रैः सस्मितशं, शतैः सकरुणं विद्यार्थिभिर्दश्यते ।
धर्मश्चेति तपोधनै, र्नयमही राज्ञां व्रजैर्जीवनम् ।
विद्वद्भिः सुनिषेव्यते विजयतां श्रीमालवीयः प्रभुः ।।२३।।

विदुषामादरकरणादाश्रितभरणात्सुशिक्षणाद्विद्वान्
सर्वं समीहितदानाद्विश्वेशो यः प्रगीयते लोकैः ।।२४।।

त्रुट्यन्त्यां राजकोपात्कलुषितजनतादुर्विरोधादिदोषैः
कांग्रेसे लोकगोष्ठ्यां, निज भुज बलतो जीवदानं प्रदाय
भाषाधर्मादिभेदैर्यवनतदितरैः प्रिछन्नभिन्नां स्वकीयां ।
हिन्दूजातिं ग्रथित्वा, बहुविधकृतिभिः हिन्दूपर्षच्चकार ।।२५।।

तार्यं भुक्त्वा सुदुह्यो हृतनिज परकं तत्कुतो गोघ्नतेति ।
स्वीयं दुःखं प्रवक्तुं नयनजलततिं मूकतो वाहयित्वा ।
रम्भाशब्दं च कृत्वा निजगतिमधृतिं ज्ञापिकानां गवां च ।
रक्षायै मण्डलानि प्रतिजनपदकं निर्ममे भारतेऽस्मिन् ।।२६।।

अज्ञानध्वान्तराशेः प्रतिदिनमयतामाशुनाशं जनानाम् ।
वेदानां रक्षणार्थं सुदृढकविततं विश्वविद्यालयं च
सेवाभावस्य लोके यदि विततिततिर्जागृतिः प्रेम सद्यः ।
विश्वासः स्याच्च सेवासमितिमितिमथो बालसंघं सिषेध ।।२७।।

धर्मो रक्ष्यः सदायं विपुलमतिभिः रक्षितो रक्षतीति ।
लोकं तस्य प्रचारो भवतु च सभां पत्रमेकं वितेने ।
किं किं वा कल्पशाखिन् न न इह भवता साधितं विश्ववन्द्य !
दद्यः किं वा तदर्थं समधिगतसम ! स्वाशिषश्चान्तरीयाः ॥२८॥
विद्याक्षेत्रे सुसम्पन्ने समवेतैर्बभुत्सुभिः ।
विद्वद्भिश्छात्रवर्गैश्च सम्पाद्यं निर्मलं यशः ॥२९॥
दोषावेशविनिर्मुक्तैराप्यते तेज आन्तरम् ।
विद्याख्यं विपुलं तस्मात्त्याज्यो दोषः सुधीवरैः ॥३०॥
दोषज्ञ इति कोषेषु विदुषां नाम सञ्चितम्
न तु दोषपरीवार इति यस्य स्थिरा मतिः ॥३१॥
व्यजेष्ट सर् माल्कमहेलिनं यः
प्रान्तप्रभुं कौंसिलमेत्य वादे ।
समुत्सुकस्तत्समयाधिराजो
यद्वृत्तमाज्ञातुमथेहते स्म ॥३२॥
मेने यमात्मानमिवाथ सम्राट् ।
यद् व्याहरत्स्वागतमद्भुतं तत् ॥
तं मालवीयं विदुषां वरेण्यं
भजन्तु लोकाः सततं समन्तात् ॥३३॥
ज्ञानं यथा मदनमोहनमालवीये
नैवं तथास्ति जगति श्रुतनायकेषु ।
तेजः स्फुरन्मणिषु याति यथा महत्वं
नैवं तु काचशकले किरणाकुलेपि ॥३४॥
स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्
नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता ।
तारा दिशो दधति किन्तु जनप्रसिद्धिः
श्रीमालवीयवसतिर्विमले प्रयागे ॥३५॥
श्रौतं वर्त्म जगाहुषी, जगृहुषी सत्साक्षिणं साहुषी
शुद्धं तर्कमुपेयुषी विधिशिखां न्यायं शुभं दाशुषी ।
मर्यादामधिजग्मुषी, विविदुषी धर्मस्य मर्माखिलम्
विद्याधीश्वर ! शेमुषी क्वचन ते नापूपुवद्वैदुषीम् ॥३६॥
महामनोमालवीयं वर्णितुं यः समीहते ।
कथ्यतां, कांक्षति क्रष्टुं, भूस्थः स्वर्गद्रुमञ्जरीम् ॥३७॥
श्रीमालवीयविषये वितथं न किञ्चित्
यः शंकरोऽस्ति विबुधव्रजशंकरत्वात् ।
ब्रह्मास्ति वेदपदवीकविधेर्विधानात्
मर्त्यातिशायिगुणतः पुरुषोत्तमोऽपि ॥३८॥

कियन्ति वर्षाणि समत्यगुस्तं श्रीमालवीयं स्वविचारनिष्ठम् ।
विद्यालयस्थापनामाशु कुर्यां केन प्रकारेण कथं नु किम्वा ॥३९॥

जनं जनं प्रत्यपि तत्कथायाः प्रचार एवास्तु ततः कदाचित् ।
सिद्धिं समेयात् परमस्यवस्तु श्री मालवीयो हृदये दधार ॥४०॥

ततः पुरस्तात्तु महाजनेभ्यो जगाद भूयः स हि तन्मनस्कः ।
श्री विश्वविद्यालयमादिहिन्दूं संस्थापयिष्यामि विधत्त साह्यम् ॥४१॥

शृणोति कश्चित्, हसतीह कश्चित्ः स्वप्नो नु माया नु मतिभ्रमस्ते ।
प्रत्युत्तरं ते प्रददुः पुनस्तं, जनाननं कोऽवरुणद्धु दर्पात् ॥४२॥

आबाल वृद्ध वनितादिकसर्वलोकान्
स्वप्रीणयत् कथनमेतदुदारवृत्तम् ।
ग्रामे पुरे नरवरेषु नरेषु नार्याम्
पाठालयस्य समभून्महतीह चर्चा ॥४३॥

रत्नप्रभाभरितपाठनिकेतनोऽयं
रत्नप्रभामदनमोहनमालवीयः ।
रत्नप्रभूतविधिभिर्विविधैः सुकृत्यैः
रत्नप्रभूर्भवतु सोदय-वाक्यमेतत् ॥४४॥

हिन्दूविश्वादिविद्यालय इह महाकाव्यर्ये सुभव्ये ।
निर्माणीयक्रमेण प्रथम कथितः सर्गवर्गो व्यरंसीत् ।
काश्यां साहित्यभागे प्रथमपदगो विश्वविद्यालयेऽस्मिन्
राजस्थानी चिरावाभिजनकम* धूसूदनो यद्वितेने ॥४५॥

इति श्री मधुसूदन शास्त्रि कृतौ हिन्दू विश्वविद्यालये महाकाव्ये प्रथमः सर्गः समाप्तिमगमत ।

---

*टिप्पणी—हरिर्हरिप्रस्थमथमतस्थे । कृतवान् पंक्तिरथो विलंघ्य यदितिदिशा इन्द्रप्रस्थदशरथवन् मधुसूदनशब्दो योगरूढः। योगार्थवाधे मानाभावादतोऽन्ऽन्येयामपीति मधुपदे दीर्घः ।

व्यवहारेषु साक्षिणां स्वरूपम् ।

श्री विश्वनाथशास्त्री धर्माचार्यः

साक्षी च साक्षाद्दर्शनाच्छ्रवणाच्च भवति । स च द्विविधः कृतोऽकृतश्चेति । साक्षित्वेन निरूपितः कृतः, अनिरूपितोऽकृतः । तत्र कृतः पञ्चविधोऽकृतश्च षड्विध इत्येकादशविधः । यथाह नारदः—

लिखितः स्मारितश्चैव यदृच्छाभिज्ञ एव च ।
गूढश्चोत्तरसाक्षी च साक्षी पञ्चविधः स्मृतः ॥
ग्रामश्च प्राड्विवाकश्च राजा च व्यवहारिणाम् ।
कार्येष्वधिकृतो यः स्यादर्थिना प्रहितश्च यः ।
कुल्याः कुलविवादेषु विज्ञेयास्तेऽपि साक्षिणः ॥ इति

तेऽपि साक्षिणः कीदृशाः कियन्तश्च भवंतीत्यत आह याज्ञवल्क्यः—

तपस्विनो दानशीलाः कुलीनाः सत्यवादिनः ।
धर्मप्रधाना ऋजवः पुत्रवन्तो धनान्विताः ॥
त्र्यवराः साक्षिणो ज्ञेयाः श्रौतस्मार्तक्रियापराः ।
यथाजाति यथावर्णं सर्वे सर्वेषु वा स्मृताः ॥

तपस्विनस्तपःशीलाः । दानशीलाः दाननिरताः । कुलीना महाकुलप्रसूताः । सत्यवादिनः सत्यवदनशीलाः । धर्मप्रधानाः नार्थकामप्रधानाः । ऋजवोऽकुटिलाः । पुत्रवन्तो विद्यमानपुत्राः । धनान्विता वहुसुवर्णादि धनयुक्ताः । श्रौतस्मार्तक्रियापराः नित्यनैमित्तिकानुष्ठानरताः । एवंभूताः पुरुषाः त्र्यवराः (त्रयः अवराः अन्यूना येषां ते) भवन्ति । त्रिभ्योऽर्वाक् न भवन्ति, परतस्तु यथाकामं भवन्तीत्यर्थः । जातिमनतिक्रम्य यथाजाति । जातयो मूर्धावसिक्तादयोऽनुलोमजाः प्रतिलोमजाश्च । तत्र मूर्धावसिक्तानां त एव साक्षिणो भवन्ति । एवमम्वष्ठादिष्वपि द्रष्टव्यम् । वर्णमनतिक्रम्य यथावर्णम् । वर्णा ब्राह्मणादयः तत्र ब्राह्मणानां ब्राह्मण एवोक्तलक्षणा उक्तसंख्याकाः साक्षिणो भवंति । एवं क्षत्रियादिष्वपि द्रष्टव्यम् । यथा स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्रिय एव कुर्युः । सजातिसवर्णासम्भवे सर्वे मूर्धावसिक्तादयो ब्राह्मणादयश्च सर्वेषु मूर्धावसिक्तादिषु ब्राह्मणादिषु च यथासंभवं साक्षिणो भवन्ति ।

उक्तलक्षणानां साक्षिणामसंभवे प्रतिषेधरहितानामन्येषामपि साक्षित्वप्रतिपादनार्थमसाक्षिणो वक्तव्यास्ते च पञ्चविधा नारदेन दर्शिताः—

असाक्ष्यमपि हि शास्त्रेषु दृष्टः पञ्चविधो बुधैः ।
वचनाद्दोषतो भेदात् स्वयमुक्तेर्मृतान्तरे ॥ इति ।

तत्रवचनादसाक्षिणः— श्रोत्रियास्तापसा वृद्धा ये च प्रव्रजितादयः ।
असाक्षिणस्तेवचनान्नात्र हेतुरुदाहृतः ॥

तापसा वानप्रस्थाः । आदिशब्देन पित्रा विवदमानादीनां ग्रहणम् । यथाह शंखः—

पित्रा विवदमानगुरुकुलवासिपरिव्राजकवानप्रस्था निर्ग्रंथाश्चासाक्षिणः। दोषादसाक्षिणो दर्शिताः।

स्तेनाः साहसिकाश्चण्डाः कितवा वञ्चकास्तथा।
असाक्षिणस्ते दुष्टत्वात्तेषु सत्यं न विद्यते॥

भेदादसाक्षिणः— साक्षिणां लिखितानां च निर्दिष्टानां च वादिनाम्।
तेषामेकोऽन्यथावादी भेदात् सर्वे न साक्षिणः॥ इति।

तथा स्वयमुक्तिस्वरूपं चोक्तम्:—

स्वयमुक्तिरनिर्विष्टः स्वयमेवैत्य यो वदेत्।
सूचीत्युक्तः स शास्त्रेषु न स साक्षित्वमर्हति।

मृतान्तरस्य लक्षणम्:— योऽर्थः श्रावयितव्यः स्यात्तस्मिन्नसति चार्थिनि।
क्व तद्वदतु साक्षित्वमित्यसाक्षी मृतान्तरे॥ इति

येनार्थिना प्रत्यर्थिना साक्षिणां योऽर्थः श्रावयितव्यो भवेत् यूयमत्रार्थेसाक्षिण इति तस्मिन्नर्थिनि प्रत्यर्थिनि वा असति मृतेऽर्थे चानिवेदिते साक्षित्वं कस्मिन्नर्थे कस्य वा कृते साक्ष्यं वदंत्विति मृतान्तरः साक्षी न भवति। यत्र तु मुमूर्षुणा सुस्थेन वा पित्रा पुत्रादयः श्राविताः, अस्मिन्नर्थेऽमी साक्षिण इति तत्रमृतान्तरोऽपि साक्षी।

यथाह नारदः— मृतान्तरोऽर्थिनि प्रेते मुमूर्षुश्राविता दृते॥

तथा— श्रावितोऽनातुरेणापि यस्त्वर्थो धर्मसंहितः॥
मृतेऽपि तत्र साक्षात् स्यात् षट्सु चान्वाहितादिषु॥ इति

असाक्षिणो दर्शयति— स्त्रीबालवृद्धकितवः मत्तोन्मत्ताभिशस्तकाः।
रङ्गावतारि पाखण्डि कूटकृद्विकलेन्द्रियाः॥
पतिताप्तार्थसम्बन्धि सहायरिपुतस्कराः॥
साहसी दृष्टदोषश्च निर्धूताद्यास्त्वसाक्षिणः॥ योगीश्वरः

स्त्री प्रसिद्धा। वालोऽप्राप्तव्यवहारः। वृद्धोऽशीतिकावरः। कितवोऽक्षसेवी। मत्तः पानादिना। उन्मत्तो ग्रहाविष्टः। अभिशस्तोऽभियुक्तो ब्रह्महत्यादिना। रङ्गावतारी चारणः। पाखण्डिनो निर्ग्रन्थप्रभृतयः। कूटकृत् कपटलेख्यादिकारी। विकलेन्द्रियः श्रोत्रादिरहितः। पतितो ब्रह्महादिः। आप्तः सुहृत्। अर्थसम्बन्धी विप्रतिपद्यमानार्थसम्बन्धी। सहाय एककार्यः। रिपुः शत्रुः। तस्करः स्तेनः। साहसी स्वबलावष्टम्भकारी। दृष्टदोषो दृष्टवितथवचनः। निर्धूतो बन्धुभिस्त्यक्तः। आद्यशब्दादन्येषामपि स्मृत्यन्तरोक्तानां दोषादसाक्षिणां भेदादसाक्षिणां स्वयमुक्ते मृतान्तरस्य च ग्रहणम्। एते स्त्रीबालादयः साक्षिणो न भवन्ति॥

त्र्यवराः साक्षिणो ज्ञेया इत्यस्यापवादमाह:—

उभयानुमतः साक्षी भवत्येकोपि धर्मवित्।

ज्ञानपूर्वकं नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठायी धर्मवित् स एकोऽप्युभयानुमतश्चेत् साक्षीभवति। अपिशब्दबलाद्द्वावपि।

तपस्विनो दानशीला इत्यस्यापवादमाह :—

सर्वः साक्षी संग्रहणे चौर्यपारुष्यसाहसे ।

संग्रहणादिषु सर्वे वचननिषिद्धास्तपः प्रभृतिगुणरहिताश्च साक्षिणो भवन्ति ।

मनुष्यमारणं चौर्यं परदाराभिमर्शनम् ।
पारुष्यमुभयं चेति साहसं स्याच्चतुर्विधम् ॥

इतिवचनाद्यद्यपि स्त्रीसंग्रहणचौर्यपारुष्याणां साहसत्वं तथापि तेषां स्वबलावष्टम्भेन जनसमक्षं क्रियमाणानां साहसत्वम् । रहसि क्रियमाणानां तु संग्रहणादिशब्दवाच्यत्वमिति तेषां साहसात् पृथगुपादानम् ।

साक्षिश्रावणमाह याज्ञवल्क्य :—

साक्षिणः श्रावयेद्वादि प्रतिवादिसमीपगान् ।

अर्थिप्रत्यर्थिसन्निधौ साक्षिणः समवेतान् श्रावयेत् :—

देवब्राह्मणसान्निध्ये साक्ष्यं पृच्छेदृतं द्विजान् ।
उदङ्मुखान् प्राङ्मुखान् वा पूर्वाह्णे वै शुचिः शुचीन् ॥
आहूय साक्षिणः पृच्छेन्नियम्या शपथैर्भृशम् ।
समस्तान् विदिताचारान् विज्ञातार्थान् पृथक् पृथक् ॥

ब्राह्मणादिषु श्रावणे मनुना विशेषो दर्शितः—

सत्येन शापयेद्विप्रं क्षत्रियं वाहनायुधैः ।
गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः ॥

ब्राह्मणमन्यथाब्रुवतः सत्यं ते नश्यतीति शापयेत् । क्षत्रियं वाहनायुधानि तव विफलानि । गोबीजकाञ्चनादीनि तव विफलानि भविष्यन्तीति वैश्यम् । शूद्रमन्यथाब्रुवतस्तव सर्वाणि पातकानि भविष्यन्तीति शापयेत् ॥

याज्ञवल्क्यः— ये पातककृतां लोका महापातकिनां तथा ।
अग्निदानां च ये लोका ये च स्त्रीबालघातिनाम् ॥
स तान् सर्वानवाप्नोति यः साक्ष्यमनृतं वदेत् ।
सुकृतं यत्त्वया किञ्चिज्जन्मान्तरशतैः कृतम् ।
तत्सर्वं तस्य जानीहि यं पराजयसे वृथा ॥

मनुरपि:— जन्मप्रभृति यत् किञ्चित् पुण्यं भद्र त्वयाकृतम् ।
तत्ते सर्वं शुनो गच्छेद्यदि ब्रूयास्त्वमन्यथा ॥

एकोऽहमस्मीत्यात्मानं यत्त्वं कल्याण मन्यसे ।
नित्यं स्थितस्ते हृद्येषः पुण्यपापेक्षिता मुनिः ॥

यमो वैवस्वतो देवो यस्तवैष हृदिस्थितः ।
तेन चेदविवादस्ते मा गङ्गां मा कुरून् गमः ॥

नग्नो मुण्डः कपालेन भिक्षार्थी क्षुत् पिपासितः ।
अन्धः शत्रुकुलं गच्छेद्यः साक्ष्यमनृतं वदेत् ॥

अवाक्शिरास्तमस्यन्धे किल्बिषी नरकं व्रजेत् ।
यः प्रश्नं वितथं ब्रूयात्पृष्टः सन् धर्मनिश्चये ।।
अन्धोमत्स्यानिवाश्नाति स नरः कण्टकैः सह ।
यो भाषतेऽर्थवैकल्यमप्रत्यक्षं सभां गतः ।।
यस्य विद्वान् हि वदतः क्षेत्रज्ञो नाभिशङ्कते ।
तस्मान्न देवाः श्रेयांसं लोकेऽन्यं पुरुषं विदुः ।।
पञ्च पश्वनृते हन्ति दश हन्ति गवानृते ।
शतमश्वानृते हन्ति सहस्रं पुरुषानृते ।।
हन्ति जातानजातांश्च हिरण्यार्थेऽनृतं वदन् ।।
सर्वं भूम्यनृते हन्ति मा स्म भूम्यनृतंवदीः ।। ८।८९ इत्यादि

यदा तु श्राविताः साक्षिणः कथञ्चिन्न ब्रूयुस्तदाः—

अब्रुवन् हि नरः साक्ष्यमृणं स दशबन्धकम् ।
राज्ञा सर्वं प्रदाप्यः स्यात् षट्चत्वारिंशकेऽहनि ।।

यस्तु जानन्नपि साक्ष्यमेव नाङ्गीकरोति दौरात्म्यात्तं प्रत्याहः—

न ददाति हि यः साक्ष्यं जानन्नपि नराधमः ।
स कूटसाक्षिणां पापैस्तुल्यो दण्डेन चैव हि ।। इति ।

साक्षिविप्रतिपत्तौ निर्णयः—

द्वैधे बहूनां वचनं समेषु गुणिनां तथा ।
गुणिद्वैधे तु वचनं ग्राह्यं ये गुणवत्तमाः ।।

साक्षिणां द्वैधे विप्रतिपत्तौ बहूनां वचनं ग्राह्यम् । समेषु समसंख्येषु द्वैधे ये गुणिनः तेषां वचनं प्रमाणम् । यदा पुनर्गुणिनां विप्रतिपत्तिस्तदा ये गुणवत्तमाः श्रुताध्ययनतदर्थानुष्ठानधनपुत्रादिगुणसंपन्नास्तेषां वचनं ग्राह्यम् ।

उभयानुमतः साक्षी भवत्येकोऽपि धर्मविदिति गुणातिशयस्य मुख्यत्वात् गुणिनामेव वचनं ग्राह्यम् ।

ततः—

यस्योचुः साक्षिणः सत्यां प्रतिज्ञां स जयीभवेत् ।
अन्यथा वादिनो यस्य ध्रुवस्तस्य पराजयः ।।

यस्य वादिनः प्रतिज्ञां द्रव्यजातिसंख्यादिविशिष्टां साक्षिणः सत्यां वदन्ति सत्यमेवं जानीमो वयमिति स जयी भवति । यस्य पुनर्वादिनः प्रतिज्ञामन्यथा वैपरीत्येन मिथ्यैतदिति वदन्ति तस्य पराजयो ध्रुवो निश्चितः । यत्र तु प्रतिज्ञातार्थस्य विस्मरणादिना भावाभावौ साक्षिणो न प्रतिपादयन्ति तत्र प्रमाणान्तरेण निर्णयः कार्यः । राज्ञा स्वभावोक्तमेव वचनं ग्राह्यम् ।

स्वभावोक्तं वचस्तेषां ग्राह्यं यद्दोषवर्जितम् ।
उक्ते तु साक्षिणो राज्ञा न प्रष्टव्याः पुनः पुनः ।। इति ।

अस्यापवादमाह :—

उक्तेऽपि साक्षिभिः साक्ष्ये यद्यन्ये गुणवत्तमाः ।
द्विगुणा वान्यथा ब्रूयुः कूटाःस्युः पूर्वसाक्षिणः ।। याज्ञ० २-८०,

कूटसाक्षिणां दण्डमाह:—

पृथक् पृथक् दण्डनीयाः कूटकृत् साक्षिणस्तथा ।
विवादाद् द्विगुणं दण्डं विवास्यो ब्राह्मणः स्मृतः ॥ या० २-८१ इति

यत्र वर्णिनां शूद्रविट्क्षत्रविप्राणां सत्यवचनेन वधः संभाव्यते तत्र साक्षी अनृतं वदेत्, सत्यं न वदेत् । तथाहि :—

वर्णिनां हि वधो यत्र तत्र साक्ष्यनृतं वदेत् ।
तत्पावनाय निर्वाप्यश्चरुः सारस्वतो द्विजैः ॥ याज्ञ० २-८३

अनेन च सत्यवचनप्रतिषेधेन साक्षिणः पूर्वंप्रतिषिद्धमसत्यवचनं मवचनचाभ्यनुज्ञायते । तत्पावनाय अनृतवचनावचननिमित्त प्रत्यवायपरिहाराय सारस्वतश्चरुर्द्विजैरेकैकशो निर्वाप्यः ।

अयमभिप्राय :—

साक्षिणामनृतवचनमवचनं च यन्निषिद्धं तदिहाभ्यनुज्ञातम् ।

यत्तु—"नानृतंवदेत" "अब्रुवन् विब्रुवन्वापि नरो भवति किल्बिषी"ति च सामान्येनानृतवचनमवचनं च निषिद्धं तदतिक्रमनिमित्तमिदं प्रायश्चित्तम् ।

मनुनाऽपि शूद्रविट् क्षत्रविप्राणां यत्रर्तोक्तौ भवेद्वधः ।
तत्र वक्तव्यमनृतं तद्धि सत्यात् विशिष्यते ॥
अनृतस्यैनसस्तस्य कुर्वाणा निष्कृतिं पराम् ।
वाग्दैवत्यैश्च चरुभिर्यजेरंस्ते सरस्वतीम् ॥
कूष्माण्डैर्वाऽपिजुहुयाद् घृतमग्नौ यथाविधि ।
उदित्यृचा वा वारुण्या तृचैनाब्दैवतेन वा ॥ मनुः ८-१०४-१०६

वर्णिनां वधस्थलेऽसत्यवचनमभ्यनुज्ञातम् ।

तस्मात्— सत्यं साक्ष्ये ब्रुवन् साक्षी लोकानाप्नोतिपुष्कलान् ।
इह चानुत्तमां कीर्तिं वागेषा ब्रह्मपूजिता ॥
सत्येन पूयते साक्षी धर्मः सत्येन वर्धते ।
तस्मात् सत्यं हि वक्तव्यं सर्ववर्णेषु साक्षिभिः ॥

उक्ताभ्यनुज्ञातिरिक्तस्थलेषु साक्षिभिरवश्यं सत्यं वक्तव्यम् ।

। सत्यमेव जयते ।

प्राचीन कृषि-विज्ञान

केदारदत्त जोशी
प्राध्यापक ज्यौतिष विभाग, संस्कृत महाविद्यालय

आज का युग वैज्ञानिक युग के नाम से प्रसिद्धि पाचुका है। जीवन के हर पहलू में विज्ञान का समावेश हो चुका है। प्राचीन समय में विज्ञान का शाब्दिक अर्थ था विशिष्ट ज्ञान, उन दिनों विज्ञान शब्द अध्यात्मपरक माना जाता था। अन्य तरह की बुद्धि की उछल-कूद विभिन्न शास्त्रों की अपनी विद्या को आगे बढ़ाने में, उन्हीं में नए विचारों और नई शोधों तथा नए प्रयोगों के समावेश के लिए होती थी। बुद्धि की इतनी सारी दौड़ यूप-शास्त्र के रूप में ही व्यक्त होती थी। वैदिक काल से पौराणिक युग तक विज्ञान शब्द का व्यवहार प्रायः आध्यात्मिक ज्ञान के ही अर्थ में होता था। किन्तु आज हम विज्ञान शब्द का प्रयोग, यन्त्र सम्वन्धी, परमाणु सम्बन्धी, रसायन सम्वन्धी या जीव सम्बन्धी शारीरिक शल्य चिकित्सासम्बन्धी, अन्तरिक्ष, समुद्र, भूगर्भ, कृषि, वनस्पति सम्बन्धी आदि विषयों के लिए ही करते हैं। प्राचीन समय में इन सब विषयों का सुन्दरतम विकास हो चुका था किन्तु सर्वत्र यहाँ विज्ञान शब्द का व्यवहार नहीं होता था।

किन्तु आज के ज्ञान की विशिष्टता ने जिस किसी नवीन वस्तु को जन्म दिया उसे विज्ञान की बदौलत माना जाने लगा है। हिन्दू आस्तिक दर्शनों ने पुराण पुरुष को आदि पुरुष माना है साथ ही वहां पर पुरा+नव, पूर्व में भी नवीन आज भी नवीन ऐसे विचार से, "जिस पदार्थ का आज ज्ञान हुआ है वह नवीन है जो पहिले से ही था" ऐसे सनातन ज्ञान का नाम विज्ञान कहा है।

आस्तिक दर्शन "जीव मात्र में ज्ञान की सत्ता मानते हैं। तथा मानव जीव में, अन्य जीव मात्र की अपेक्षा विशेष ज्ञान या विशिष्ट ज्ञान या विज्ञान रहता है" कहते हैं। मानव की ज्ञान शक्ति या बुद्धि के सबसे सुन्दरतम हितकारी सृजनात्मक उपयोग का नाम ही विज्ञान है।

जीव मात्र के लिए एक समस्या है। यह समस्या उदरभरण की है, जो सर्वोपरि है और कठिन भी है। जीव को सन्तत इस उदर समस्या के हल की कठिनाई रहती आई है।

जहाँ कहीं उदर समस्या साधारणतया भी सुलझी हुई है, वहाँ शान्ति है, सुख है। जहाँ एक दिन की भी उदर समस्या चिन्तनीय है वहाँ की दुखद स्थिति का कटु अनुभव आज देश में प्रत्यक्ष है।

आज तो अपने जीवन पर्यन्त की, अपने कुटुम्ब के जीवन पर्यन्त की तथा आगे की आसन्न पीढ़ियों तक की उदर समस्या के हल के लिए जीवन निर्वाहोचित साधनों की चिन्ता में ही मानव मस्तिष्क उलझ गया है। सुदूर प्राक्काल में भी यह समस्या थी। उस समय का मानव खेती जैसे विज्ञान से परिचित नहीं था। उसकी आवश्यकताओं की

सन्तुष्टि वृक्षों से ही हो जाती थी। उनको निजी मकान या किराए में मकान नहीं लेना पड़ता था, वृक्ष ही उनके घर का काम दे देते थे। उस समय कृषि जैसी अपनी उपभोग की वस्तुओं से मानव अपरिचित था या रहा होगा। रसना (जिह्वा) या रासन प्रत्यक्ष ने उसकी खेती कर्म की प्रवृत्ति बढ़ी, उससे उसे सुख की अनुभूति होने लगी। वह कृषि करने के अच्छे साधन भी उपस्थित कर चुका था। धीरे-धीरे समय के वेग के साथ इस सर्वश्रेष्ठ सर्वोपरि जीवन के उपयोग के कृषिकर्म में आगे बढ़ने की मानव ने अच्छी चेष्टा की थी। इस क्रम में सफल होते हुए आज हमारे सामने कृषि के कुछ सरल सुख साधन मानव ने उपस्थित कर दिए हैं। कृषि के महत्वमय विज्ञान की खोज में आज का युग उत्तरोत्तर बढ़ रहा है। इस दिशा में आगे बढ़ने का एक मुख्य हेतु है जिसे जनसंख्या की उत्तरोत्तर वृद्धि कहा जा सकता है। कृषि की नवीन गवेषणाएँ भी इसी अनुपात से बढ़ रही है। तात्पर्य है कि यह गवेषणा अभी भी सीमित नहीं हुई। कोई भी विज्ञान सीमित नहीं है, किसी विज्ञान का अन्त समझना भी मानव बुद्धि से परे है तथापि प्राचीन कृषि विज्ञान की उपेक्षा उचित नहीं है। वह क्या थी इसका साधारण परिचय निम्न है जो कूर्म पुराण के पुष्प फल आदि वर्णन के अध्याय २९ में सम्यक् वर्णित है।

तस्यां सिद्धौ प्रनष्ठायामन्यासिद्धिरवर्त्तत। अपां सौख्ये प्रतिहिते तदा मेघात्मना तु वै ॥१९॥
मेघेभ्यस्तनुयित्नुभ्य प्रवृत्तं वृष्टिसर्जनम्। सकृदेव तया वृष्टचा संयुक्ते पृथिवीतले ॥
प्रादुरास तथा तासां वृक्षा वै गृहसंज्ञिताः। ततः कालेन महता तासामेव विपर्ययात् ॥
रागलोभात्मको भावस्तदा ह्याकस्मिकोऽभवत्। विपर्ययेण तासां तु तेन तत्कालभाविताः ॥
प्रणश्यन्ति ततः सर्वे वृक्षास्ते गृहसंज्ञिताः। ततस्तेषु प्रनष्टेषु विभ्रान्ता मैथुनोदभवाः ॥
अभिध्यायन्ति तां सिद्धिं सत्याभिध्यानतस्तदा। प्रादुर्बभूवुस्तासां तु वृक्षास्ते गृहसंज्ञिताः ॥
वस्त्राणि ते प्रसूयन्ते फलान्याभरणानि च। तेष्वेव जायते तासां गन्धवर्णरसान्वितम् ॥
अमासिकं महावीर्यं पुटके पुटके मधु। तेन ताः कर्त्तयन्ति स्म त्रेतायुगमखे प्रजाः ॥
हृष्टास्तुषा तया सिद्धया सर्वा वै विगतज्वराः। पुनः कालान्तरेणैव तनो लोभावृतास्तदा ॥
वृक्षास्तान् पर्यगृह्वन्त मधु वा माक्षिकं वलात्। तासां तेनापचारेण पुनः लोभकृतेन वै ॥
प्रनष्टा मधुना सार्धं कल्पवृक्षाः क्वचित् क्वचित्। शीतवर्षातपैस्तीव्रै स्तास्ततो दुःखिताभृशम् ॥
द्वन्दैस्सम्पीडचमानास्तु चक्रुरावणानि च। नष्टेषु मधुना सार्धं कल्पवृक्षेषु वै तदा।
ततः प्रादुरभूत्तासां सिद्धिस्त्रेतायुगे पुनः। वार्त्तायाः साधिका ह्यन्या वृष्टिस्तासान्निकामतः ।ः
तासां वृष्टचुदकानीह यानि निम्नै र्गतानि तु। अभवन् वृष्टिसन्तत्या स्रोतस्थानानि निम्नगाः ॥
यदा आपो बहुतरा आपन्ना पृथिवीतले अपां भूमेश्च संयोगादौषध्यस्तास्तदाऽभवन्
अफालकृष्टाश्चानुप्ता ग्रामारण्याश्चतुर्दश। ऋतुपुष्पफलैश्चैव वृक्षगुल्माश्च जज्ञिरे ॥
ततः प्रादुरभूत्तासां रागो लोभश्चानेकतः अवश्यम्भावितार्थेन त्रेतायुगवशेन वै
ततस्ताः पर्यगृहण्न्त नदीक्षेत्राणि पर्वतान्………………………

इसके पूर्व वेद काल में शतपथ श्रुति आख्यायिका का १ अ० २ ब्रा० ३ मंत्र ६।७ में व्रीहि यव दोनों की उत्पत्ति के विषय में—“स इमां पृथिवीं प्रविवेश तं खनन्तऽइवान्वीषुस्तमन्वविन्दस्ताविमौ व्रीहि यवौ”, तथा शुक्ल यजुर्वेद अ० १८ मं० १२ में “व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्चमे तिलाश्च मे मुदगाश्च मे…गोधूमाश्चमे मसूराश्चमे” इन द्वादश

धान्यों के नाम मिलते हैं। वैदिक समय से आज तक उक्त व्रीहि, जौ, उरद, तिल, मूग, गेहूँ मसूर, खल्वा प्रियंगु, नीवार इत्यादि अन्न, प्रजा पालन के मुख्य साधन हैं। वेदकाल में भी कृषि कर्म का प्रचलन था जो उक्त मन्त्रों से मालूम पड़ता है।

शीतवर्षा और आतप से अपनी रक्षा करने के लिए आदिम मानव वृक्षों के छाल के वस्त्र प्राप्त कर लेता था। उस समस्या को हल करने के लिए वृक्षों से फल उपलब्ध हो जाते थे। श्रृंगार और प्रसाधन के लिए आभरण भी वृक्षों से उपलब्ध हो जाते थे। उन्हीं वृक्षों में उन्हें हल करने के लिए वृक्षों से फल उपलब्ध हो जाते थे। शारीरिक पुष्टि एवं बल प्रदान करने वाला मधु भी प्राप्त हो जाता था। आदिम मानव की समस्त आवश्यकतापूर्ण करने के कारण वे वृक्ष कल्पवृक्ष कहे जाते थे। जाङ्गलिक अनेक कन्दमूल फल आदिकों से मानव जीवन की आवश्यकताओं की सफल पूर्त्ति हो जाती थी।

कालान्तर में उनमें रागद्वेष लोभ और अधिकार की भावना आ गई, उन्होंने उन प्राकृतिकदेन के वृक्षों पर अपना अधिकार जमाना चाहा। आदिम मानव के उक्त दोषों के कारण प्रकृति रुष्ट हो गई जिसका दुष्परिणाम होने लगा, वे कल्पवृक्ष धीरे-धीरे विनष्ट होने लगे। फलतः मानव की उदर समस्या फिर से जटिल हो गई। निःसंदेह मानव समाज दुःखी हो गया।

अन्ततः आदिम मानव समाज को अपनी त्रुटि के फल स्वरूप प्रकृति के रुष्ट हो जाने का ज्ञान हुआ। लोगों ने पारस्परिक सुलह से वार्त्ता को जन्म दिया। स्वाभाविकी सिद्धियाँ तो नष्ट हो ही चुकी थीं किन्तु वार्त्ता (शास्त्र वार्त्ता) के फल स्वरूप कर्मजा सिद्धि का आविर्भाव हुआ। मानव ने अपना प्राकृतिक उत्तरदायित्व निभाने में त्रुटि की। अवर्षण होने लगा। वृक्षों का अभाव हुआ, जिससे वृष्टि का भी अभाव होने लगा। जल समस्या चिन्तनीय हो गई। मानव के मस्तिष्क ने इस समस्या के हल के लिए कुछ प्रयत्न किए। जिस मानव के लिए माता प्रकृति ने विशाल नदी-नद, प्रपात, जलाशय दिए थे वे सूखने लगे। कूप, वापी और तड़ाग आदि के निर्माण से उक्त कमियों की पूर्त्ति की जाने लगी। आज भी अनेक स्थलों में, नहर पुल बाँध, जलस्रोत आदि से जल समस्या का हल प्रत्यक्ष देखा जा रहा है।

महाभारतकाल आज से लगभग ५००० वर्षों पूर्व भी कृषि कर्म प्रोत्साहन के मुख्य साधनों की ओर मानव पहुँचा था। मानवरूप में अवतरित कृषक श्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्ण ने इस दिशा में प्रगति की थी। रागद्वेष से अभिभूत मानव पृथिवी पर अपने एकाधिपत्य की ही चाह में तन्मय हो गया था। प्रजातन्त्र की मनोवृत्तियाँ कुण्ठित हो गई थीं। मानव ने मानव मर्यादा की उपेक्षा कर दी थी, प्रजा पीड़ित थी, प्रजा की अन्न आदिक समृद्धियाँ लुप्त होने लगीं। मानव की इस विकट समस्या का निराकरण किया जाने लगा। प्रजा पीड़क अवाञ्छनीय तत्वों को दूर करने का प्रयास होने लगा। धीरे-धीरे प्रजा की मानसिक पीडाएँ दूर होने लगीं धर्मराज्य की स्थापना हुई, राष्ट्र ने अन्न आदिक समृद्धियों के संवर्धन से राष्ट्रीय सम्पत्ति को पुनः अपने स्तर पर स्थापित किया।

इस स्थल पर श्रीमद्भागवत के श्रीकृष्ण चरित्र के वे अद्भुत कौशल अत्यन्त विचारणीय हैं। अन्न आदिक उत्पत्ति में, पृथिवी, जल, तेज वायु और आकाश इन पांचों तत्वों

की अपनी मात्रा का जब पूर्ण सहयोग रहता है तभी अच्छी अन्न की उपज से राष्ट्रीय सम्पत्ति परिपक्व होती है। यह निर्विवाद तत्थ्य है। दार्शनिक दृष्टिकोण से श्रीमद्भागवत और श्रीमद्भगवत गीता आदि श्रीकृष्ण चरित्र के प्रतीक ग्रन्थों की व्याख्या असीमित है किन्तु मैं यहाँ पर पाठकों के सामने एक विचारधारा उपस्थित करना आवश्यक समझता हूँ। उक्त पुराण और गीता तथा अन्यान्य सभी शास्त्रों का तत्व कृषि कर्म में निहित है।

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥ (गीता ३-१४)

हमारी जीवनोपयोगी अन्नादि सम्पत्ति प्रदान करने वाला परम कुशल कृषक कृषि यज्ञ करता है। कृषि के योगदान से वही सफल सिद्ध योगी है। श्रीकृष्ण ने यही स्वयं कृषि कर्म योग की शिक्षा दीक्षा से प्रजा को बोधित किया। तभी तो—

पूतना, शकटासुर, कालिय, दावानल, व्योमासुर आदिकों का वध या इस सम्बन्ध की श्रीमद्भागवत की और भी कथाओं का प्रतीक, कृषि कर्म की सफलता में अवाञ्छनीय पृथ्वी जल तेज, वायु और आकाश तत्वों का संशोधन के रूप में भगवान् वेदव्यास ने वताया है।

इस आशय को श्रीमद्भागवतपुराण के विशेषज्ञ स्वामी अखण्डानन्द जी ने भी स्वीकार किया है—जैसे—卐

"कृष्ण नाम का अर्थ भी यही है। भू का स्वामी कौन ? कि कृष्ण (कृषक) कृष्णायुक्त। जो खेती करै सो धरती का मालिक। तो कृष्ण भूपति असल में भगवान् हैं। और लक्ष्मीपति भगवान् हैं। चल सम्पत्ति के स्वामी भी भगवान् हैं। सेठ नहीं। और धरती का स्वामी भी जमीदार नहीं किसान कृष्ण है। जोतता है धरती कृषति तो पति का सर्वाङ्ग स्पर्श पत्नी को प्राप्त होना चाहिए।

(१) भगवान् ने मृदु भक्षण मट्टी खाने से पृथिवी का शोधन (पार्थिव तत्व) किया।
(२) कालिय नाग आदि के विस्तार द्वारा जल का शोध कर दिया।
(३) दावानल पान से अग्नि का शोधन कर दिया।
(४) तृणावर्त्त आदि के वध के द्वारा वायु का शोधन कर लिया।
(५) व्योमासुर के वध के द्वारा आकाश का शोधन कर लिया।

(श्रीमद्भागवत व्याख्यानमाला, स्वामी अखण्डानन्द जी, मालवीय-भवन (७-१७-६३)

कृषि क्रिया में ज्योतिष शास्त्र के निर्देश

प्रान्तच्छाया विनिर्मुक्ता न मनोज्ञा जलाशयाः यस्मादतो जल प्रान्तेष्वारामान् विनिवेशयेत् ॥१॥
मृद्वी भूः सर्बवृक्षाणां हिता तस्यां तिलान्वपेत् पुष्पितांस्ताश्चमृद्नीयात् कर्मैतत्प्रथमं भुवः ॥२॥
अरिष्टाशोकपुन्नागशिरीषाः सप्रियङ्गवः मङ्गल्याः पूर्वमारामे रोपणीया गृहेषु वा ॥३॥
पनसाशोककदली जम्बूलकुच दाडिमाः द्राक्षापालीवताश्चैव बीजपूरातिमुक्तकाः :॥४॥
एते द्रुमाः काण्डरोपा गोमयेन प्रलेपिताः मूलोच्छेदेऽथवा स्कन्धे रोपणीयाः परन्ततः ॥५॥

अजातशाखान् शिशिरे जातशाखान् हिमागमे वर्षागमे च सुस्कन्धान् यथादिक्स्थाप्ररोपयेत् ।।६।।
आमूलस्कन्धलिप्तानां सङ्क्रामणविरोपणम्
घृतोक्षीरतिलोक्षौद्र विडंगक्षीरगोमयैः ।।७।।
शुचिर्भूत्वातरोर्पूजा कृत्वा स्नानानुलेपनैः रोपयेद्रोपितश्चैव पत्रैस्तैरेव जायते ।।८।।
जम्बूवेतसवानीरकदम्बोदुम्बरार्जुनाः···तिमिरोडम्नातकश्चेति षोडशानूपजाः स्मृताः ।।९।।
शीतवातापैः रोगो जायते पाण्डुपत्रता अवृद्धिश्चप्रवालानां शाखाशोषो रसस्रुतिः ।
अविकाजशकृच्चूर्णस्याढके द्वे तिलाढकम्······
वासराणि दश दुग्धभावितं बीजमाज्ययुतहस्त योजितम्
गोमयेन बहुशो विरूक्षितं क्रौडमार्गपिशितैश्च धूपितम् ।।१९।।
मांससूकरवसासमन्वितम् रोपितं च परिकर्मितावनौ ।
क्षीरसंयुतजलावसेचितं जायते कुसुमयुक्तमेव तत्
तिन्तिडीत्यपि करोति वल्लरीं व्रीहिमाषतिलचूर्णसक्तुभिः
पूतिमांससहितैश्चसेचिता धूपिता च सततं हरिद्रया ।।२१।।
कपित्थवल्लीकरणाय······································· ।।२२-२७।।
वापितं करकोन्मिश्रमृदि तत्क्षणजन्मकम् फलभारान्विता शाखा भवतीति किमद्भुतम् ।। २८-२९-३०।।
ध्रुवमृदुमूलविशाखागुरुभं श्रवणस्तथाश्विनीहस्तः ।
उक्तानि दिव्यदृग्भिः पादसंरोपणे भानि ।।३१।।

कृषि सम्वर्धन में ज्योतिश्शास्त्र का भी योगदान है।

ईसवी पञ्चम शतक में समग्र ज्योतिर्विदों में शिरोमणि, ज्योतिर्विद्या के सूर्य, वराहमिहिर इस भारत वसुन्धरा में अवतरित हुए थे। आज तक इस कोटि का त्रिस्कन्धज्ञ ज्योतिर्वेत्ता नहीं सुना गया। आचार्य सर्वशास्त्रज्ञ थे। वे ऊँचे स्तर के वैज्ञानिक थे। उन्होंने वृक्षायुर्वेद नाम का एक अध्याय भी अपनी वाराही संहिता में दिया है। उनका कहना है कि—

(१) वापी कूप तडाग आदि जलाशयों के प्रान्तों में सघन छाया वाले वृक्ष होने चाहिए।

(२) बगीचा लगाने वाली भूमि कोमल होनी चाहिए। उस भूमि में तिल बोए जाएँ, जब वे फूलने फलने लगें तो उसका उसी भूमि में मर्दित कर भूमि का संस्कार किया जाय।

(३) सर्वप्रथम बगीचों में नीव, अशोक पुन्नाग शिरीष ककुनी के वृक्ष लगाने चाहिए।

(४) कलमी वृक्षों में कटहल, अशोक, केला, जामुन, बड़हर, दाडिम, दाख, बिजौरा और अतिमुक्तक इन वृक्षों की शाखाओं को लेकर गोबर से लीपकर कटे हुए विजातीय वृक्ष की जड़ या शाखा पर लगाना चाहिए।

एक से दूसरे स्थान पर रोपना—

घी, खस, तिल, शहद, वायविडंग, दूध, और गोबर को पीसकर मूल से लेकर अग्र पर्यन्त लेप कर वृक्ष को एक स्थान से लेकर दूसरे स्थान में लगाना चाहिए। पूजन पूर्वक यह कार्य होना चाहिए। सायं प्रातः उन्हें जल से सींचना चाहिए।

जल परीक्षा—जहां पर स्वभावतः जामुन, वेत, कदम्ब, गूलर, अर्जुन, बिजौरा, वरहर आदि के वृक्ष उगे वहाँ पर नीचे जल होता है।

वृक्ष आरोपण क्रम

प्रत्येक वृक्ष से दूसरा वृक्ष बीस हाथ की दूरी=१० गज=३० फीट या २४ फीट कम से कम १२ फीट होनी चाहिए। आसन्न दो वृक्षों की जड़ें आपस में फँस जाती हैं। जहाँ तक हो एक दूसरे को अधिक अलग रखना चाहिए।

वृक्षों के रोग तथा उनकी शल्य चिकित्सा

वृक्षों को अधिक शीत वात और धूप से पीलापन, पत्तियों का झड़ना आदि रोग हो जाते हैं। उनकी चिकित्सा यह है कि जिस वृक्ष की जो डाल रुग्ण होती है उसे काट कर घी और वायडिंग का वहाँ लेप करना चाहिए। यदि वृक्षों में फल न लगें तो कुलथी उरद मूग तिल जौ को दूध में औटा कर उस क्वाथ को ठंढा करके उससे सींचना चाहिए।

वृक्षों की सुन्दर नस्ल के लिए घी में मिलाकर दूध में डालकर १० दिन तक रखते हुए गोबर मिलाकर सूकर एवं हिरण के मांस का धूप देकर उन्हें बोया जाय।

बीजों को शीघ्र उगाने के लिए सड़ामांसयुक्त धान्य, उरद, तिल, इत्यादि इनका चूर्ण सत्तू से सींच कर हल्दी की धूप देनी चाहिए इससे कठोर से कठोर इमली के जैसे बीज भी शीघ्र उगने लगते हैं।

वृक्षों के आरोपण काल

वृक्षों की ऋतु के अनुसार, उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढ़ा, उत्तराभाद्रपद रोहिणी मृगशिरा स्वाति चित्रा अनुराधा मूल विशाखा पुष्य श्रवण आश्विनी हस्त ये नक्षत्र दिव्य दृष्टि के त्रिकालज्ञ मुनियों ने वृक्षारोपण में उत्तम बताए हैं।

इसी प्रकार, अनुराधा, विशाखा मूल चित्रा अनुराधा रेवती, मृग, रोहिणी तीनों उत्तरा, शततारा, आश्विनी, आभिजित्, पुष्य, इन नक्षत्रों में अनेक प्रकार की लताओं और वृक्षों का आरोपण शुभ कहा गया है।

"राधामूल$_२$मृदु$_२$ध्रुवर्क्ष$_२$ वरुणक्षिप्रैर्लतापादपारोपोऽथ" मुहूर्त्त चिन्तामणि नक्षत्र प्रकरण—१३

वर्ष की आरम्भ की खेती के लिए, मूल मघा विशाखा, उत्तरा ३ इत्यादि २१ नक्षत्रों में किसान को खेती में हल चलाने का कार्य प्रारम्भ करना चाहिए।

इष्ट पुष्ट प्रसन्न एवं स्वस्थ एवं बैलों से की गई खेती सफल होती है। नीरोग और पीडा रहित बैलों का ही कृषि कर्म के लिए उपयोग ठीक होगा।

"नीरोगाः पीडारहिताः ये मुस्का वृषणास्तेरन्विता ये सौरभेया वृषास्तैः
हलप्रवाहं प्रथमं विदध्यात्" इति (पीयूषधारायाम्)

श्रवण, शततारा, पुनर्वसु, विशाखा, रहित उक्त नक्षत्रों में बीज वपन--करने से धान्य सम्पत्ति स्वर्ण सम्पत्ति होती है। और भी यदि प्राचीन कृषि वैज्ञानिकों के कृषि अनुसन्धान के उत्तम मुहूर्त्तों के अनुसार यदि आज का कृषि विज्ञान सहयोग करे तो अधिक सम्भव है कि राष्ट्र की खाद्य समस्या चिन्तनीय नहीं होगी।

प्राचीनों ने, कुछ निषिद्ध समय ऐसे भी बताए हैं जिनमें खेती करने से अन्नक्षय, पीडा, पशुनाश, जलभय, हलक्षय, धान्यक्षय, चौर भय, और नाना विध कीटों से फसल को हानि आदि की स्थितियाँ भी होती हैं। तथा कृषि क्रिया में लक्ष्मी प्राप्ति सौख्य, शस्य वृद्धि होने वाली कृषि क्रिया के उत्तम शुभ समय की स्थितियों से लोक को अवगत कराया है।

वसिष्ठः—**"अर्कगतागतसंस्थं भत्रितयं नेष्टमुभयतस्त्विष्टम्।**
षोडशधिष्ण्यं नवकं शिष्टमनिष्टं च लाङ्गले चक्रे" ॥
मुहूर्त्त चि० प्रक० २ श्लो० २९ ॥

इस प्रकार प्रकृति और मानव का कृषि रचना में पूर्ण सहयोग होता जाय तो अधिक सम्भव है कि मानव मात्र की सभी आवश्यकताओं की अच्छी पूर्ति हो सकेगी। इससे मानव में शान्ति एवं मानव के आश्रित जीव को भी सुख शान्ति मिलेगी।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालयं नाटकम्

पं० मधुसूदन शास्त्री

श्यामं शुभं स्वकुलदैवतमिद्धदीप्त्या
संभासयन्तमखिलान् समुपासकान् स्वान् ।
उत्त्रास्य तं कलुषसंघमिहोपदेशैः
वन्दे जगन्नटनसूत्रधरं महेशम्

नान्द्यन्ते ।

सूत्रधारः—मारिष ? सम्पन्नं रङ्गमंगलम् । श्रूयताम् । हिन्दू विश्वविद्यालय स्वर्णजयन्तोमहोत्सवप्रसंगेऽस्मिन् अन्तरराष्ट्रीयभिन्नभूमिकानिवासिनो जनाः समवायन् । समेषामेषां साक्षात्कारः, विशेषतश्च वर्तमान दी० सी० डा० त्रिगुणसेन महोदयानां सान्निध्यं सुरगवीसमुपासकानां काशिवासिनामस्माकमकस्मादजनि सुधाकादम्बिनीकरम्बसम्बन्धः । किमनल्प जल्पनया निःशेषमहोदयानां भूमिमध्यास्महे ।

यो हि—

त्यागी धर्मधनः सदाशययुतो विद्वत्प्रियः कीर्तिमान्
सन्मार्गानुगतः शुचिर्दृढमतिर्मानी व्रती नीतिमान् ।
शौर्योदार्यविवेकयुक् विमलहिन्दूविश्वविद्यालये,
डाक्टर सेनमहोदयस्त्रिगुणसो वी० सी० पदे राजते ।

अभिरूपभूयसी परिषदियं समादिशति । यदद्य हिन्दू विश्वविद्यालयमेकांकि रूपकमभिनयनीयमिति ।

यत्र हि

शिष्येभ्यः सकलां कलां भणितिषु प्रौढिं परां शिक्षयन्
सत्कुर्वन् पदसम्पदः, परिचयं चिन्वन् ध्वनेरध्वनि ।
संधत्ते मधुसूदनः कृतिवरो वाचस्पतित्वं ध्रुवम्
नाटयं दृश्यगुणोदयं वितनितुं स्वार्णे जयन्तीमहे
ततेऽत्र समन्तरकरणीयं समाश्रयन्तु रता

मारिषः—भाव !

यामिमां सदभिरूपभूयसीं पारिषद्यजनतां प्रसादितुम्
प्रेरितोऽहमधुना भवादृशा मोमुदीमि परिचर्ययानया ।

तस्मादेवमत्र भावुकान् अभ्यर्थये ।

(श्रुतिमभिनीय)

अये ! मयि अभ्यर्थनासंलग्ने ध्वनिरिव अनुभूयते ।

किमेतत् ।

(नेपथ्ये)

एनीविसेण्ट ! मिथिलेश ! शिवप्रसाद !
श्रृण्वन्तु भो मम मनस्युदितं विचारम्
कं च प्रकारमनुधार्य कथं नु किं वा
विद्यालयस्य सुविधानमिहाशु कुर्याम् ।

सूत्रधारः=आं ज्ञातम् ।

एनीविसेण्ट-मिथिलेश-शिवप्रसादैः
साकं विचारसणौ स्थितिकार्यसाह्ये
विद्यालयं समधिकृत्य यतः समेति
श्रीमानयं मदनमोहनमालवीयः ।

(निष्कान्तौ)

(ततः प्रविशति एनीविसेण्टमिथिलेशशिवप्रसादैः सह महामना मालवीयः)

महामनाः=राजन् ! मिथिलेश ! नाविदितमेतत् केषामपि ।

यदद्य अभितो जनाः क्लेशनिमग्नाः वुभुक्षया क्षीणकायाः श्वसितुमपि निःसहा दरीदृश्यन्ते । यतः कुतोऽपि कोऽपि बर्बरः समायाति अस्मान् तर्जयति भर्त्संयति ह्लेपयति च । यवनाः समायाताः । आंग्लाः सम्पतिताः । सर्वं राष्ट्रमाकुलीकृतम् । संस्काराः सर्वे लुप्ताः

भ्राता भ्रातरं, पुत्रः पितरम्, पत्नीः स्वपतिं, पतिः पत्नीं, शिष्यः गुरुं तर्जयन्, भर्त्संयन् ह्लेपयन्, समवलोक्यते । काऽपि मर्यादा नास्ति । हा हन्त ! किमिदम् । वेदाः क्रन्दन्ति अस्मान् रक्षत रक्षत यूयम् । स्मृतयः समाक्रोशन्ति प्रणिधत्त २ साम्प्रतम् । सदाचारो विकलविकलः सन् निष्प्राणिति । यस्मै योहि प्रियः स तथैव स्वेच्छम् विहरति, यथेच्छं भुंक्ते । नास्ति कोऽपि कस्यापि नियामकः । अतः प्रजानां बुद्धेः शोधनं विधेयम् । तदर्थं किं कुर्याम् । (विचिन्त्य)

इमामुर्वी नाजयद्विक्रमेण देवश्रेष्ठः सासुरामादिदेवः ।
चातुर्वर्ण्यं चातुराश्रम्यधर्माः सर्वे न स्युर्ब्राह्मणानां विनाशान् ।

तस्माद् ब्राह्मण्यं सुरक्षणीयम् । तस्मिन् सुरक्षिते सर्वं सुरक्षितं स्यात् । प्रधाने हि कृतो यत्नः फलवान् भवतीति न्यायात् । एभिरेव ब्राह्मणैः धनलिप्सां विहाय, राज्य लोलुपत्वं तिरस्कृत्य, स्वेन्द्रियाणां विषयास्वादमोहं हापयित्वा सांगाः साहस्याः वेदाः स्वात्मनि धारिताः । तेषां रक्षा सर्वप्रथमं विधेया । वैदिकस्य हि धर्मस्य लुप्तप्रायत्वे एव इमां कष्टात् कष्टतरां दशामापन्नं राष्ट्रम् । अतः परं किं शोचनीयं स्यात्, किं वा लज्जास्पदं स्यात् । यस्य भारतस्य वर्षस्य=

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ।
इत्येवं महान् समुद्घोष आसीत् ।

तस्य देशस्य इमे लोकाः शिक्षां ग्रहीतुं लन्दनबर्लिनपेरिसान् बाह्यान् देशान् समाश्रयन्ते सखेदमाश्चर्यम् । यत्र पूर्वं नालन्दा, विक्रमशिला, तक्षशिला, नदिया, धारप्रभृतयः कियन्तो विश्वविद्यालया आसन् । हा हन्तः नैकोऽपि साम्प्रतम् तादृशः । अतः

अज्ञानध्वान्तराशेः प्रतिदिनमयतामाशुनाशं जनानां
वेदानां रक्षणार्थं सुदृढकविततं विश्वविद्यालयं तम्
संस्थाप्यैव प्रसिध्येन् मम हृदयगतो भाववर्गः समस्तः ।
किं वा कुर्यां तदर्थं धननयनकृते स्वाशयः काशनीयः ।
भाषाधर्मादिभेदैर्यवनतदितरै च्छिन्नभिन्ना स्वकीया
हिन्दूजातिर्ग्रथीया लहुविध कृतिभिः स्वाभिमाने सुशिक्ष्या ।
तस्माद्देशस्य राष्ट्रस्य च विकसितिः संस्कृतेः सभ्यतायाः ।
दुःखानां संवृतिः स्यादधिविधि जगति प्रेम विश्वास आस्ताम् ।
तस्मात् हिन्दू विश्वविद्यालयस्थापनं विधेयम् ।

इह निवसन्ती छात्राणां दशसाहस्त्री प्रत्यहं प्रत्यूषसि गंगातीरे स्नानं विधाय पंक्तिशः समुत्तिष्ठन्ती सन्ध्यावन्दनवेलायां सूर्याय अर्घ्यं प्रदास्यति । भगवान् सहस्रदीधितिः प्रसन्नः सन् स्वयं प्रादुर्भूय तमर्घ्यं ग्रहीष्यति । अनेन वैदिको धर्मः सुप्रष्ठितो भावी । छात्रेभ्यः साङ्गाः सरहस्याः चत्वारो वेदाः स्मृतयः धर्मशास्त्रं सदाचार इत्यादि वैदिकं साहित्यं, लौकिकं साहित्यं यन्त्रादिकं च शिक्षणीयमिति । तेन बुद्धेः शोधनं स्यात् ।

मिथिलेशः = भगवन् मालवीय ?

संस्थाप्य विद्यालयमेव हिन्दूमानस्य संवर्द्धनहेतुमीडयम् ।
महोपकारी स भवान् भवेद्यत् तदर्थमाराधयते धनाढयान् ।

द्वाः स्थः = एषो हि काशिराज- भवन्तं दिदृक्षते ।

महामना मालवीयः = (त्वरितं प्रवेशयः,) ततः प्रविशति काशिराजः प्रभुनारायणसिंहमहाशयः ।

द्वास्थः = इत इत : काशिराज !

काशिराजः = भगवन् मालवीयं ! श्रीमतो रमेश्वरसिंहमिथिलेशस्य मुखात् भवतां हिन्दूविश्वविद्यालयस्थापनाचिकीर्षां श्रुत्वा स्वान्तं नितान्तं सन्तुष्यति ।

महामना मालवीयः = राजन् ! भवादृशामेव सहयोगबलेन एतत् सुसम्पन्नं स्यात् ।

काशिराजः = भगवन् मालवीय ?

आज्ञापय ज्ञातविशेष मह्यं मदीयसाध्यं नु किमस्ति तेऽत्र ।
निवेदये त्वां प्रकृतं समस्तं विद्धीह सिद्धं, न हि मे बिलम्बः ।

महामना मालवीयः = राजन् । हिन्दू विश्वविद्यालयनिर्माणार्थं भूमेः समधिकाऽऽवश्यकता ।
काशिराजः = भगवन् मालवीय !

अनुग्रहोऽयं भवता विधीयते मदीयभूक्तिः सुकृते ! कृते ते ।
गृहाण भूमिं स्वविदोऽनुरूपां न मेऽत्र कोऽपि प्रतिषेधभावः ।

इति भूमेर्निर्देशप्रतिग्रहौ भवतः। (मालवीयः, मिथिलेशः एनीविसेण्टः, काशिराजः, शिवप्रसादगुप्तश्च समेताः परामृशन्ति।)

शिवप्रसादः=तात ?

आबालवृद्धवनितादिकसर्वलोकान् स्वप्रीणयत् प्रथितिरेतदुदारवृत्ता।
ग्रामे पुरे नरवरेषु नरेषु नार्यां पाठालयस्य समभून्महतीह चर्चा।

एनीविसेण्टः=भगवन् मालवीय ! मदीयोऽयं कमच्छास्थः सेण्ट्रल हिन्दू कालेजः श्रीमते समर्प्यते। एतदनुषक्तं हिन्दू विश्व विद्यालय निर्मिति योजनासहितं कोषादिकं यत्किमप्यस्ति तदनुगृह्यताम्।

महामना मालवीयः=तथास्तु भवति !

(इति तया समर्प्यमाणानि इष्टिमेतानि पत्राणि मालवीयमहोदयो गृह्णाति।)

मिथिलेशः=भगवन् मालवीय ! मदीयाऽपि एका या योजना हिन्दू विश्वविद्यालयं स्थापयितुमस्ति सा, इदमेकलक्षपरिमितं धनञ्च मया भवते समर्प्यते।

महामना मालवीयः=राजन् ? अस्तु श्रीः (इति मिथिलेशेन समर्प्यमाणानि इष्टिमेतानि पत्राणि धनं च महामना मालवीयो गृह्णाति)।

मिथिलेशः=भगवन् मालवीय ? एका हिन्दूविश्वविद्यालयसमितिः निर्माणीया। तत्रैको मन्त्री सभापतिश्च भवताम्। अन्ये बहवः सदस्याः भवन्तु। अत्र जातं वृत्तमेतत्सर्वं पत्रारुढं च भवतु।

काशिराजः=अहमेतं प्रस्तावमनुमोदे।

एनीविसेण्टः=अहमेनं प्रस्तावं समर्थये।

(शिवप्रसादः सर्वं पत्रारुढं करोति। तस्मिन्नेवावसरे द्वाः स्थः आगत्य निवेदयते)।

भर्त्तः ! सर सुन्दरलालमहोदयः, बाबू गंगा प्रसाद वर्मा च समायातौ।

महामना मालवीयः=त्वरितं प्रवेशय।

द्वास्थः=इत इतो महाशयौ आगच्छतः। (सर्वे समुत्तिष्ठन्ति)।

महामना मालवीयः=(अग्रेसरो भूत्वा) स्वागतं भवतोः व्याहरामः। स्वर्णिलोऽयं समयः।

अव्याक्षेपो भविष्यत्याः कार्यसिद्धेर्हि लक्षणम्। समागच्छताम्। समुपविशताञ्च।

(इति सर्वे यथासनं समुपविशन्ति।)

महामना मालवीयः=अयं मिथिलेश ! अयं काशिराजः। इयं एनीविसेण्ट महाशया। अयं शिवप्रसादगुप्तः। इमे सर सुन्दरलालमहोदया मम आदरणीयमित्राणि। अयं मम बालसखा बाबू गंगाप्रसाद वर्मा (इति परिचयं ददाति।)

परिचयोत्तरम्=इदानीं हिन्दूविश्वविद्यालयसमितेनिर्माणं प्रस्तुतं वर्तते। तत्र मदीया प्रार्थना भगवन् ! सर सुन्दरलाल शर्मन् भवानत्र मन्त्रिपदं गृह्णातु।

काशिराजादयः=सर्वे वयं सप्रमोदमनुमोदामहे।

बाबूगंगाप्रसादः=अहं सहर्षं समर्थये।

सरसुन्दरलालः=पूर्वं निबोधत। कीदृशी व्यवस्था, किं करणीयं, किं सम्पन्नम्।

महामना मालवीयः=पूर्वं वृत्तं सर्वं पत्रारूढं तस्मै दर्शयते।

सरसुन्दरलालः=अहो महत्सौभाग्यं, मया मन्त्रिपदं स्वीक्रियते। अथ लक्षमेकं धनं च समर्प्यते।

(सर्वे साश्चर्या समनुगृह्णन्तो हर्षवर्षप्रकर्षमग्नाः समभूवन्। शिवप्रसादः पत्रारूढं तत्करोति।)

मिथिलेशः=अतः परं हिन्दूविश्वविद्यालय समिते राजसत्वं विधेयम्। एतस्य शिलान्यासार्थं वर्तमान वाइसरायो लार्ड हार्डिंगः प्रार्थनीयः। स यदि इममंगीकुर्यात्। तद्धस्तेनैव अस्य स्थापना समारोहः सम्पादनीयः।

काशिराजप्रभृतयः=वयं सर्वे सोल्लासं समर्थयामहे।

बाबूगंगाप्रसाद वर्मा=भगवन् मालवीय! भवान्, अयं मिथिलेशश्च उभौ दिल्लीनगरं प्रतिष्ठाताम्। वाईसरायं च अनुकूलयताम्। (सर्वे निष्क्रान्ताः उभौ दिल्लीं प्रस्थितौ।)

(वाइसरायभवनम्, तत्र तेषां वार्तालापः।)

ततः समनुकूल्य वाइसरायं, प्रत्यागमताम्। ततो मन्त्री समितिसमक्षं तत्रत्यवृत्तान्तं निवेदयितुं सदस्यानाकारयामास।

(समितिकक्षे सर्वे समुत्तिष्ठन्ति।)

(मालवीयः दिल्लीवृत्तान्तं श्रावयति।)

महामना मालवीयः=आवाभ्यां सोऽनुकूलितः। सहि चतुर्थं ४ फर्वरी षोडशोत्तरैकोन विशंतितमे १९१६ ईसवीये तदनुसारं माघे शुक्ले प्रतिपदि भृगु वारे मध्यान्हे द्वासप्तत्युत्तरैकोन विंशतितमे १९७२ विक्रमसंवत्सरे विश्वविद्यालयस्य शिलान्यासं कर्त्तुमङ्गयकरोत्।

सर्वे=अस्तु श्रीः। महोत्सवसमारोहाय प्रयतताम्।

मन्त्री=इदमनुष्ठीयते समितेरादेशः।

(सर्वे विद्वांसः, सर्वे महाराजाः, राजानः, सर्वे धनिकाः, सर्वे प्रतिष्ठिता नागरिकाः समाहूताः संघीभूताश्च। लार्ड हार्डिंगोऽपि सपरिकरः समायातः।

लार्डहार्डिंगो यथासमयं वेदघोषपुरःसरं शिलान्यासं करोति। सर्वे पश्यन्ति। शिलान्यासोत्तरम्।)

लार्ड हार्डिंगः=भगवन् मालवीय? किन्ते भूयः प्रियं करवै। तथापीदं भरतवाक्यम्—

विन्दुः सुखं वेदनमत्र कुर्यात्।
शिष्यः सुवैदुर्यमथानुविन्देत्
जनः सदाचाररतो भवेत्तत्
सद्भारतं भारतमाशु भूयात्॥

इति साहित्याचार्यश्रीमधुसूदनशास्त्रिणः कृतौ हिन्दूविश्वविद्यालयं नाम एकांकि रूपकं पौ० कृ० ७ बुधे २०२३ विक्रमे १।१।६७ ईसवीये समाप्तिमगमत्।

हिन्दी साहित्य की ज्ञानाश्रयी शाखा पर आंतरिक और बाह्य प्रभाव

श्री सकलदीप सिंह
हिन्दी का ऐतिहासिक व्याकरण विभाग

भारतीय साहित्य में प्राचीन काल से दो भिन्न प्रकार के मतवाद चले आ रहे हैं। एक वेदसंमत बातों के आधार पर अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है दूसरा वेदविरोधी बातें कहकर वेदसंमत बातों का खंडन करता है। हिन्दी साहित्य के निर्गुण काव्य में बातें तो प्राचीन शास्त्रों की ही है लेकिन उनकी पद्धति विलक्षण है।

निर्गुण संत सारग्रही स्वभाव के कारण भारत की सभी आध्यात्मिक पद्धतियों के सारतत्व को ग्रहण करने में सक्षम रहे हैं। डा० बड़थ्वाल का कथन है कि 'अजपा जाप के साथ साथ योगाभ्यास, तंत्रों से उधार ली गयी उसकी शरीर-रचना-प्रणाली, उसके द्वारा प्राण आदि का उपयोग, शंकराचार्य का अद्वैतवाद, भक्ति की साधना पद्धति और तंत्रवाद में दीख पड़ने वाले उपासनात्मक भावों की इन्द्रियस्पर्शिणी तीव्रता जिसमें विषयी जीवन के उस घृणास्पद अंश का अभाव रहा करता है, ये सभी यहाँ आकर एक सुसंगत व्यापक रूप में संश्लिष्ट हो गए हैं।[१]

संत कवियों पर नाथ संप्रदाय का प्रभाव अंतस्साधना के रूप में परिलक्षित होता है। नाथपंथ का उद्‌गम बौद्ध-धर्म की महायान शाखा के परवर्ती विकसित रूप वज्रयान संप्रदाय से हुआ है।[२] बौद्धों का वज्रयान निर्वाण प्राप्ति का वास्तविक तत्व जनता को समझाने के हेतु प्रवर्तित किया गया था। निर्वाण या शून्य की उपलब्धि के हेतु निरर्थक शब्दों (मंत्रों) की आवृत्ति (धरणी) करना अनिवार्य था। अतः वज्रयान को बाद में मंत्रयान और परवर्तीकाल में मंत्रयान को तन्त्रयान भी कहा जाने लगा।

वज्रयानियों ने मौलिक रूप से 'महासुखवाद' का शुभारंभ किया। प्रज्ञा और उपाय से समन्वित दशा ही 'महासुख' की वास्तविक स्थिति है। यही आनन्द परमेश्वर का स्वरूप है। वज्रयान में युगनद्ध (स्त्री-पुरुष का आलिंगनबद्ध जोड़ा) ही महासुख का प्रतीक माना गया। वज्रयान संमत निर्वाणसुख सहवाससुख-तुल्य बन गया।

वज्रयानी सिद्धों ने अष्टांगयोग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि) को न मान कर षडंग योग को ही स्वीकार किया। उन छः अंगों के नाम हैं—प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, अनुस्मृति तथा समाधि। इन षट्‌चक्रों का वर्णन संत साहित्य में है।

---

[१] डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, भूमिका अंश, पृष्ठ ज।

[२] डा० विनयतोष भट्टाचार्य, साधनमाला, खंड २, भूमिका, पृ० २३।

वज्रयानी सिद्धों ने सहज शब्द का प्रयोग किया है। बौद्धों ने सहज शब्द के प्रज्ञोपाय-युगनद्ध-परक अर्थों को मान्यता दी एवं इसे प्रज्ञा और उपाय के संयोग से उत्पन्न होने वाला तत्त्व बताया तथा सहज काया, सहज सुन्दरी, सहज नौका और सहजानन्द की परिकल्पनाएँ कीं। योगिनी-कौल-मार्ग में इसे दो अर्थों में ग्रहण किया गया। एक तो स्वाभाविक जीवन पद्धति और दूसरा स्त्रीतत्व एवं पुरुषतत्व का संमेलन। सहज शब्द से शून्य और करुणा की एकता का भी भाव अभिव्यक्त होता है। प्रबोधचंद्र बागची के अनुसार सहज शब्द 'पुरातन चीनी धार्मिक सिद्धान्त नेताओं' का अनुवाद है[१]। संतों के यहाँ सहज शब्द अनेक रूपों में व्यवहृत हुआ है।

सिद्धों की साधनापद्धति में चित्त को स्थिर करने का निरन्तर प्रयत्न किया जाता है। चित्त की चपलता का अपनयन करके उसे दृढ़ (वज्ररूप) बनाना ही वज्रयानियों का लक्ष्य है।[२] उपायसमन्वित चित्त को बोधिचित्त का अभिधान प्राप्त होता है। बोधिचित्त के दो प्रकार (१) संवृत्त और स्पन्द रूप एवं (२) वज्ररूप हैं। साधना के प्रारम्भ में चित्त को सांसारिक बंधनों से मुक्त करके साधना के निमित्त अग्रसर करने की क्रिया को समुत्पाद कहा गया है। समुत्पाद के लिए विशोधन, हनन्, स्थिरीकरण और दृढ़ीकरण शब्दों का प्रयोग किया गया है। विशोधन का अर्थ है चित्त को शुद्ध करना। हनन क्रिया द्वारा चित्त को मारा जाता है और चित्त को परिनिर्वाण में प्रतिष्ठित किया जाता है[३]। संतों ने भी चित्त को स्थिर करने के लिए अनेक उपायों का उल्लेख किया है। इनके यहाँ भी चित्त अथवा मन की चपलता साधना में सर्वदा बाधा उत्पन्न करती है।

संत संप्रदाय में अनेक शब्दों का समाहार दूसरे संप्रदायों से गृहीत है। जैसे 'हरि' 'नारायण' नारदीय भक्ति के तथा शून्य, विज्ञान, निर्वाण, बौद्ध धर्म के शब्द हैं।

डा० बड़थ्वाल का अभिमत है कि नारद द्वारा प्रवर्तित एकांतिक धर्म जिसका अनुगमन रामानंद ने किया था तथा बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों के संमेल में दो भिन्न-भिन्न आध्यात्मिक विचारधाराओं के संमिलन के अनंतर किस प्रकार वैष्णव मत और नाथमत में परिणत हो जाने पर भी परस्पर एकमेव रहा क्योंकि रामानंद ही ऐसे मनीषी हैं जिनमें वैष्णव संप्रदाय और नाथमत का संमेल अंगभूत रहा[४]।

संत काव्य के अंतर्गत निर्गुणियों का प्रेमभाव सूफियों की देन नहीं, यह तो वही था जिसे रामानन्द के द्वादश शिष्यों ने अपने गुरु से प्राप्त किया था। इसका समर्थन डा० बड़थ्वाल ने नाभादास जी की उक्तियों से किया है। उस पद्य के अनुसार सभी दशधा

---

[१] डा० धर्मवीर भारती, हिंदी साहित्य कोश, पृ० ८२४।

[२] डा० बागची, दोहाकोश, चर्यापद, पृ० १०७।

[३] पं० हरप्रसाद शास्त्री, बौद्धगान और दोहा, पृ० २३।

[४] डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, हिंदी काव्य में निर्गुण संप्रदाय, प्रथम संस्करण, पृ० ।

भक्ति के आगर थे[1]। संत कवि दाम्पत्य प्रेम के प्रतीकों के लिए निर्गुणी सूफियों के ऋणी कहे जा सकते हैं[2]। लेकिन वास्तविकता यह नहीं है।

डा० बड़थ्वाल ने निर्गुणियों के 'सुरत और निरत' शब्दों को भी नारद का ही माना है। उनके अनुसार छांदोग्य उपनिषद् के सातवें अध्याय में सनत्कुमार ने नारद को आध्यात्मिक शिक्षा देकर धीरे-धीरे स्मृति (स्मर), आशा, आत्मा (प्राण) तथा सत्य से लेकर (भूमा) आनंद तक पहुँचा देने की बात कही है। सनत्कुमार के स्मर, आशा और भूमा ही निर्गुणियों के सुरति, विरह और निरति हैं[3]।

इसमें कोई संदेह नहीं कि निर्गुणियों ने शब्दों के चुनाव में प्राचीन ग्रंथों का उपयोग किया है। प्राचीन धार्मिक साहित्य के सभी शब्द इनके यहाँ तद्वत् ग्रहण हुए हों ऐसी बात नहीं है। वास्तविकता यह है कि प्राचीन शब्द तत्कालीन युग में जिस प्रकार से व्यवहृत थे उन्हीं रूपों में निर्गुणियों ने उन शब्दों का व्यवहार किया है। उपर्युक्त विवेचन से यह भली भाँति विदित होता है कि संत कवियों ने नाथ पंथ से योग मार्ग का समाश्रयण अपने पंथ के अंतर्गत किया।

निर्गुण मार्ग के समर्थ संत कवि कबीरदास में भारतीय अद्वैतवाद और योगियों तथा सूफियों के संस्कार स्पष्टतया परिलक्षित होते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कथन है कि इनका लक्ष्य एक ऐसी सामान्य भक्ति-पद्धति का प्रचार था जिसमें हिन्दू और मुसलमान दोनों योग दे सकें और भेद-भाव का कुछ परिहार हो। बहुदेवोपासना, अवतारवाद और मूर्तिपूजा का खंडन ये मुसलमानी जोश के साथ करते थे और मुसलमानों की कुरबानी (हिंसा), नमाज, रोजा आदि की असारता दिखलाते हुए ब्रह्म, माया, जीव, अनहदनाद, सृष्टि, प्रलय आदि की चर्चा पूरे हिंदू ब्रह्मज्ञानी बनकर करते थे।

संतमत इस्लामी प्रभाव से वंचित नहीं रह सका। इसका मुख्य कारण है मध्ययुग में उत्तरी भारत में हिंदू और बौद्ध धर्मों के अतिरिक्त इस्लाम धर्म की प्रतिष्ठा। दूसरे इस्लाम धर्म शासक वर्ग का था। अतः उसके प्रचार-प्रसार के लिए शासक वर्ग सक्रिय था। "इस्लाम एक आस्था प्रधान धर्म है उसमें बुद्धिवादिता का कोई स्थान नहीं है। इसके विपरीत संत मत की आधारभूमि बुद्धिवादिता ही रही है। अतएव वे कोरी आस्था में जो अंधविश्वास की सीमा तक पहुँच गई थी, विश्वास नहीं करते थे। इसीलिए संतों ने कोरी आस्था प्रधान इस्लाम धर्म का महत्व हृदय से नहीं स्वीकार किया। इस्लाम धर्म का जो प्रभाव उन पर दिखाई पड़ता है वह अधिकतर परंपरागत, संस्कारजनित और वातावरणमूलक है[5]।"

---

[1] भक्तमाल (लखनऊ) श्री सीतारामशरण भगवान् प्रसाद द्वारा संपा०, पृ० २८८-९०।

[2] डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, हिंदी काव्य में निर्गुण संप्रदाय, पृ० ट।

[3] वही, भूमिका।

[4] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० ७०।

[5] डा० त्रिगुणायत, हिंदी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, पृ० २८५।

इस्लाम के आधारपक्ष को 'दीन' कहते हैं। रोजा, नमाज, जकात और हज्ज इस दीन के विभाग हैं। इन सबका संत कवियों ने खंडन किया है। संतों ने इस्लाम के मानसिक या भावात्मक पक्ष को ही मान्यता प्रदान की है। ईश्वर में आस्था और पैगम्बर में विश्वास इस्लाम की महत्वपूर्ण देन है। इसे इस्लाम धर्म में 'ईमान' कहते हैं। ईमान का महत्व संतों ने स्वीकार किया है। ईश्वर के गुणों का प्रतिपादन करते हुए कुरान शरीफ में लिखा गया है कि उसकी सजीवता, ज्ञान, विशिष्टता, शक्तिमत्ता, स्वेच्छाचारित, श्रवणशीलता, दृष्टिसंपन्नता आदि विशेष उल्लेखनीय हैं[१]। इस्लाम के एकेश्वरवाद का प्रभाव संत कवियों पर है लेकिन वह भारतीय अद्वैतवाद से संमिश्रित है। इस्लाम की सर्वप्रमुख विशेषता है उसकी साम्यवादी भावना। संत कवियों की साम्यवादी भावना को इस्लाम धर्म के साम्यवाद से गृहीत माना जा सकता है।

इस्लाम धर्म और मूलतः सुन्नी मुसलमानों में साधु-संतों की बड़ी अवमानना है। कुरानशरीफ में लिखा है तुम्हें यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि सांसारिक जीवन एक प्रवंचना है। धन और संतान की वृद्धि ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार वर्षों के वाद वनस्पति उग आती है और उसे देखकर कृषक प्रसन्न होते हैं किंतु वह वनस्पति क्षणिक होती है। इसी वनस्पति की भाँति सांसारिक वैभव को देखकर जीव प्रसन्न होता है किंतु वह वैभव है क्षणिक ही[२]। संतों की वैराग्यमूलक उक्तियाँ इसी प्रकार की हैं।

सूफी संप्रदाय इस्लाम की ही एक शाखा है। सूफी मत में बाह्याडम्बर के लिए कोई अवकाश नहीं है और शील-सदाचार का बड़ा ही महत्व है। ये भाव निर्गुण-साधना में भी पाए जाते हैं। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा कि सूफियों की साधना अनेकांश में इन संतों के अनुकूल थी। ये साधक अन्यान्य मुसलमानों के समान कट्टर और विरोधी नहीं थे, इसीलिए भारतीय जनता ने विश्वासपूर्वक इनकी साधना के प्रति अपनी श्रद्धा अर्पित की[३]। सूफी मत में हिंदू और मुसलमान जैसे विरोधी जातियों के लिए कोई भेद भाव न था। सूफी उदार और समान द्रष्टा थे। निर्गुणियों को सूफियों की सत्संगति से वड़ी प्रेरणा मिली।

संतों में प्रेम और विरह की अभिव्यक्तियाँ सूफियों की देन हैं। संत दादू कहते हैं कि विरह और प्रेम की लहरियों में यह पंगु अर्थात् शुद्ध हो जाता है[४], विरह मन के मैल को दूर करता है[५]। ईश्वर और जीव के प्रेम को प्रेमी और प्रेमिका की भूमिका में प्रस्तुत करने के कारण सूफी साहित्य में मादनभावों की पर्याप्त अभिव्यंजना है। सूफी साधना

---

[१] कुरानशरीफ २१।२२, २२।८, १४।४, ३२, ५, ६।१०५।

[२] कुरानशरीफ, ६।२१।

[३] डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ५६।

[४] विरह प्रेम की लहरी में यह मन पंगुल होय।
दादू भाग १, पृ० ४३।

[५] विरह अगिनि में जल गए मन के मैल विकार।
वही, पृ० ४३।

में प्रेमिका रूप अल्लाह के निकट पहुँच कर उसका साहचर्य ही नहीं, वरन् सारूप्य प्राप्त कर वियोग की असह्य पीड़ा दूर हो जाती है। प्रेम और विरह का उल्लास और पीड़ा निर्गुण संतों के काव्य और दर्शन में व्याप्त है। निर्गुण संतों में एक और अनुभूति की प्रखरता है, वहीं पर अत्यन्त मार्मिक और सरल ढंग से आध्यात्मिक प्रेम की अभिव्यक्ति भी। यदि संत कवियों को सूफी संतों से दर्द और पीड़ा न मिलती तो उनकी रचनाओं का भी स्वरूप वैसा ही होता जैसा नाथों और सिद्धों की रचनाओं की और उनमें साधना और योग की पद्धति का अनुभव मात्र वर्णित होता। सूफियों के प्रेम की पीर और आत्मा-परमात्मा के दांपत्य प्रेम के कारण का अंतर्भाव लेने के कारण ही संत कवियों के काव्यों में साहित्यिकता का समावेश हुआ है अन्यथा योग साधना की प्रक्रिया, नाड़ी, चक्र, सुरत, निरत, ब्रह्मरंध्र आदि के विवेचन का काव्य से क्या प्रयोजन। आचार्य पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र का कथन ठीक ही है कि 'जिस रचना में प्रेमतत्व पति-पत्नी, सेव्य-सेवक, पिता-पुत्र आदि शब्दों द्वारा रहस्य संकेतित है वही काव्य के भीतर रखी जा सकती हैं।'

संत कवियों ने वैष्णव धर्म से प्रपत्तिवाद का समावेश अपने पंथ के अंतर्गत किया है। इन कवियों में ईश्वर के संबंध में उसी प्रकार की धारणाएँ मिलती हैं जिस प्रकार की वैष्णवों की हैं। निर्गुण पंथ के सभी कवियों की धारणा है कि ईश्वर के शरणागत होने से ही जीवन्मुक्ति मिल सकती है। कबीर, दादू, रैदास, भीखा सभी ने इस प्रकार की बातें कही हैं। निष्कर्षतः ज्ञानमार्गी निर्गुण शाखा के अंतर्गत ज्ञानमार्गी अद्वैतवाद, प्रेममार्गी वसब्बुझ, अहिंसाप्रधान प्रपत्तिवाद, मुसलमानी एकेश्वरवाद, नाथपंथियों का योगमार्ग सभी के लक्षण मिलते हैं।

———

हिन्दी प्रेमाख्यानकों की पृष्ठभूमि और परम्परा

प्रेमचन्द्र जैन शोध छात्र हिन्दी विभाग

हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य-परंपरा न केवल अपने पूर्ववर्ती साहित्य से अनुप्रेरित है बल्कि वह भारतीय-अभारतीय संस्कारों के समन्वय का दर्पण भी है। इस तथ्य को दृष्टि में रखते हुए, हिन्दी प्रेमाख्यानकों के अध्येता को इसके मूल में एक ओर संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश प्रेमाख्यानकों का अध्ययन तो आवश्यक है ही; साथ ही दूसरी ओर अभारतीय अथवा फ़ारसी शैली में लिखे प्रेमाख्यानकों का अध्ययन भी अनिवार्य है। प्रेम सदैव अनुभूति परक रहा है, अतएव प्रेम को किसी परिभाषा के घेरे में अनुकीलित नहीं किया जा सकता। प्रेम मानव-स्वभाव की ही सम्पत्ति हो ऐसी बात नहीं है। वह तो पशु-पक्षियों में भी विद्यमान है। और यदि प्रेम की सत्ता को प्राणिमात्र में भी स्वीकार किया जाए तो यह कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

प्रेम की अग्रिम सीढ़ी प्रणय है। प्रणय का उद्देश्य कामपूर्ति मात्र ही हो, ऐसा नहीं। वह इससे भिन्न भी हो सकता है। यों सृष्टि के ह्रास-विकास अथवा उत्थान-पतन में 'काम' अपना काम करता आया है। आत्मा से संयुक्त मन से अधिष्ठित कर्ण, चक्षु, जिह्वा और घ्राण का इच्छानुकूल अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त होना काम है—श्रोत्रत्व व चक्षुर्जिह्वा घ्राणानात्मसंयुक्तेन मनसाधिष्ठितानां स्वेषु-स्वेषु विषयेष्वानुकूल्यतः प्रवृत्ति कामः'। (कामसूत्र १।२११, वात्सायन) यह प्रवृत्ति ही सृष्टि है। यही कामशक्ति महद् उद्देश्यों से परिचालित होकर जीवन के भाव जगत में पूर्णकाम ईश्वरी सत्ता का आविर्भाव कराती है और यही गलत या निम्न उद्देश्यों से प्रेरित होकर मिथ्या काम या बौद्ध परिभाषा में 'सिद्धाचार' का रूप धारण करती है। भारतीय ऋषि इस तथ्य से भली-भाँति परिचित थे इसी कारण उन्होंने कामशक्ति को हेय या आवर्ज्य मानकर कभी भी उसकी कदर्थना नहीं की। उन्होंने अमोघ सृष्टिकारक के रूप में इसकी वंदना की—

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्[1] ॥

ऋ० १०।१२९।४ ॥

सृष्टि की उत्पत्ति में प्रेम ही मूल है। प्रेम की महिमा आदिकालीन है। जिसके हृदय में प्रेम की पीर जागृत हो गई उसी का जीवन सार्थक है इत्यादि का विवेचन मंझन ने 'मधुमालती' में विस्तृत रूप से किया है :

प्रथमहिं आदि प्रेम प्रविष्टि, अरु पाछे जो सकल सरिष्टि।
उतपति सिस्टि पेम ते आई, सिस्टि रूप यह पेम सवाई।
जगत जन्मि जीवन फल ताही, पेम पीर जिय उपजा जाही।

---

[1] रसरतन, सं० डॉ० शिवप्रसाद सिंह, भूमिका पृ० ६३

इतना ही क्यों, मंझन तो यहाँ तक कहते हैं :—

प्रेम दीप जाके हिय वरा, ते सब आदि अंत उजिअरा।

जिस प्रेमी के हृदय में प्रेम-दीप जल उठता है उसका आदि-अंत सभी प्रकाशमान हो जाता है। फिर भी प्रत्येक प्रेमी अपनी प्रेम-पीर की अभिव्यक्ति किए बिना स्वयं में शांति नहीं पाता। अभिव्यक्ति का माध्यम चाहे जो हो। प्रेमाभिव्यक्ति के लिए बातचीत से लेकर कहानी, कथा-वार्ता, आख्यान और महाकाव्य जैसे साधनों का उपयोग किया गया है। प्रेम भाव पर मन्त्र, जन्त्र, तन्त्र और किसी औषधि का प्रभाव नहीं होता :—

नूरमुहम्मद प्रेम पर, लहे न मन्त्र न जंत्र।
प्रेम पीर जहँ ऊपजे, तहाँ न औषद मंत्र ॥[2]

यही कारण है कि कहीं-कहीं प्रेमाख्यानकों में लोकमर्यादा का उल्लंघन भी हो गया है। परन्तु, "प्रेमाख्यानकों में लोकमर्यादा का अतिक्रमण दोष नहीं गुण समझा जाता है।"[3]

वस्तुतः भारतीय प्रेमाख्यानकों में प्रेमी को उत्कृष्ट कोटि के प्रेम के लिए आह्वान किया गया है। प्रेमी अनेकानेक बाधाओं को लाँघता हुआ अपने प्रणय के लिए यावज्जीवन संघर्ष करता है। भारतीय प्रेमाख्यानकों में यही विशुद्ध प्रणय दिखलाया गया है। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल उक्त प्रणय को लक्ष्यकर लिखते हैं, "अपना मधुर और अनुरंजनकारी प्रकाश जीवन यात्रा के नाना पंथों पर फेंकता है। प्रेमी जगत के बीच अपने अस्तित्व की रमणीयता का अनुभव आप भी करता है और अपने प्रिय को भी कराना चाहता है। प्रेम के दिव्य प्रभाव से उसे अपने आसपास चारों ओर सौन्दर्य की छाया फैली हुई दिखाई पड़ती है, जिसके बीच वह बड़े उत्साह और प्रफुल्लता के साथ अपना कर्म सौन्दर्य प्रदर्शित करता है। यह प्रवृत्ति इस बात का पूरा संकेत करती है कि मनुष्य अंतः प्रकृति में जाकर प्रेम का जो विकास हुआ है वह सृष्टि के बीच सौन्दर्य विधान की प्रेरणा करने वाली एक दिव्य शक्ति के रूप में है।"[4]

प्रिय से सम्बन्ध रखने वाली प्रत्येक वस्तु प्रेमी को अपने प्राणों से भी प्रिय होती है। उन वस्तुओं की सुरक्षा अथवा संभाल-सुधार से प्रेमी अपने प्रिय के प्रति अत्यधिक प्रेम-भावना तो प्रदर्शित करता ही है, साथ ही उसे आत्मसंतोष भी मिलता है। कवि नूरमुहम्मद कृत 'इन्द्रावती' में राजकुँवर के विरह से पीड़ित इन्द्रावती राजकुँवर की सारंगी (वाद्य विशेष) बनना चाहती है। चूँकि सारंगी को राजकुंवर सदैव समीप रखते थे। वह कहती है :—

बड़े भाग सारंगी रहती प्रीतम पास।
मोहि कलेस बिछुड़न की, है प्रछन्न परकास ॥

---

[१] मंझन कृत मधुमालती, सं० डॉ० शिवगोपाल मिश्र, पृ० ११

[२] हिन्दी-सूफ़ी कवि और काव्य, डॉ० सरला शुक्ल, पृ० ४७१ से उद्धृत

[३] मध्यकालीन धर्म साधना, डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० २४८

[४] चिन्तामणि प्रथम भाग, पृ० ८९, पं० रामचन्द्र शुक्ल

प्रिय के निवासस्थल की ओर ले जाने वाला मार्ग प्रेमिका नागमती को कितना प्रिय था, यह द्रष्टव्य है :—

> वह पथ पलकन्ह जाइ बोहारों सीस चरन के चलौं सिधारौं ।
> गो गुरु अगुआ होइ सहि, मोहि लावै पथ माँह ।
> तन मन धन वलि वलि करौं जो रे मिलावे नाथ ।।[१]

प्रेमिका किसी वाह्य पदार्थ झाड़ू आदि से मार्ग साफ़ नहीं करना चाहती । वह तो कहती है कि इस मार्ग को मैं अपनी पलकों से साफ करूंगी । जिस पथ पर उसके प्रेमी के चरण पड़ेंगे उस पर वह अपने पैर कैसे रखे ? अनादर होगा न । इसलिए सिर के बल चलना चाहती है । ऐसा होता है प्रेमिका का या प्रिय का प्रेमी के साथ आदरभाव ।

यद्यपि पहले मैं यह कह चुका हूँ कि प्रेम को किसी परिभाषा में बाँधना संभव नहीं है तथापि प्रेम के सम्बन्ध में कुछ विचारकों के विचार प्रस्तुत कर रहा हूँ । प्रिय से प्रेमी की मिलनेच्छा ही प्रेम है । यह प्रेम, प्रेमी और प्रेमिका को एक स्तर पर ला खड़ा करता है, जिससे वे परस्पर मिलकर एकात्म हो सकें—

> "Love is the desire for union with the object loved, and therefore even tends to bring subject and object to one level in order that they may unite and become one."[२]

कुछ लोगों के मत में प्रेम आनन्द के अतिरिक्त (भौतिक आनन्द के) कुछ नहीं है । कार्ल-मेनिंगर के विचार में दो व्यक्तियों के सम्मिश्रण से प्राप्त अनुभूत्यात्मक आनन्द प्रेम है—

> "Love is experienced as a pleasure in proximity of a desire for fuller knowledge of one another, a yearning for mutual personality fusion."[3]

परन्तु भारतीय परंपरा में इस प्रकार के आनन्द को 'काम' की संज्ञा दी गई है । वात्सायन लिखते हैं, "स्पर्शविशेषाविषयात् त्वस्याभिमानिकसुखानुविद्धा फलवती अर्थप्रतीतिः प्राधान्यात् कामः" अर्थात् स्पर्शादिक विशेष क्रिया से सुख के साथ जो फलवान् आनंद की प्रतीति होती है, वह काम है ।[४]

प्रेमके अनेक रूप होते हैं । सच्चा प्रेम सभी अवस्थाओं में एकसा रहता है । उत्तररामचरित में भवभूति ने लिखा है कि सच्चा प्रेम सुख-दुःख में अद्वैत रहता है । वृद्धावस्था आने पर भी उनके प्रेमरस में कमी नहीं आती । समय व्यतीत होने पर वाह्यावरणों के हटजाने से जो स्नेह का सार स्थित रहता है, वही सच्चा प्रेम है ।

> अद्वैत सुख दुःखमोरनुगतं, सर्वास्ववस्थासु यत्,
> विश्रामो हृदयस्य यत्र, जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः ।

---

[१] जायसी-ग्रंथावली, सं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० सं० २०१७ वि०, पृ० २६५

[२] डॉ० भगवानदास, साइंस आफ इमोशंस, पृ० ३०

[3] कार्ल मेनिंगर, लव अगेन्स्ट हेट, पृ० २७

[४] वात्सायन, कामसूत्र १।२।१२

कालेनावरणत्ययात्परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं,
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते ॥

सच्चा प्रेम इस बात की अपेक्षा नहीं करता कि जिससे प्रेम किया जाए वह भी प्रेम करे ही। वह चाहे या नहीं- परन्तु हर हालत में प्रेमी उसका भला ही चाहता है। उसी को वोधा कहते हैं--

उपचार और नीच विचारने ना उर अन्तर वा छवि को घर है।
हमको वर चाहै कि चाहै नहीं हम चाहिये वाहि विथा हर है॥

इस प्रेम का मार्ग अति सुगम भी है और अत्यन्त दुर्गम भी। यहाँ छल कपट का कोई स्थान नहीं। घनानन्द के शब्दों में—

अति सूधो सनेह को मारग है जहाँ नेकु समानप बाँक नहीं।
तहँ साँचे चलें तजि आपनपौ झिझकै कपटी जे निसाँक नहीं॥

परन्तु प्रेम को वही पा सकता है जिसकी पैठ गहराई तक हो। इसको देव ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

प्रेम सों कहत कोऊ-ठाकुर न ऐंठो सुनि,
बैठो गाड़ि गहरे, तौ पैठो प्रेम घर में॥

इस गहराई तक पहुँचने का काम आसान नहीं। प्रेम का मार्ग बड़ा बीहड़ होता है। वह मृणाल तन्तु की तरह कोमल होता है। जो व्यक्ति इतनी क्षमता रखता हो कि इस मृणालतन्तु के मार्ग पर होकर यात्रा पूरी कर सके, वही पूर्ण प्रेमी है। दूसरी ओर प्रेम का मार्ग तीखा भी होता है। इतना तीखा जैसे कि तलवार की धार पर दौड़ना। बोधा ने कहा है—

अति छीन मनाल के तार हुते तेहि ऊपर पाँव दे आवनो है।
सुई बेह ते द्वारस कीन तहाँ परतीति को टाँडो लदावनो है॥
कवि बोधा अनी घनी तेजहुँ ते चढ़ि तापै न चित्त डरावनो है।
यह प्रेम को पंथ कराल महा तलवार की धार पै धावनो है॥

इन्हीं प्रेम तत्त्वों के आधार पर प्रेमाख्यानकों की रचनाएँ हुई।

भारतीय प्रेमाख्यानकों की उत्पत्ति के मूल में ऋग्वेद के पुरूखा एवं उर्वशी तथा यम-यमी के संवाद सूक्त को प्रस्तुत कर सकते हैं। अनेक विद्वानों ने तो इसे भारतीय ही नहीं विश्व का प्रथम प्रेमाख्यानक करार दिया है। एन० एम० पेंजर ने लिखा है, जितनी भारतीय-योरोपीय प्रेम कहानियाँ, विदित हैं उनमें यह सर्व प्रथम है और हो सकता है कि विश्व की प्राचीनतम प्रेम कहानी के रूप में इसे समझा जा सके। "''It is the first Indo European love story known and may even be the oldest love srory in the world"[1] पुरूखा सांसारिक मनुष्य है और उर्वशी देवलोक की अप्सरा - ब्रह्मा के श्राप से उसे मर्त्यलोक में आना पड़ता है। पुरूखा के प्रस्ताव पर उर्वशी कुछ शर्तों के साथ उसकी पत्नी बनना स्वीकार कर लेती है। चार

---

[1] एन० एम० पेंजर, दि ओशन आफ स्टोरी, लन्दन १९२४, पृ० २४५

वर्षों के सुखी जीवन विताने के बाद, एक घटना हो जाने के कारण उर्वशी पुनः अप्सरा लोक पहुँच जाती है। जिसके कारण पुरूखा विरह व्यथित इधर-उधर भटकता रहता है। कालान्तर में एक पुष्करिणी में अनेक अप्सराओं के साथ उर्वशी को स्नान करते देख पुरूखा उसे पहचान लेता है। विशेष अनुनय- विनय करने पर भी वह मर्त्यलोक में आने को राजी नहीं होती। ऋग्वेद में इस संवाद की कथा एक खंडकथा ही बनकर रह जाती है।[१] यम और यमी दोनों भाई बहिन हैं। यमी कामान्ध होने के कारण अपने भाई यम को भोग-विलास करने के लिए आमन्त्रित करती है। यम प्रस्ताव को अस्वीकार कर देता है। कथा संवाद रूप में कुछ आगे बढ़ती है। यमी अनेक प्रकार से यम को समझाती है, फिर भी वह अपने प्रयास में असफल होती है। इनके अतिरिक्त श्यावाश्व की कथा का भी उल्लेख मिलता है।[२]

ऋग्वेद की उक्त कथाओं को उपजीव्य बनाकर अनेक काव्य, नाटकादि आगे की परंपरा में लिखे गए। पौराणिक साहित्य में अनेक स्थलों पर उर्वशी और पुरूखा की कथा की चर्चा आई है। हरिवंश पुराण में इस कथा का उल्लेख मिलता है।[3] विष्णुपुराण वायुपुराण, ब्रह्मपुराण और श्रीमद्भागवत में भी उक्त कथा की चर्चा प्रेमाख्यान के रूप में आई है।

यद्यपि कालिदासकृत 'विक्रमोर्वशीय' नाटक की कथा पूर्णतः उर्वशी एवं पुरूखा के प्रेमाख्यान के समान तो नहीं है तथापि यह उसी के आधार पर की हुई रचना है। संभवतः इसका स्पष्टीकरण करने की दृष्टि से ही डा० शिवप्रसाद सिंह ने लिखा है, "कालिदास का 'विक्रमोर्वशीय' इसी कथा का साहित्यिक क्लासीकी रूपान्तर है।"[४]

नल-दमयन्ती का आख्यान भी कम प्रसिद्ध नहीं रहा है। महाभारत का 'नलोपाख्यानम्' उक्त कथा का प्रथम या आदिरूप माना जा सकता है। यह आख्यान अत्यधिक लोकप्रिय भी हुआ। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि यह कथा महाभारत के नलोपाख्यान से विकसित होकर संस्कृत में नैषधचरित तथा कई अपभ्रंश और हिन्दी कथा-काव्यों के रूप में हमारे सामने है। इसके अतिरिक्त दुष्यन्त और शकुन्तला का एक प्रसिद्ध प्रेमाख्यान आता है। मूलतः यह भी महाभारत की ही कथा है। महाभारत के आदि पर्व के ६८वें अध्याय से ७४वें अध्याय तक उक्त कथा का उपबृंहण है। महाकवि कालिदास ने इसी कथा के आधार पर 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' नाटक की रचना की। परन्तु दोनों के कथानकों में नितांत भिन्नता है। महाभारत का दुष्यन्त (नायक) समाज-भीरु, छली व्यक्ति है जो अपने हृदय की बातों को सुनकर भी अनसुनी करता है जानकर भी असत्य भाषण करता है[५]। शकुन्तला भी हृदय हीन है जो कि राजा दुष्यन्त से यह प्रतिज्ञा कराने

---

[१] भारतीय प्रेमाख्यानक की परंपरा, पं० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ६ (एवं रसरतन की भूमिका)

[२] वही [3] भारतीय प्रेमाख्यान-काव्य, डा० हरिकान्त श्रीवास्तव, पृ०७

[४] रसरतन, डॉ० शिवप्रसाद सिंह, भूमिका पृ० ६६

[५] संस्कृत साहित्य का इतिहास, पं० बलदेव उपाध्याय, सप्त० सं० पृ० १७४

के बाद अपना समर्पण करती है कि उससे उत्पन्न पुत्र ही राज्य का उत्तराधिकारी होगा। पुत्र आश्रम में ही उत्पन्न होकर ३ वर्ष तक वहीं रहता है तदुपरान्त शकुन्तला उसे राजा के पास ले जाती है। राजा सब कुछ जानते हुए भी उसे व्यभिचारिणी कहता है तथा उसकी माता को भी वेश्या शब्द से संबोधित करता है। अंत में जब आकाशवाणी होती है 'भरस्व पुत्रंदुष्यन्तमावसंस्थाः शकुन्तलाम्'[1] तब शीघ्र ही वह लज्जित हो जाता है और अपनी सफाई प्रस्तुत कर पुत्र को स्वीकार करलेता है।

कालिदास ने महाभारत के उक्त कथानक को इस चातुर्य्य के साथ प्रस्तुत किया है कि उनके नाटक के नायक-नायिका समाज के लिए एक आदर्श प्रस्तुत करते हैं। भारतीय नारी समर्पण के बदले में कुछ नहीं चाहती। शकुन्तला ठीक इसी ढाँचे में ढली है। उसके शील की रक्षा के लिए कालिदास ने अनसूया और प्रियम्वदा जैसी सखियों का चुनाव किया है। दुष्यन्त जानबूझकर शकुन्तला को नहीं ठुकराता वह तो दुर्वासा के श्राप के प्रभाव से सब कुछ भूल जाता है। वह एक सत्यनिष्ट और चरित्रवान नेता है। संक्षेप में इतना कहना पर्याप्त है कि कालिदास ने एक नीरस कथानक के आधार पर एक सरस और साहित्यिक रुचि की चीज प्रदान की है।

संस्कृत प्रेमाख्यानकों की परंपरा में श्री हर्ष का नैषधचरित, भवभूति का उत्तर रामचरित, वाणभट्ट की कादम्बरी, कालिदास का मेघदूत और शाकुन्तलम्, सोमेश्वर की कीर्ति कौमुदी और कल्हण-विल्हण के साहसांकदेवचरित और विक्रमांकदेवचरित आदि की गणना की जा सकती है। संस्कृत का कथा और आख्यायिका साहित्य एक प्रकार से प्रेमाख्यानकों की श्रेणी में रखा जा सकता है।

इन प्रेमाख्यानकों के अतिरिक्त उषा-अनिरुद्ध, श्रीकृष्ण एवं रूक्मिणी, प्रद्युम्न और मायावती, अर्जुन और सुभद्रा तथा भीम और हिडिम्बा आदि अनेक प्रेमाख्यान उपलब्ध होते हैं।[2] जहाँ वैदिक और पौराणिक प्रेमाख्यानों का अपना एक विशिष्ट स्थान है वहीं प्रेमाख्यानों की धारा को अक्षुण्ण बनाने में बौद्ध-जैन प्रेमाख्यानकों का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। यह एक अलग प्रश्न है कि इन प्रेमाख्यानकों में उपदेश तत्त्व अधिक हैं। ये धार्मिक प्रचार के साधन मात्र हैं ऐसा कहना भी कोई औचित्य नहीं रखता।

बौद्ध साहित्य में प्रेमाख्यानकों की श्रेणी में आने वाली कथाएँ संख्या में कम हैं। बौद्धों के जातकीय प्रेमाख्यानों में 'मणिचोर जातक' की कथा उल्लेखनीय है। एकबार बोधिसत्त्व की पत्नी सुजाता अपने पति के साथ बैलगाड़ी द्वारा पिता के घर जा रही थी। वाराणसी के राजा हाथी पर सवार हो उसी मार्ग से कहीं जा रहे थे। वे सुजाता के सौंदर्य पर मुग्ध हो गए और उसे पाने का उपाय सोचने लगे। उन्होंने एक मणि बैलगाड़ी में फेंक दी और मणि चुराने के अपराध में सुजाता के पति को पकड़वा लिया। राजा के गणों ने सुजाता के पति का बध करने के लिए उसे पृथ्वी पर लिटाया ही था कि सुजाता चीख चीखकर विलाप करने लगी। इतने में देवेन्द्र स्वयं वहाँ पहुँचे और सुजाता

---

[1] महाभारत ७३।१०८

[2] विस्तार के लिए देखिए, भारतीय प्रेमाख्यान की परंपरा, पं० परशुराम चतुर्वेदी

के पति को मुक्त कर राजा का वध किया। बोधिसत्त्व होने के कारण 'मणिचोर जातक' बच जाता है।[१] इस कथा के अतिरिक्त एक कट्ठहारिजातक एवं शुभा की कथा का उल्लेख भी आता है।

जैन प्रेमाख्यानकों में प्राचीनतम कथा 'तरंगवई' (तरंगवती) नाम से उपलब्ध है। इसमें जैनधर्म में दीक्षित तरंगवती नाम की शिष्या अपनी आत्मकथा कहती है। जिसका सारांश इस प्रकार है, "मैं एक धनिक की सुन्दरी कन्या थी। एक दिन मैं पुष्करिणी में हंस और हंसिनी को देखकर मूर्च्छित हो गई। मुझे स्मरण हो आया कि मैं भी किसी समय एक हंसिनी थी और जब हंस को एक व्याध ने, आखेट करते समय, बाण से मार दिया तो उसके विरह में मैं भी उसके साथ आग में जल गई। उस समय से मैं अपने पूर्व जन्म के प्रिय की स्मृति में पागल हो गई थी। मैंने फिर एक चित्र के सहारे अपने प्रिय को पा लिया। हम दोनों वहाँ से भागते समय डाकुओं द्वारा पकड़े गए और बलि वेदी पर लाए गए। परन्तु हम लोग बचा लिए गए और हमारा विवाह भी हो गया। इसके बाद एक जैन मुनि का उपदेश सुनकर मुझे वैराग्य हो गया। तदनन्तर मैंने सुव्रता से दीक्षा ग्रहण करली। जैन मुनि पूर्वजन्म वाला व्याध ही था, जिसने हाथी का आखेट करते समय अपने बाण से हंस को मार डाला था।[२]" यह थी तरंगवती की कथा और इसी के आधार पर आगे अनेक रचनाएँ हुई हैं। प्राकृत भाषा में एक 'लीलावई कहा" है, जिसकी रचना गाथाबद्ध है। इसमें दो व्यक्तियों के प्रेम तथा विवाह का वर्णन अति मनोग्यरूप में वर्णित है। अपभ्रंश भाषा के भी कई आख्यान उपलब्ध हैं। जिनमें पउमसिरी (पद्मश्री[३]) और भविसयत्त कहा आदि प्रमुख हैं।

अपभ्रंश साहित्य में चरित ग्रंथ और पुराण ग्रंथों की बहुलता है। चरित काव्य प्रायः प्रेमाख्यानकों के ढंग के हैं। इन काव्यों की विशेषता यह है कि इनमें प्रेमकथानकों के साथ उपदेशों और धर्मतत्त्वों की प्रमुखता है। यदि इनमें से इन धार्मिक तत्त्वों को अलगकर दिया जाय तो यह प्रेमाख्यानकों के रूप में ही सामने आते हैं। अपभ्रंश के इस प्रकार के काव्यों में पउमचरिउ, जसहरचरिउ, णायकुमारचरिउ, करकण्डु चरिउ, कुमारपाल चरिउ, सनतकुमार चरिउ और नेमिनाह चरिउ आदि प्रसिद्ध प्रवन्ध काव्य हैं जिन्हें हम प्रेमाख्यानकों की कोटि में रख सकते हैं।

शुद्ध भारतीय शैली के प्रेमाख्यानक काव्य अपभ्रंश के चरित और पुराण साहित्य की देन हैं। डॉ० सरला शुक्ल के अनुसार, "हिन्दी का आख्यान काव्य अपभ्रंश के चरित और पुराण ग्रंथों का ही दूसरा परिवर्धित, परिवर्तित एवं विकसित रूप है।[४] यों तो हिन्दी के रासो ग्रंथों से हम हिन्दी प्रेमाख्यानों का प्रारम्भ मान सकते है। रासो ग्रंथ

---

[१] जातक कथा (द्वि० भाग) हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, पृ० २८५–२८८

[२] हिस्ट्री आफ़ इन्डियन लिट्रेचर (भाग २) विन्टरनित्स, पृ० ५२२

[३] पउमसिरी चरिउ, सिंघी जैन ग्रंथमला, भारतीय भवन बम्बई से प्रकाशित, सन् १९४८

[४] सूफ़ी-कवि और काव्य, डा० सरला शुक्ल, पृ० १७३

परम्परा में पृथ्वीराज रासो एक विशाल ग्रंथ के रूप में हमारे सामने आता है। इसमें अपभ्रंश की अनेक प्रकार की शैलियों का संमिश्रण मिलता है। वस्तुतः इस ग्रंथ को भी प्रेमाख्यानकों की श्रेणी में रखा जा सकता है। वीसलदेवरासो भी एक प्रेमकहानी ही है जिसमें सिर्फ राजा की ऐतिहासिक चढ़ाइयों का वर्णन नहीं मिलता वरन श्रृंगार रस का भरपूर वर्णन हुआ है।

सूफ़ी कवियों ने मसनवी पद्धति में रचनाएँ की। परिणामतः भारतीय प्रेमाख्यानकों की शैली में परिवर्तन आ गया। सूफ़ियों के मतानुसार लौकिक प्रेम तथा अलौकिक प्रेम में कोई विशेष अन्तर नहीं होता। उनकी मान्यता है कि इश्क हकीकी (अलौकिक प्रेम) के लिए इश्क़ मिजाजी (लौकिक प्रेम) का होना भी अनिवार्य है। इन लोगों ने अभारतीय और भारतीय पद्धति का ध्यान न रख मिश्रण कर दिया। जो एक सूफ़ी परम्परा ही बन गई। हिन्दी की सर्वप्रथम प्रेमगाथा मुल्ला दाऊद की 'चन्दायन' या 'लोरक व चंदा' नाम की थी[१]। इसके वाद कुतुवन ने 'मिरगावती' लिखी, जिसकी रचना सं० १५६० में हुई। कुतुवन के वाद जायसी ने पदमावत लिखा। जिसमें नायक रतनसेन और सिंहल की राजकुमारी का प्रेम वर्णित है। इस रचना का कलेवर भारतीय ही है, परन्तु इस पर सूफ़ी शैली का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

इस प्रकार भारतीय प्रेमाख्यानक परम्परा कई संस्कृतियों के सम्मिश्रण का प्रतिफल है। मध्यकालीन राजनैतिक उथल-पुथल के कारण भी प्रेमाख्यानकों की शैली पर विभिन्न प्रकार के प्रभाव पड़े। डा० शिवप्रसाद सिंह भारतीय प्रेमाख्यानकों के विषय में लिखते हैं, "भारतीय प्रेमाख्यानक संपूर्ण एशियाई संस्कृति की प्रतिफलन पीठिका हैं इनमें अनुस्यूत तत्त्वों के समाजशास्त्रीय पुरातात्त्विक और ऐतिहासिक अध्ययन का अभी आरम्भ ही हुआ है। यह विपुल ज्ञानरासि अनेकानेक सुधीजनों के श्रम और शक्ति का आह्वान करती है।[२] वास्तव में यह कथन पूर्णतः सत्य प्रतीत होता है। भारतीय संस्कृति इतनी विशाल है कि वह सहज ही अन्य संस्कृतियों को अपने में समाविष्ट कर सकी। भारतीय प्रेमाख्यानकों में इसी विशाल और वैविध्यपूर्ण संस्कृति का प्रतिफलन हुआ है।

हिन्दी-साहित्य में पौराणिक प्रेमाख्यानों के आधार पर कई रचनाएँ हुईं। जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि पौराणिक प्रेमाख्यान सम्वन्धी रचनाओं की दृष्टि से भी हिन्दी-साहित्य किसी से कम नहीं। पौराणिक कथाओं के आधार पर हिन्दी में प्रेमाख्यान मध्यकाल से ही लिखे जाते रहे हैं। नरहरि बन्दीजन और नन्ददास ने 'रुक्मिणी मंगल' नाम से अलग-अलग रचना की। इसी विषय के आधार पर महाराज रघुराजसिंह का 'रुक्मिणी परिणय' भी मिलता है।[3] हिन्दी में ऐसे प्रेमाख्यानकों की भी कमी नहीं है

---

[१] भारतीय प्रेमाख्यान की परम्परा, पं० परशुराम चतुर्वेदी पृ० ८८ 'चन्दायन' डा० परमेश्वरीलाल गुप्त के सम्पादकत्व में, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर से प्रकाशित हो चुका है।

[२] रसरतन, डाँ० शिवप्रसादसिंह की भूमिका पृ० ७३

[3] भारतीय प्रेमाख्यान की परंपरा, पृ० ११६

जो संस्कृत या अपभ्रंश के मूल स्रोतों से आ गए हैं। उदाहरणार्थ माधवानल कामकंदला, पद्मावती, मृगावती का नाम उल्लेखनीय है। अनेक ऐसे भी हैं जो लोककथाओं के आधार पर लिखे गए। जायसी ने अपने पद्मावत में मुग्धावती, मृगावती, मधुमालती और प्रेमावती का उल्लेख किया है---

विक्रम धंसा प्रेम के वारा। सपनावति कहँ गएउ पतारा।
मधू पाछ मुग्धावति लागी। गगन पूर होइगा वैरागी।
राजकुँवर कंचनपुर गयऊ। मृगावती कहँ जोगी भयऊ।
साधे कुँवर खंडावत जोगू। मधुमालति कर कीन्ह वियोगू।
प्रेमावति कहँ सुरवर साधा। उषा लागि अनिरुध वर बाँधा।[1]

'लखमन सेन पदमावती' को हिन्दी का प्राचीनतम प्रेमाख्यान माना गया है। यह अधिक संभव है कि इसकी कहानी का आधार कोई अपभ्रंश में लिखी गई प्रेम कहानी हो।[2] विभाजन की दृष्टि से नलदमन, नलचरित्र, नल-दमयंती चरित्र, नल-दमयंती की कथा, रुक्मिणी मंगल, वेलि कृष्ण रुक्मिणी री, उषा की कथा और रसरतन पौराणिक प्रेमाख्यानकों की पंक्ति में रखे जा सकते हैं।

प्रेम विलास, प्रेमलता कथा, ढोला मारूरा दोहा, कामरूप चन्द्रकला की कहानी, भटिहारी की कथा, मृगावती की कथा, चन्दन मलय, मधुमालती, गिरिवार्ता और माधवानल कामकन्दला आदि लोकगाथाओं अथवा कल्पना के आधार पर रचित प्रेमाख्यान हैं।

ऐतिहासिक अथवा साहित्यिक आधार पर उल्लिखित प्रेयाख्यानकों का अपना-अपना अलग स्थान है। फिर भी 'पुहकर' कवि के 'रसरतन' के विषय में कहना चाहूँगा कि वह पूर्णतः भारतीय प्रेमाख्यानक महाकाव्य और एक विशिष्ट कृति है। इसीलिए आचार्य शुक्ल ने भी 'इंसरतन' के महत्त्व को इन शब्दों में स्वीकार किया था, "कल्पित कथा लेकर प्रवन्ध काव्य रचने की प्रथा पुराने हिन्दी कवियों में बहुत पाई जाती है। जायसी आदि सूफी शाखा के कवियों ने ही इस प्रकार की पुस्तकें लिखीं हैं, पर उनकी परिपाटी विल्कुल भारतीय नहीं थी। इस दृष्टि से रसरतन को हिन्दी-साहित्य में एक विशेष स्थान देना चाहिए।[3] परन्तु आश्चर्य होता है कि स्वयं शुक्ल जी ने भी इससे अधिक इसकी चर्चा नहीं की। बाद में भी यत्किंचित् स्थानों पर इसकी चर्चा आई है। सन् १९५५ ई० में डॉ० हरिकान्त श्रीवास्तव ने 'भारतीय प्रेमाख्यान काव्य' में इसकी विस्तृत चर्चा की है। इसके बाद तो सन् १९६० ई० में ना० प्र० सभा काशी से डा० शिवप्रसादसिंह की महत्त्व पूर्ण एवं विस्तृत भूमिका के साथ यह ग्रंथ प्रकाशित हो चुका है।

रसरतन की कथा कितनी सरस है यह तो उसके पाठक ही समझ सकेंगे। फिर भी इतने से अनुमान किया जा सकता है कि जहाँ वैराग के राजा सोमेश्वर के पुत्र सूरसेन और चंपावति-नरेश की तनया रंभावती का संयोग कराने के लिए स्वयं मदन (कामदेव) को दूत बनना पड़ा। काम कन्दला में काम ने जन्म लिया, रस रतन में दौत्य किया।

---

[1] जायसी ग्रन्थावली, सं० पं० रामचनु शुक्ल, पृ० ९

[2] भारतीय प्रेयाख्यान की परम्परा, पृ० १७७

[3] हिन्दी साहित्य का इतिहास, आ० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २२८ षष्ठम् संस्करण।

नृप तनया रंभावती, सूर पृथ्वीपति पूत।
वरनौं तिनकौं प्रेम-रस, मदन भयौ तहँ दूत ॥

रसरतन पृ० १७

इसके विस्तृत विवेचन का यहाँ मेरा लक्ष्य नहीं है अपितु यह वता देना आवश्यक है कि रसरतन भारतीय प्रेमाख्यानकों की परम्परा की एक मूल्यवान कड़ी है। कवि पुहकर ने अनेक आख्यानकों एवं कथाओं को सुना और पढ़ा भी था इसकी पुष्टि स्वयं उनके ग्रंथ से ही हो जाती है—

दमयंती नल प्रीति कहानी, भाषति सरस मधुर मुख वानी।
बहुत अनंद प्रेम गुन गावै, एक एक अच्छर समझावै॥
माधव काम की की कीर्ति बखानी, जिहि सुनि मन विसरावै रानी।
उषा कथा जवै अनुसारी, तव चितई भरि नैन कुमारी॥

(स्वप्न खंड ११८-११९)

मधुमालती, अग्निमित्र,-मौरावत तथा पिंगला और भरथरी की कथा का भी उल्लेख पुहकर ने किया है।

उपर्युक्त विवेचन से इतना अवश्य निश्चय हो जाता है कि भारतीय साहित्य में प्रेमपरक आख्यानकों की एक प्राचीन परम्परा है। जो एक ओर शास्त्रीय आधार तो दूसरी ओर लोकतत्त्वों को अधार बनाकर पनपती रही है। समय समय पर अन्य तत्वों का भी उसमें समावेश करने पर भी हिन्दू कवियों की प्रेमाख्यान धारा अविरल रही है। मध्ययुगीन हिन्दू प्रेमाख्यानों की परंपरा (सं० १०००-१९१२) में मृगेन्द्र के 'प्रेम-पयोनिधि' को अंतिम ग्रंथ माना जा सकता है।[१]

———

---

[१] भारतीय प्रेमाख्यान काव्य, डा० हरिकान्त श्री वास्तव, पृ० २१

आदिम काल में सामाजिक व्यवस्था और गीति-काव्य का उद्भव

विद्या गुप्त
महिला महाविद्यालय

वन्य जीवन की संघर्षमय अवस्था में कब मानव ने अपने छोटे से हृदय में गीतात्मक अनुभूतियों का तरल स्पन्दन सुना, यह एक रहस्यमय प्रश्न है। "गीति सृष्टि शाश्वत है" अथवा "कविता मानव हृदय के समान ही पुरातन है" जैसे उद्गार हमें अनुसन्धान की प्रेरणा मात्र देते हैं। कोई निश्चित व्याख्या नहीं। इस मानव-हृदय की पुरातनता और उसकी गीति विभोरता अथवा भाव-प्रवणता के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान केवल कल्पना पर आश्रित है। अनुश्रुतियों की परम्परा के भी उस पार का जीवन—जब आदिम नर-नारी उन्मुक्त वायु के समान सामाजिक जीवन के बन्धनों से स्वतन्त्र थे, जब नर न किसी का पति था, न पिता, और नारी न किसी की पत्नी न माता, तब कब---किस रहस्यात्मक संवेदना ने उसके हृदय में कोमल भावनाओं की मोहिनी डालकर गीतात्मक अनुभूति जाग्रत की होगी इसका विवेचन निश्चित ऐतिहासिक आधारों पर कर सकना आज असंभव है। हम केवल कल्पना का आश्रय ले सकते हैं जिसकी आधार भूमि है उन वन्य नर-नारियों की जीवन-व्यापन-विधि, जो आज भी आधुनिक सभ्यता की कृत्रिमता से दूर स्वच्छन्द प्रकृति के क्रोड़ में उन्मुक्त विहार करते हैं।

प्रागैतिहासिक काल की एक झलक के लिए, हमें आदिम नर-नारियों की अनुभूतियों के वास्तविक परिचय के लिए मनोविज्ञान के सिद्धान्तों का सहारा लेना पड़ेगा। मनोविज्ञान का एक मान्य सिद्धान्त है—नर-नारी का पारस्परिक आकर्षण और आकर्षणजन्य ऐन्द्रिक चेष्टाएँ। अपनी वन्य अवस्था में जब मानव प्राकृतिक उपादानों द्वारा अपने मस्तिष्क का विकास प्रारम्भ कर ही रहा था, जब उसके पास भाषा का सबल अवलम्ब भी न था तथा अभिव्यक्ति के लिए आंगिक चेष्टाएँ और हर्ष-भय आदि भावजन्य अस्फुट शब्द हीन ध्वनि-मात्र उसका सम्बल थी तभी उसने हृदय की पुकार नारी के प्रति अज्ञात आकर्षण के रूप में अनुभूत की होगी। आकर्षण का प्रथम संचार नारी के हृदय में हुआ अथवा नर के यह कहना कठिन है, किन्तु इस आकर्षण के प्रति सचेष्टता का श्रेय नर को ही देना युक्ति संगत प्रतीत होता है। कल्पना और प्रकृति की रहस्यमय योजनाओं के आधार पर हमें यह सत्य आकृष्ट करता है कि प्रकृति ने मानवेतर जगत में इस आकर्षण की व्यवस्था नर पशु या नर पक्षी को अधिक सौन्दर्य-दान द्वारा की है, जैसे मयूर और कुक्कुट के अभिराम वर्ण, सुन्दर कलंगी और चमकीले पर। पशु जगत में भी नर ही सौन्दर्य की अजेय सत्ता से शक्तिशाली है—सिंह सिंहनी की अपेक्षा अधिक सौन्दर्यशाली है। मानव जगत में प्रकृति के इस नियम में व्यतिक्रम मिलता है। यहाँ सौन्दर्य जन्य आकर्षण नारी में मिलता है; अतः आकर्षण का आवेग दोनों ओर होने पर भी सचेष्टता और सक्रियता पुरुष-पक्ष में ही संभव प्रतीत होती है। अनुभूति की यह तरंग निश्चय ही वासनात्मक रही होगी और इसका प्रथम उन्मेष पुरुष में ही हुआ होगा।

इस आकर्षण के परिणाम स्वरूप मानव जीवन में जो अनुभूति तरंगायित हुई होगी उसका प्रथम विज्ञापन हर्षोद्गार के रूप में अस्फुट चीत्कार और उछल कूद के रूप में ही संभव है। अपने इस हर्षोद्गार में संभवतः मानव ने पशु और पक्षी जगत की अनुकृति का सहारा लिया होगा, संभवतः उसने निर्झर का चांचल्य, कोकिल के स्वर की मादकता और मयूर की नृत्य-गति सहसा ही अपने में अनुभूत की हो और तब उसकी भावात्मक अनुभूति अनुकरणात्मक रही होगी। मानव-मस्तिष्क के इस चरम उत्कर्ष के युग में भी हम चंचल बालक-बालिकाओं को कोकिल की कुहुक की अनुकृति में प्रयासशील पाते हैं। मयूर के नृत्य भरे पदों में बड़े से बड़े कलाकारों को आज भी प्रेरणा मिलती है और हम मयूरनृत्य का प्रदर्शन अपने रंगमंचों पर देख कर आह्लादित होते हैं। संगीत लहरी पर मुग्ध सर्प का झूमना और लहराना नृत्य कला के पारखियों के लिए विशेष आकर्षक रहा है और कलाकार अपनी आंगिक भावमंगिभाओं में वही लय (rhythm) भर लेने के लिए आतुर हो उठता है। यही नहीं संगीत के सप्त स्वरों का विधान भी पशु-पक्षियों की बोलियों के आधार पर है। क्या यह सब अकारण हो सकता है[1]।

जंगली जातियाँ जो आज भी अपनी आदिम अवस्था में हैं, उनके अध्ययन से कुछ ऐसे तथ्य प्रमाणित होते हैं जिन से उपर्युक्त मत की पुष्टि होती है। बुशमैन जाति के एक नृत्य में वृषभ और गौ की चेष्टाओं की आंगिक अनुकृतियों का वर्णन मिलता है[1]। डारविन के अनुसार गीतिकाव्य का प्रारम्भ होमो नर-नारी की वासनात्मक अभिव्यक्ति में हैं।[2]

रागात्मक भावनाओं के एक बार जाग्रत हो जाने पर आकर्षण की प्रबलता के लिए मानव ने कृत्रिम उपायों का भी अवलम्बन लेना प्रारम्भ किया होगा। प्रकृति के साहचर्य से ज्यों-ज्यों उसके मस्तिष्क और भावनाओं का विकास हुआ त्यों-त्यों जीवन में सुचारुता लाने की भावना तीव्रतर हुई होगी। अतः नर-नारी के मनोविज्ञान में एक आकर्षक परिवर्तन शरीर के अलंकरण की प्रवृत्ति द्वारा प्रकट हुआ और पाषाण युग से ताम्र युग तक आने की स्थिति में अलंकरण के अद्भुत और रोचक प्रयोग मिलते हैं। कौड़ियों और वन्य जीव जन्तुओं के नखों और अस्थियों के आभूषणों के प्रयोग द्वारा शरीर को अलंकृत करने की प्रवृत्ति से यह स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है कि मानव-मस्तिष्क में सौन्दर्य चेतना प्राचीन काल में ही जाग उठी थी।

इस काल तक आदिम नर-नारी ने समुदायों में रहना सीख लिया था, यद्यपि परिवार की भावना अभी सुदृढ़ नहीं हुई थी, फिर भी ऐसे समुदायों के वर्णन मिलते हैं जब सामाजिकता की भावना जन्म ले चुकी थी और जीवन कुछ निश्चित विधानों द्वारा संचालित था। इसी काल में सामूहिक उत्सवों की योजना हुई होगी। बुशमैन जाति के नृत्य इसी अवस्था के द्योतक हैं। इन उत्सवों और नृत्यों का एक मात्र उद्देश्य रति की भावना और मनोविनोद था जिसमें किसी प्रकार की नैतिकता का आभास नहीं मिलता। वैवाहिक बन्धन अथवा किसी प्रकार के रति सम्बन्धी नियन्त्रण की भावना हमें प्रागैतिहासिक काल में नहीं मिलती। बुशमैन जाति के नर-नारी ऐसे अवसरों पर शारीरिक प्रसाधन

---

[1] Theodore Besherman—"Men against Women-"

[2] Quoted by Gummeı in "Beginnings of Poetry".

के विविध उपायों का आश्रय लेते थे। स्त्रियाँ अपने मस्तक और गर्दन पर ताम्र-धातु के हरित-चूर्ण का प्रलेपन कर ऊपर से अभ्रक आदि का उपयोग करती थीं, और पुरुष लाल-पीले काले आदि रंगों से शरीर पर विविध प्रकार की चित्रकारी करते थे जैसे जैंबरा की काली-पीली धारियाँ। नृत्य के समय पैरों और कन्धों पर एक प्रकार की घंटी बाँधते थे जो नृत्य के मध्य समयानुसार बजती थीं।[1] इस योजना में हमें संगीत के ताल-विधान का प्रारम्भिक परिचय मिलता है। भारतीय संस्कृति के इतिहास में ऐसे नृत्यों की योजना ऋतुओं के उत्सवों में मिलती है। वसन्तोत्सव का वर्णन बहुत कुछ बुशमैन जाति के नृत्योंत्सवों की अनुरूपता लिए है। इन उत्सवों में सर्वत्र रति की भावना का प्राधान्य है। इन उत्सवों का वर्णन पूर्व वैदिक काल में मिलता है। इस काल में समुदायों की योजना बन जाने के कारण तथा जीवन का एक निश्चित केन्द्र-बिन्दु स्थापित हो जाने पर व्यवस्था का उल्लंघन करने वाले के लिए दण्ड-विधान की योजना भी मिलती है। उदाहरणार्थ एक समुदाय अपने ही समुदाय में न तो दाम्पत्य सम्बन्ध-स्थापित कर सकता था और न शत्रु समुदाय के व्यक्ति से ही। किन्तु व्यवस्था का उल्लंघन होता ही था और तब संग्रामों की योजना होती थी। 'ग्राम' का अर्थ था समुदाय और युयुत्सु भावना से एकत्रित हुए इन ग्रामों का 'संग्राम' जो आगे चल कर युद्ध का पर्यायवाची बन गया।[2]

इस काल तक मानव-विकास-क्रम में हमें निश्चित रूप से श्रृंगार और भय के अतिरिक्त उत्साह या युद्ध से उत्पन्न वीरत्व भावना का परिचय मिलता है। यही नहीं समुदायों के जन्म के साथ ही संवेदनात्मक अनुभूतियों का भी सुन्दर और कोमलतम स्वरूप प्रागैतिहासिक काल के नर-नारियों की उस भावात्मक अनुभूति में मिलता है जिससे प्रेरित हो उसने अपने दिवंगत बन्धु को समाधिस्थ किया है। जब उसने प्रकृति के रुद्र रूप से अपनी रक्षा का विधान गृह-निर्माण भी नहीं किया था, तभी उसने अपने मृतक के लिए समाधि की योजना की थी। टसमानियाँ के प्राचीन नर-नारियों की जीवन-यापन शैली में इसके उदाहरण मिलते हैं। मद्रास के तिनेवली जिले में खुदाई में प्राप्त कब्रिस्तान में मृत व्यक्ति की ठठरियों के साथ उसके पहनने के वस्त्र, धातु की बनी पशु-मूर्तियाँ, लोहे के शस्त्र, जो निश्चय ही मृत व्यक्ति की प्रिय सम्पत्ति रही होगी, तथा खाद्य पदार्थ तक मिले हैं। लबक के अनुसार मनुष्य की कलात्मक चेतना का विकास मृत वीर के सम्मान में बनायी गयी इन समाधियों में ही है।[4]

आर्यों की संस्कृति के विकास के पूर्व ही 'असुर' जाति मानव सभ्यता के विकास क्रम में कितनी संवेदनात्मक अनुभूतियों का संग्रह और अभिव्यक्तियों के प्रकटीकरण में कितनी

---

[1] "Men against Women",

[2] भारतीय इतिहास की रूपरेखा।

[3] "This people had no villages, no settlements, nor even any houses though oddly enough, they put up servivable tent like structure as tombs for their deads".

[4] W. Lubke—"Out line of the History of Art."

सौन्दर्य भावना अर्जित कर चुकी थी यह उसके बनाए चित्रों और मूर्तियों से प्रकट है। मोहिनजोदड़ो की खुदाई में प्राप्त आभूषण, चित्रांकित पात्र आदि इसके प्रबल प्रमाण हैं। आसाम से बलूचिस्तान तक, सिंध तथा मध्य भारत से ठेठ दक्षिण तक हमारे इन पूर्वजों की कला-प्रियता और बुद्धि वैभव बिखरे पड़े हैं। भित्ति-चित्रों और मूर्तियों के आलेखन तथा निर्माण में हमें उस संवेदनात्मक अनुभूति का परिचय मिलता है जिससे मनुष्य के अतीत के प्रति प्रेम और उसकी सुरक्षा की चाह झलकती है। इसी अतीत की स्मृति को स्थायी बनाने के लिए मानव चिर काल से प्रयत्नशील रहा है। इस सम्बन्ध में राय कृष्णदास का कथन है—"चित्रण की प्रवृत्ति मनुष्य में उस समय से है जब वह बनौकस था। अपना सांस्कृतिक विकास करने के लिए उसने संस्कृति के जिन अंगों से श्रीगणेश किया था उनमें चित्रकला भी एक थी। निदान संसार भर में आदिम मनुष्य के वनवासी गुहा-गृही मनुष्य के अंकित चिन्ह मिलते हैं। उनका सिलसिला उस समय से चलता है जब वह धातुओं का व्यवहार तक न जानता था और पत्थरों के अनगढ़ शस्त्रों और औजारों से काम लेता था"।

मूर्ति और चित्र रचना में इन कलाकारों का उद्देश्य वह भावनात्मक अभिव्यक्ति थी जिससे प्रेरित हो उन्होंने अपनी अमूर्त भावनाओं को मूर्त रूप देने की, अव्यक्त को व्यक्त करने की चेष्टा की है। रायकृष्ण दास के विचार के अनुसार मनुष्य ने हाथी और घोड़े आदि जन्तुओं की आकृति बनाकर अपने चतुर्दिक के जन्तु-जगत और संभवतः उसके ऊपर अपनी विजय की स्मृति सुरक्षित रखी है। इसी प्रकार मनुष्याकृति बना कर उसने अपनी आध्यात्मिक भावना को आधिभौतिक रूप दिया है। इस अध्यात्म भावना में जो धार्मिक चेतना से उद्‌बुद्ध होती हैं, वे उपासना से प्राप्त उस अतीन्द्रिय, बुद्धि ग्राह्य आत्यन्तिक सुख की रागात्मक अभिव्यक्ति मानते हैं। जो लोकोत्तर है और निराकार को, बुद्धिग्राह्य को साकारता प्रदान करती है अर्थात् मूर्ति, चित्र, कविता को संगीत के रूप में परिवर्तित करती है।

आदिम नर-नारी की इन संवेदनात्मक अनुभूतियों में, कलात्मकता के विकास में हमें प्रकृति का साहचर्य बराबर मिलता रहा है। अपने मस्तिष्क के विकास में मानव ने प्रकृति का पूर्ण सहयोग पाया है और बौद्धिक विकास के इस क्रम में उसने जिन नृत्यादि उत्सवों की योजना की उसमें उसका स्वर गीतों के रूप में अवश्य गूँजा होगा। यद्यपि उसके गीतों का वास्तविक स्वरूप जानने में आज हम असमर्थ हैं और इन गीतों की शब्द योजना का परिचय हमें तभी मिल सकेगा जब हमारा समुन्नत विज्ञान लाखों वर्ष पूर्व की अन्तरिक्ष में सुरक्षित शब्द तरंगों को अपनी विद्युत किरणों में बाँध कर हमारे कानों का विषय बनाने में समर्थ होगा। आज भले ही हमारे पास अपने उन सुदूर कालीन पूर्वजों का शब्द–वैभव सुरक्षित न हो पर हम उनकी नृत्य योजनाओं में यह तो अवश्य ही देख चुके हैं कि उनकी सौन्दर्यानुभूति में प्रकृति का कितना सहयोग था। नृत्य–योजनाओं में हरिण तथा सर्प आदि के अनुकरण के वृत्त मिलते हैं। इन नृत्यों में लय गति और ताल की उद्‌भावना हो ही चुकी थी केवल गान के सम्बन्ध में हम निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकते। पर यह सुनिश्चित है कि यह नृत्य सदैव ही मूक नृत्य न रहे होंगे और गीतों की योजना हो चुकी होगी। इन

गीतों में पांडित्य की कृत्रिमता न रही होगी। इन नृत्य-गान आदि के मध्य वाद्यों का प्रयोग भी अवश्य होता होगा। वेद कालीन नृत्योत्सवों में दुन्दुभी, शृंग, तूणव, शंख, वीणा आदि के उल्लेख मिलते हैं। नृत्य के समय झाँझ जिसे 'आघोट' कहते थे, का प्रयोग होता था। मढ़े हुए वाद्य 'आढम्बर', 'दुन्दुभी' आदि नामों से प्रसिद्ध थे। वाद्यों की यह समृद्ध अवस्था शताब्दियों के प्रयोगों का इतिहास अपने में निहित किए हैं। इस नृत्य-गान और वाद्यों की संयुक्त योजना में संगीत का वह पूर्ण स्वरूप है जिसकी व्याख्या भरत मुनि ने नारद के प्रसंग में की है।

प्रागैतिहासिक काल के चित्रों और मूर्तियों में हम आदिम नर की जिस धार्मिक भावना या रहस्यात्मक प्रेरणा का संकेत पा चुके हैं वह भी निरन्तर विकसित होती रही होगी और वेद काल तक आने की प्रक्रिया में मानव न जाने कितने संघर्ष और जिज्ञासा के घात-प्रतिघात सह चुका होगा। प्रकृति के रहस्यमय अवगुण्ठन के भीतर उसने न जाने कितने सौन्दर्य और भावनाओं को उद्वेलित होते हुए देखा होगा। अतः वेदकालीन प्रकृति में ही ऋषियों (ऋचाओं के निर्माता) की श्रद्धा भावना सौन्दर्य की मूल भावना से उद्बुद्ध होकर विराट शक्ति के रूप में विकसित होती हुई मिलती है। वैदिक देवी-देवता प्राकृतिक शक्तियों के कल्पनात्मक मानव रूप थे। इन स्वरूपों में वैदिक ऋषि की काव्य-कल्पना का सुन्दर विकास मिलता है। उदाहरणार्थ उषा की कल्पना एक सुन्दर युवती के रूप में की गई है जिसका सूर्य रूपी युवा उसी प्रकार अभिगमन करता है जैसे कोई यवक युवती का।

प्रकृति के रौद्र रूप में मानव ने जहाँ भय की भावना अनुभूत की वहाँ भी उसकी सौन्दर्य-कल्पना और कलात्मक अनुभूतियों के उत्कर्ष में ही सहायता मिली है। रुद्र की कल्पना झंझावात, करका-पात आदि से सम्बद्ध है। प्रकृति के इस रुद्र स्वरूप का यजुर्वेद के शतरुद्रीय प्रकरण में गंभीर काव्यात्मक अनुभूति के साथ वर्णन मिलता है। रुद्र की कल्पना अत्यन्त मूर्त रूप धारण कर लेती है। वह गिरीश अर्थात् पहाड़ में सोने वाला है। खुली चरागाहों में घूमने वाले ग्वाले और बाहर पानी भरने वाली स्त्रियाँ जब वह (घटा के रूप में) भागता है, तब उसकी लाल रंगत लिए (बिजली से चमक उठने वाली) नीली गर्दन को देखती है। इस सौन्दर्य भावना में भय की भावना भी जुड़ी थी। असन्तुष्ट होने पर यह देवता मानव का अहित कर सकने में भी समर्थ थे। अतः उनकी सन्तुष्टि के लिए भी मानव ने विविध आयोजन किए—यज्ञों की सृष्टि देवताओं की तुष्टि के लिए ही हुई थी। इन याज्ञिक अवसरों पर संभवतः अभिनय भी होते रहे होंगे जैसा कि सोम-यज्ञ के अवसर पर एक छोटे से प्रसंग से सिद्ध है जहाँ तीन पात्र—यजमान, सोम-विक्रेता और अध्वर्यु हैं। अभिनय के रूप में यह एक याज्ञिक प्रक्रिया ही है। इसमें सोम-विक्रेता से सोम का मोल-भाव है।

इन अभिनयात्मक योजनाओं में हमें जीवन के प्रति विराग भाव नहीं, प्रत्युत उत्कट रागात्मक दृष्टिकोण मिलता है। वैदिक ऋषियों की प्राकृतिक देवी-देवताओं से समृद्धि पूर्ण जीवन की निरन्तर माँग, मानव जीवन से सम्बद्ध सौन्दर्यात्मक कल्पनाएँ और सर्वत्र ही शृंगार के रूपक जीवन के संगीत की सृष्टि करते हैं जिनमें आनन्द है, उल्लास है, और है अकृत्रिम जीवन की, यौवन की माँग। वैदिक ऋषि जीवन से विरक्त, वीत-राग वृद्ध

नहीं जो सौन्दर्य की ओर से विमुख हो संसार की नश्वरता का भयंकर सन्देश मात्र मानव को दे। उसमें जीवन की लालसा और चिन्तन, अव्यक्त के प्रति जिज्ञासा और कौतूहल है। वह प्राकृतिक शक्तियों से जीवन की माँग करता है जिसमें वह उसके चिरन्तन सौन्दर्य को अधिक से अधिक समझ सके और उसकी अधिक से अधिक व्याख्या कर मानव के चिर अतृप्त सौन्दर्य भाव को परितृप्त कर सके। उसके चिन्तन और अध्यात्म में भी गीतात्मक वृत्तियों की गुदगुदाहट है। रागात्मक भावनाएँ अपने निरन्तर विकास में प्रयत्नशील हो संगीत के असंख्य निर्झर प्रवाहित करती हैं।

भरत मुनि के काल तक इस रूपक पद्धति का पूर्ण विकास हो चुका था। भरत मुनि ने नाटक की उत्पत्ति दैवी मानी है। वैदिक काल में देवी-देवता प्राकृतिक स्वरूपों के ही प्रतीक मात्र हैं। अतः नाटक का प्रारम्भ प्राकृतिक ढंग से हुआ। इसकी उत्पत्ति मानवीय अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के विकास क्रम में स्पष्ट रूप से मिलती है। शिव के तांडव नृत्य से निश्चय ही भरत का तात्पर्य है कि प्रकृति के रौद्र रूप से मानव ने नृत्य की परुष, भीषण गति सीखी। लास्य नृत्य की योजना प्रकृति के कोमल, मनोहर स्वरूप दर्शन से हुई होगी। विश्वकर्मा द्वारा प्रस्तुत रंगमंच प्रकृति का यह विराट रंगमंच ही है जिस पर मानव सदा से अभिनेता के रूप में अवतीर्ण होता आया है।

इन नाटकों में नृत्य और गीत प्रमुख तत्व है। नट् धातु से नाटक की व्युत्पत्ति भी नृत्य की प्रमुखता की ही द्योतक है। बाबू श्यामसुन्दर दास का नाटक के उद्भव के प्रसंग में मत है कि प्राकृतिक शक्तियों के रौद्र रूप से भयभीत मानव ने उसकी शांति के लिए जिन उत्सवों की योजना की, नाटक की उत्पत्ति उन्हीं नृत्य और गीतों में है।

इन नाटकों में सर्वत्र ही धार्मिक भावना हो ऐसा नहीं है। इनमें कहीं तो स्वाभाविक मनोविनोद की प्रवृत्ति है, कहीं ऋतु परिवर्तन के अवसर पर प्रकृति पूजा की भावना कहीं पूर्वजों की यश कीर्ति का वर्णन और कहीं वीर-पूजा की भावना सन्निहित हैं। युद्ध भूमि से लौटे हुए वीरों का अभिनन्दन और युद्ध में धराशायी होने वाले वीरों के प्रति सम्मान की भावना ने भी नाटकीय योजनाओं को महत्व दिया है। अतः नाटकों के मनोविज्ञान में शृंगार, वीर, भयानक, रौद्र और शान्त रस की योजना हमें अपनी प्रारम्भिक अवस्था में ही मिलने लगती है।

इन नाटकों में गीत का प्राचुर्य हमें इसकी अत्यन्त विकसित परम्परा तक मिलता है। स्वतन्त्र रूप से गीत की योजना, नृत्य से साथ गीत का समावेश तथा गीतात्मक संवाद, सर्वत्र गीत का प्राधान्य है। किन्तु नाटक का मनोविज्ञान अनुकृति प्रधान होने के कारण गीत का यह प्रभुत्व न सह सका। करुण प्रसंगों की योजना तथा वार्तालाप की स्वच्छन्द गति में जब गीत ने बाधा डाली तब नाटक के क्षेत्र में गीत का महत्व कम हो चला और धीरे-धीरे नाटकीय क्षेत्र से अलग उसका स्वतन्त्र विकास होने लगा।

संगीत की योजना सामाजिक रूप में हुई, व्यक्तिगत अनुभूति में नहीं जातीय अनुभूति के रूप में विकसित हुई अतः संगीत के उपकरण नृत्य, वाद्य और गान थे[1]। किन्तु

---

[1] "नृत्तं वाद्यं गानं त्रयं संगीतमुच्यते'

मानव हृदय की स्वच्छन्द अनुभूतियाँ समय और व्यवस्था के बन्धन में बँध कर नहीं रहना चाहतीं अतः संगीत से मुक्त होकर गीत ने अपना जो विकास किया वह समुदाय की वस्तु न होकर व्यक्तिगत भावनाओं की निधि थी। अंग्रेज विद्वान मिल ने काव्य को एकान्त चिन्तन का फल माना है[1] किन्तु गमर इससे सहमत नहीं। इनके अनुसार काव्य की उत्पत्ति सामुदायिक भावना में है।[2] विश्वकवि टैगोर ने आत्मभाव की अभिव्यक्ति को ही कला का मुख्य उद्देश्य माना है। इस आत्माभिव्यक्ति के लिए अनुभूति एक परम आवश्यक तत्व है। यह अनुभूति संसार के सम्पर्क में ही अपना विकास करती है। वाह्य जगत से अन्तर्जगत के तारतम्य के बिना मानव का पूर्ण विकास असंभव है। जीवन में संस्कारों की आध्यात्मिक सत्ता है वह जीवन के आवरण में रह कर काव्य में प्रकाशित होती है। जीवन वाह्य जगत पर निर्भर है अतः अन्तर्जगत से वाह्य जगत के सम्पर्क के फल स्वरूप जो सामंजस्य या विरोध स्थापित होता है उसी की प्रतिक्रिया के रूप में मनोविकारों की उद्दीप्ति संभव है। इन मनोविकारों का प्रभाव वाणी पर पड़ता है। इस प्रभाव की लयात्मक अभिव्यक्ति ही काव्य है। लय कविता का प्राण है, इस लय के उत्कर्ष के लिए ही मानव ने संगीत और नृत्य में ताल का विधान किया, काव्य में छन्द, तुक, गति आदि की योजना की किन्तु इन कृत्रिम उपायों के बन्धन में बँध कर पुनः गीत और कविता दो भिन्न वस्तु हो गए। गीत हृदय की वाणी है, मस्तिष्क की ध्वनि नहीं। कविता शास्त्रीय उपकरणों से सजकर जब सभ्य हुई तो उसका संस्कृत रूप साहित्य की वस्तु बना। किन्तु गीतकारों ने गीत लिखे नहीं, वे अनुभूति द्वारा दृष्ट वे मानव जीवन की अत्यन्त व्यापक एवं गहन अनुभूतियाँ हैं, जिनमें सचराचर से मानव जीवन का तादात्म्य स्थापित होता है। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में कालिदास ने मृग-शावक, पशु-पक्षी, लता गुल्म से मनुष्य की जिस एकात्मकता को जोड़ कर अपने को विश्व वंद्य बना लिया है वही भाव गीतों में सर्वत्र प्रस्फुटित ह। मेघदूत की भांति ही गीतों के संसार में भौंरा, कोयल, तोता, कौआ, घटा आदि मानव अनुभूतियों से द्रवित होते हैं।[3] कलात्मक कविता के विरुद्ध लोक गीतों की यह विशेषता है कि यह आदम मनोवृत्तियों के सरल और विशुद्ध रागात्मक रूप को झंकृत करते हैं। गीतों का मनोविज्ञान सार्वजनीन और शाश्वत है अतः हम विश्व के समस्त लोक-काव्य में एक ही प्रकार की प्रवृत्ति पाते हैं। प्रेम के विविध पहलू, आदर्श वीरता के आख्यान, वात्सल्य, जीवन संघर्ष के विविध मनोवैज्ञानिक चित्र, आध्यात्मिक प्रेरणाएं, रहस्यात्मक संकेत, प्रकृति से मानव-भावनाओं का तादात्म्य तथा नीति और उपदेश आदि गीतों का प्रिय विषय हैं। इन गीतों का उद्देश्य मनोरंजन के अतिरिक्त श्रम निवारण, रागात्मक वृत्तियों का उत्तेजन और अतीत की स्मृति भी है। लोक-गीतों के संसार में वहुधा हम वास्तविकता के प्रतिकूल एक स्वप्न जगत की सृष्टि भी पाते हैं जहाँ कोई दरिद्र नहीं है। पल-पल पर जीवन से लोहा लेता हुआ संघर्ष नहीं है। वास्तविकता के विपरीत यह पलायन वृत्ति परिस्थितियों की कठोरता को कोमल बना देती है। आधुनिक छायावाद पर पलायन वृत्ति

---

[1] "Eloquence is heard while poetry is something over heard."

[2] "Poietry is a social fact—The Beginnings of Poietry.

[3] रामनरेश त्रिपाठी—कविता कौमुदी, भाग—५

का जो आक्षेप आलोचकों ने किया है उसके विरोध में सुश्री महादेवी वर्मा ग्राम-गीतों का उदाहरण देती हैं—"जीवन के और साधारण स्तर पर भी हमारी इस धारणा का समर्थन हो सकेगा। चिड़ियों से खेत की रक्षा करने के लिए मचान पर बैठा हुआ कृषक जब अचानक खेत और चिड़ियों को भूल कर बिरहा या चैती गा उठता है तब उसमें खेत-खलिहान की कथा न कह कर अपनी किसी मिलन विरह-स्मृति को ही दोहराता है। चक्की के कठिन पाषाण को अपनी साँसों से कोमल बनाने का निष्फल प्रयत्न करती हुई दरिद्र स्त्री जब इस प्रयास को रागमय करती है तो उसमें चक्की और अन्न की बात न होकर किसी आम्रवन में पड़े झूले की मार्मिक कहानी रहती है।"

वास्तव में यह पलायन वृत्ति ही है। मानव की सहज-सौन्दर्य भावना जीवन के कटु अनुभवों को भूलने की चेष्टा में जिस स्वप्न जगत की सृष्टि करती है वही इन गीतों में प्रस्फुटित होती है। वास्तविक जगत में जो कल्पनाएँ साकार नहीं हो पातीं, गीतों के संसार में मानव का अवचेतन मन उन्हीं की सृष्टि कर एक अज्ञात सुखात्मक अनुभूति की योजना करता है। कल्पना का यह स्वर्ग स्वप्नों का वह सुषुप्ति लोक प्रस्तुत करता है जिसमें क्षणिक विश्राम कर वह पुनः जीवन-संघर्ष में प्रवृत्त होने के लिए नई शक्ति, नया बल और नवीन साहस संचय करता है।

साहित्यिक गीतों की परम्परा का उदय संभवतः चारण-काव्य के रूप में हुआ। वीरों के यश-गान की प्रवृत्ति आदम काल की अनुभूतियों से ही पल्लवित होती हुई मिलती है। उसका प्रथम साहित्यिक रूप ऋग्वेद की एक ऋचा में मिलता है जो राजा सुदास के अपने दस प्रतिद्वन्द्वियों पर विजय पाने के वर्णन में है। दिवोदास द्वारा संबर के पराजित होने की घटना का वर्णन भी अनेक बार मिलता है।

महाभारत काल में चारण काव्य के अथवा वीरों के यशो-गान के अनेक उद्धरण मिलते हैं। सूत, मागध ओर बन्दिन् विशेषण प्रशस्ति गायकों के अर्थ में हैं। युधिष्ठिर और अर्जुन के प्रति यशोगान का वर्णन मिलता है। यह यशो-गान संभवतः वाद्यों के साथ गाए जाते थे[1]। विराट के अन्तःपुर में छद्म वेश धारी अर्जुन संगीत के मध्य कथात्मक काव्य-गान करते थे। प्रोफेसर सिद्धान्त चारण काव्य पर विवेचन करते हुए इसकी तीन प्रमुख प्रवृत्तियाँ मानते हैं। एक तो राजदरबारों में परिपोषित यशोगान की प्रवृत्ति जिसमें चाटुकारिता की प्रवृत्ति निहित थी, दूसरी इतिवृत्तात्मक काव्य की जिसमें युद्धों के इतिवृत्त रहते थे। भारती कथा संभवतः इसी कोटि की एक प्राचीन रचना थी जिसमें उत्तरी और मध्य भारत के प्रमुख राजाओं के युद्ध का वर्णन है। इन युद्धों द्वारा छोटे-छोटे राज्यों के नष्ट होने ओर बड़े बड़े साम्राज्य स्थापन से एक नए प्रकार की इतिवृत्तात्मक कविता का जन्म हुआ होगा। छोटे राज्यों के नष्ट होने से इनके बन्दिन् या सूत या मागधों को अब कोई पुरस्कृत करने वाला न रहा होगा और इन परिस्थितियों ने एक तीसरे प्रकार के

---

[1] Sidhanta: The Heroic Age of India. "The minstrels and musicians greted the heroic Arjun with the sounds of musical instruments and eulogies."

चारण काव्य के लिए क्षेत्र प्रस्तुत किया होगा। यज्ञों के पुरोहित अनुष्ठान सम्बन्धी गानों के द्वारा अब भी सम्मान के अधिकारी थे। समय के साथ मानव में शौर्य का विशुद्ध तेज अपकर्ष की ओर और धार्मिक रहस्य भावना के साथ संशय और भय की भावना का जन्म हुआ होगा जिससे प्रेरित हो उसने यज्ञों को अनावश्यक महत्व दे पुरोहितों को अधिकाधिक पुरस्कृत किया होगा और यह देख कर चारणों ने धर्म की रक्षा में प्राणों की वाजी लगाने वाले वीरों की कल्पना कर, धर्म वीरों के प्रशस्ति गान कर कीर्ति और धन अर्जन किया होगा।

इन चारण गीतों के मनोविज्ञान में प्रशस्ति गान के साथ ही चाटुकारिता की भावना भी सन्निहित है, इससे यह भी प्रतीत होता है कि युद्ध और वीरता तक ही इनके गीतों का क्षेत्र सीमित न था और समय के साथ राजाओं के व्यक्तिगत ज़ीवन की प्रेम-कथाएँ अन्य रागात्मक वृत्तियों के उत्तेजन की प्रवृत्ति लेकर उद्‌बुद्ध हुई होंगी। परवर्ती चारण काव्य में शृंगार और वीर रस का ऐसा अद्‌भुत सम्मिश्रण मिलता है कि उसे विशुद्ध वीर काव्य नहीं कहा जा सकता। प्रेम-प्रसंगों में हुए युद्ध इन चारणों का प्रिय विषय हो गए और वीर-काव्य लगभग प्रेमाख्यानक काव्य।

चारण गीतों का क्षेत्र अत्यन्त ही सीमित रहा। गीत का उन्मुक्त आकाश मानव की विविध रागात्मक भावनाओं को कल्पना के पंख देकर उड़ने को निरन्तर उत्तेजित कर रहा था। प्रकृति का अनन्त सौन्दर्य वैभव उसके चतुर्दिश बिखरा पड़ा था और मानवीय शृंगार भावनाएँ उसमें मादकता घोल रही थीं। मन की अनन्त वृत्तियाँ जगत को अनन्त रूप दे रही थीं। कवि ने अपने अन्तर में एक अव्यक्त पीड़ा की अनुभूति की, उसके मानस में सप्त नहीं शत-शत स्वरों की रागिनी झंकृत होने लगी और उसने अपने गानों में विश्व को क्या दिया? रामायण, मेघदूत, शृंगार शतक, अमरूक शतक, गाथा सप्तशती, गीत गोविन्द इत्यादि। इन रचनाओं में व्यक्ति की अनुभूति विश्व हृदय की अनुभूति में स्पन्दित है। कवि का सौन्दर्य-साम्राज्य संवेदना की उस विराट अनुभूति में है जहाँ व्यष्टि समष्टि में लीन होकर 'मैं और तू' का भेद भूल जाती है। सौन्दर्य की इस सम्मोहिनी में कवि की तन्द्रिल अनुभूतियों ने जिस सत्य का उद्‌घाटन किया है उसमें कवि की अनुभूतियाँ निर्वसन हैं, नैतिकता में किसी प्रकार का दुराव नहीं, चेतन और अवचेतन में किसी प्रकार का दुराव नहीं। वह एक सत्य के साक्षात्कार के रूप में है जिसमें आनन्द की अनुभूति लोकोत्तर है। लौकिक भावनाओं के संस्कारों से जिनकी अनुभूतियाँ मुक्ति नहीं पा सकी हैं उन्हें इस काव्य में वासना की गन्ध पीड़ित करती है।

गीतों के इस व्यापक जगत में मानव सौन्दर्य की जो व्याख्या हुई, रागात्मक वृत्तियों का जैसा सूक्ष्म विकास एवं अभिव्यंजन हुआ वह अपनी अभिव्यक्ति में परिपूर्ण होते हुए भी ऐहिकता परक था—आमुष्मिकता की चिन्ता से सर्वथा मुक्त, स्वच्छन्द। 'गीत-गोविन्द' में अवश्य ही लौकिक शृंगार अलौकिक के क्रोड़ में पोषित और पल्लवित हुआ है। रामायण अलौकिक पुरुष के मानव रूप के कीर्ति गान में लोक भावनाओं का गान है। अन्य रचनाएँ पूर्णत: लौकिक हैं। इनके वातावरण में कुछ काल के लिए मानव की आध्यात्मिक, जिज्ञासा प्रसुप्त हो गई। देवताओं का संसार मानव संसार के इतने निकट आ पहुँचा था कि उसमें

किसी भी आध्यात्मिक जिज्ञासा के लिए कौतूहल शेष न रह सका, किन्तु यह अवस्था चिर-स्थायी न रह सकी और हमें पुनः आध्यात्मिक चेतना का स्वर प्रखर होता सुन पड़ा। भर्त्तृहरि का 'वैराग्य शतक' एवं 'नीति शतक' शंकर का 'भज गोविन्दम्' गान इसी प्रवृत्ति के द्योतक हैं। किन्तु इस काल की यह आध्यात्म भावना सौन्दर्य चेतना द्वारा प्रबुद्ध नहीं जहाँ वह अपने 'लाल' की लाली में रंगकर 'लाल' हो सके। उसमें सर्वत्र एक विषम कुरूपता का दर्शन हैं और नश्वरता के सन्देश ने कोमल भावनाओं के स्पन्दन व संस्पर्श विराग की अग्नि में झुलसा दिए हैं जिससे नारी और नारीत्व के विरुद्ध एक प्रबल आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। दर्शन और चिन्ता की इस धारा ने सिद्धों और नाथों की परम्परा तक आते-आते बड़ा जटिल एवं रहस्यमय रूप धारण किया। यौगिक क्रियाएँ, घट और ब्रह्मांड के रूपक, चमत्कार आदि ने गीतात्मक भावनाओं को एक प्रकार से अपंग ही बना दिया। विविध राग रागिनियों से जकड़ा हुआ यह सिद्धों और नाथों की परम्परा से प्राप्त गीति काव्य अपने दर्शन-पक्ष में अत्यन्त ही शुष्क और नीरस है। भाषा की ऊवड़-खाबड़ उलझनों के कारण काव्य की शाब्दिक सरसता भी वह खो चुका है। उसमें रागात्मक अनुभूतियाँ कम ओर तर्क तथा सिद्धान्त निरूपण का प्राचुर्य है। इन गायकों ने हृदय पक्ष का अपहरण कर काव्य में केवल मस्तिष्क पक्ष की प्रतिष्ठा का प्रयास कर उसे निर्जीव, निष्प्राण शरीर के समान कर दिया। उसके स्थायित्व का एक मात्र कारण यही है कि उसने अपने को संगीत से आवद्ध कर लिया है—हृदय की वस्तु कंठ में शरण पाकर अपनी प्राण-रक्षा कर सकी है।

इस गीति मनोवृत्ति का इतिहास सदैव ही युग की भावनाओं से प्रभावित और शासित हुआ है। युग की प्रवृत्तियाँ तत्कालीन परिस्थितियों से प्रभावित हुई हैं। आदिम नर की भावात्मक अनुभूतियों से लेकर सिद्धों की गीति परम्परा तक हम ने देखा है कि इन गायकों की अनुभूतियों में जीवन की छाया है और जीवन समाज के क्रोड़ में पोषित हुआ है। अपने चतुर्दिक वातावरण से कवि की अनुभूतियों को प्रेरणा मिलती है अतः आदिम नर की रागात्मक अभिव्यक्ति विशुद्ध रति जन्य थी तथा वेद कालीन उत्सवों में समृद्ध जीवन के प्रति आकर्षण और अनुराग युक्त; उपनिषद् काल में रहस्यात्मक जिज्ञासा जन्य और कालिदास आदि कवियों के युग में लौकिक समृद्धि के आकर्षण युक्त मानव-सौन्दर्य से सम्पन्न। इस समस्त काव्य में कवि ने सौन्दर्य को मुग्ध भाव से देखा है, नश्वरता और वैराग्य के गीत उसने नहीं गाए किन्तु बौद्ध काल में दार्शनिक चिन्तन ने जिस अनासक्ति का दृष्टिकोण ग्रहण किया, शंकर के मायावाद ने उसे सहारा दिया बौद्धों के शून्य और शंकर के मायावाद ने काव्य जगत् में अद्भुत क्रान्ति की। फलः स्वरूप हमारे रमते योगियों की गीति-धारा लोक भावना से उखड़ी हुई खँजड़ी के तारों की वस्तु और कंठ की पुकार मात्र रह गई। भावात्मक अभिव्यक्ति का स्थान उसमें खोजने पर ही कहीं मिलता है। 'महा सुख' की स्थिति 'शून्य' में होने के कारण अनुभूति भी शून्य ही रह गई। संवेदना का स्थान तर्क ने ले लिया। इस विषम परिस्थिति में कबीर की वाणी ने आश्चर्य जनक रूप से तर्क और संवेदना में सामंजस्यता स्थापित की।

———

परमाणुओं के स्पेक्ट्रम

डॉ० नन्दलाल सिंह

अध्यक्ष, स्पेक्ट्रास्कोपी विभाग

परमाणुओं के स्पेक्ट्रम में अनेक रेखाएँ पायी जाती हैं। सबसे कम रेखाएँ हाइड्रोजन परमाणु के स्पेक्ट्रम में होती हैं क्योंकि इस परमाणु में केवल एक इलेक्ट्रान न्यूक्लियस (nucleus) के चतुर्दिक परिभ्रमण करता रहता है। इससे अधिक रेखाएँ अल्कली तत्वों के स्पेक्ट्रम में होती हैं। रेखीय स्पेक्ट्रम की गहनता परमाणु के इलेक्ट्रानों की संख्या के साथ बढ़ती जाती है। लौह परमाणु के स्पेक्ट्रम में केवल दृश्य-क्षेत्र में २००० से अधिक रेखाएँ पाई गई हैं किन्तु जब हम आवर्त-सारिणी के अनुसार ऊच्च परमाणु संख्या वाले तत्त्वों के स्पेक्ट्रम को देखते हैं तो उनमें सरलता दिखाई पड़ती है। उनमें कम रेखाएँ मिलती हैं।

बहुत से परमाणुओं के स्पेक्ट्रम में यद्यपि समानता देखी जाती है तथापि उनकी सभी रेखाओं के तरंग-दैर्घ्य एक ही मान के नहीं होते। साथ ही परमाणु के स्पेक्ट्रम में कुछ रेखाएँ मोटी, कुछ बारीक (तीक्ष्ण = sharp) और कुछ सान्ध्यद्युति (diffused) दिखाई पड़ती हैं। उन रेखाओं की प्रखरता (intensity) में अन्तर पाया जाता है। परमाणुओं के संयोग से अणु बनते हैं। किसी अणु में दो परमाणु, किसी में तीन, चार अथवा और अधिक परमाणु होते हैं। ऐसे भी विशाल अणु हैं जिनके भीतर हजारों परमाणु संगठित पाए जाते हैं। इन सब अणुओं के स्पेक्ट्रम भी एक दूसरे से भिन्न होते हैं। इन्हीं के स्पेक्ट्रम के अध्ययन से अणुओं की भीतरी रचना और बन्धन-शक्ति का पता लगता है। दो-एक परमाणुओं तथा अणुओं के स्पेक्ट्रम चित्र संख्या (1) में दिखाए गए हैं।

परमाणुओं के स्पेक्ट्रम रेखीय और अणुओं के प्रायः पट्टीदार (band) होते हैं। स्पेक्ट्रम का अध्ययन इन रेखाओं तथा पट्टियों के शीर्षों के तरंग-दैर्घ्य को नापकर और उनकी प्रखरता का मान निकाल कर किया जाता है। इस मापन की यथार्थता (accuracy) उत्तरोत्तर बढ़ाई जा रही है क्योंकि स्पेक्ट्रोस्कोपी की प्रगति की आधार-शिला शुद्ध मापन ही है।

परन्तु यथार्थ मान निकालने से पहले प्रत्येक स्पेक्ट्रोस्कोपी के विद्यार्थी को कुछ तत्त्वों तथा अणुओं के स्पेक्ट्रम की जानकारी प्राप्त करना आवश्यक होता है ताकि वह किसी रश्मि-स्रोत (source of light) के स्पेक्ट्रम को देखकर बता सके कि दीप्तक में कौन-सा परमाणु अथवा अणु विद्यमान है। ऐसा परिज्ञान उसे न केवल दृश्य-क्षेत्र के स्पेक्ट्रम का ही होना चाहिए बल्कि अल्ट्रावायलेट एवं इन्फ्रारेड क्षेत्र के स्पेक्ट्रम-प्लेट तथा चार्ट का भी होना चाहिए। सामान्य अणुओं तथा परमाणुओं के स्पेक्ट्रम सभी क्षेत्रों में लिए गये हैं और उनकी प्रतिकृति बहुत सी पुस्तकों और पत्रिकाओं में दी गई है। दीप्तक का स्पेक्ट्रम

देखकर अथवा फोटो-प्लेट पर स्पेक्ट्रम उतार कर इन चित्रों से मिलान करने का अभ्यास करना बहुत आवश्यक है। तुलना करते समय रेखाओं की प्रखरता और उनके तरंगदैर्ध्य दोनों पर ध्यान देना चाहिए। साथ ही निकटवर्ती हल्की रेखाओं और पट्टियों की रचना को मिलाना चाहिए नहीं तो आगे अध्ययन में अनेक उलझनें आ जाती हैं और स्पेक्ट्रम का अध्ययन शुद्ध नहीं हो पाता।

सोडियम की उपस्थिति का पता दृश्य क्षेत्र में पीली रेखा से लगता है। यह पीली रेखा कुछ बड़े स्पेक्ट्रोस्कोप में दो दिखाई पड़ती है। इसको सोडियम की डी (D) रेखायें कहते हैं। इनका तरंगदैर्ध्य 5896 A° और 5890 A° होता है। इनके अतिरिक्त दृश्य क्षत्र में सोडियम की कई हल्की रेखाएँ पाई जाती हैं। हाइड्रोजन के स्पेक्ट्रम में चार रेखाएँ दृश्यक्षेत्र में दिखाई पड़ती हैं। इसमें लाल रेखा को $H\alpha$ कहते हैं; इसका तरंगदैर्ध्य 6562 A° है। दूसरी हरी रेखा H_B का तरंगदैर्ध्य 4861 A° है। ये दोनों रेखाएँ अपनी प्रखरता के कारण स्पष्ट पहचानी जा सकती हैं। इनसे हल्की Hr और $H\delta$ रेखाएँ क्रमानुसार 4340 A° और 4101 A° पर दिखाई पड़ती हैं। पारदपरमाणु का स्पेक्ट्रम पहचानना अधिक सहज होता है। इस स्पेक्ट्रम में एक लाल रेखा 6234 A° पर, दो पीली रेखाएँ 5790 A° और 5770 A° पर, एक बहुत प्रबल हरी रेखा 5461 A° पर, एक नीली रेखा 4358 A° पर और दूसरी नीली रेखा 4041 A° पर दृश्य-क्षेत्र में दिखाई पड़ती हैं। बड़े स्पेक्ट्रोस्कोप सें दोनों पीली रेखाएँ एक दूसरे से स्पष्टः अलग-अलग पाई जाती हैं और नीले क्षेत्र में तीन रेखाएँ दीखती हैं। अल्ट्रावायलेट क्षेत्र में 2537 A° की रेखाएँ पारद परमाणु की उपस्थिति 1/10000 ग्राम की मात्रा में भी परख लेना सरल होता है। यह रेखा बड़ी प्रखर होती है।

ताँबे के स्पेक्ट्रम में हल्की लाल-पीली रेखाओं के अतिरिक्त तीन रेखायें जो हरे क्षेत्र में 5218 A°, 5153 A° और 5105 A° पर बनती हैं, इस परमाणु की द्योतक हैं। अल्ट्रावायलेट क्षेत्र में इसकी दो रेखाएँ 3274 A° और 3247 A° पर सरलता पूर्वक पहचानी जा सकती हैं।

इसी प्रकार अणुओं के विशिष्ट स्पेक्ट्रम होते हैं। C_2, CN, NO, CO, के पट्टीदार स्पेक्ट्रम को पहचानना कठिन नहीं है। ऐसे द्वयकअणु (diatomics) के कुछ स्पेक्ट्रम चित्र संख्या (2) में दिखाये गये हैं।

इनकी जानकारी किसी अज्ञात एतदर्थ नवीन स्पेक्ट्रम के अध्ययन में बड़ी ही उपयोगी होती है। पहचान मात्र से हमें किसी परमाणु अथवा अणु की उपस्थिति का पता तो लगता है परन्तु उनकी रचना की विशेष जानकारी के लिए हमें उन रेखाओं तथा पट्टियों के शीर्षों का तरंग-दैर्ध्य यथार्थता पूर्वक मालूम करना परम आवश्यक होता है।

स्पेक्ट्रम के अध्ययन के संबंध में यह ध्यान रखना चाहिए कि पेरिस में रक्खे हुए प्रमाण मीटर (standard meter) के हिसाब से कैडमियम की लाल रेखा का तरंगदैर्ध्य 6438. 4696 A° ही मुख्य प्रमाण माना गया है। इस प्रमाण-तरंगदैर्ध्य से अन्य सुलभ तत्त्वों की स्पेक्ट्रम-रेखाओं के तरंग-दैर्ध्य 1/10000 = 0.0001 A° तक की शुद्धता तक

ठीक-ठीक नापकर उन्हें गौण-प्रमाण (secondary standards) माना गया है और उन्हीं के सहारे किसी अज्ञात स्पेक्ट्रम का अध्ययन किया जाता है। किसी वस्तु के स्पेक्ट्रम को जो अज्ञात हो अनुकूल स्पेक्ट्रोग्राफ द्वारा फोटो-प्लेट पर उतार कर उसी प्लेट पर शोधित स्पेक्ट्रोग्राफ को बिना स्पर्श किये हार्टमैन डायाफ्राम (hartmann diaphragm) द्वारा परीक्ष्यमाण स्पेक्ट्रम पर अथवा उससे सटाकर उपयुक्त तत्त्व का प्रमाण-स्पेक्ट्रम (standard spectrum) उतारा जाता है। इसे तुलनात्मक स्पेक्ट्रम (comparison spectrum) कहते हैं। हार्टमैन डायाफ्राम में सीढ़ी के समान तीन बराबर नाप के चौकोर छिद्र होते हैं। यह स्पेक्ट्रोग्राफ के दीर्घछिद्र के ठीक सामने सटाकर रक्खा जाता है और इसे सरकाकर दीर्घछिद्र के किसी तीन भाग में से एक भाग की रश्मियाँ स्पेक्ट्रोग्राफ के भीतर जाने पाती हैं। इस प्रकार एक-एक कर तीनों भाग से दीप्तक-स्पेक्ट्रम के तीन विभिन्न स्पेक्ट्रम उतारे जा सकते हैं। ऐसे तुलनात्मक स्पेक्ट्रम के प्रसंग में पारद, लोहा, ताँबा, हीलियम, नियोन आदि तत्त्वों के ही स्पेक्ट्रम उतारे जाते हैं जिनको तरंगदैर्घ्यों के शुद्धतापूर्वक मापन के बाद गौणप्रमाण के रूप में निर्धारित किया गया है। पहले तुलनात्मक स्पेक्ट्रम की रेखाओं को पहचान कर उनका तरंगदैर्घ्य ज्ञात किया जाता है और फिर परीक्ष्यमाण स्पेक्ट्रम की रेखाओं की दूरी इन प्रामाणिक रेखाओं से नापकर उनका तरंगदैर्घ्य ज्ञात किया जाता है।

चित्र सं० (3) देखिये। इसमें हार्टमैन पत्र के साथ लोहे का स्पेक्ट्रम ऊपर नीचे लिया गया है और उनके मध्य में अज्ञात स्पेक्ट्रम है बहुत से स्पेक्ट्रोग्राफ में तरंगदैर्घ्य का स्केल भीतर लगा रहता है। स्पेक्ट्रम से सटाकर इस स्केल का भी फोटो उतारा जाता है। स्पेक्ट्रम की साधारण परीक्षा के लिए तरंग-दैर्घ्य का पैमाना बड़ा ही उपयोगी होता है। इस पैमाने से किसी स्पेक्ट्रम की रेखाओं के तरंगदैर्घ्यों का मान सीमित यथार्थता तक ही मालूम किया जा सकता है। तुलनात्मक स्पेक्ट्रम लेते समय ध्यान रखना चाहिए कि जिस क्षेत्र के अज्ञात स्पेक्ट्रम का अध्ययन करना है उस क्षेत्र में प्रामाणिक रेखायें अधिक हों और वे यथासंभव समान रूप से सर्वत्र पाई जायँ। दृश्य-क्षेत्र मे लोहे का और अल्ट्रावायलेट में परद और ताँबे का स्पेक्ट्रम अधिक उपयुक्त है। लोहे और ताँबे की रश्मियाँ आर्क (arc) और स्पार्क (spark) विधिसे और पारद की रश्मियाँ ग्लौ-विसर्जन (glow discharge) तथा हाईफ्रीक्वेन्सी डिसचार्ज से उत्पन्न की जाती हैं।

तुलनात्मक स्पेक्ट्रम चार्ट

प्रत्येक प्रिज्म-स्पेक्ट्रोग्राफ का विस्तरण-वक्र (dispersion curve) उसके लेंसों और प्रिज्म के अनुसार किसी दूसरे से भिन्न हो सकता है। इस कारण किसी एक स्पेक्ट्रौग्राफ पर लिये गये स्पेक्ट्रम की तुलना दूसरे पर लिए गए स्पेक्ट्रम के साथ करना ठीक नहीं होता। प्रत्येक स्पेक्ट्रोग्राफ द्वारा परिज्ञात स्पेक्ट्म फोटो—प्लेट पर लेकर उनकी प्रमुख रेखाओं का तरंगदैर्घ्य लिखकर रखना चाहिए और उसी स्पेट्रोग्राफ पर उतारे हुए अज्ञात स्पेट्रम का अध्ययन इन तुलनात्मक स्पेट्रम-प्लेटों से करना चाहिए। ग्रेटिंग-स्पेट्रोग्राफ में विस्तरण सर्वत्र लगभग एक समान पाया जाता है। अतः ग्रेटिंग प्लेट का अध्ययन एक मिलीमीटर के कागज की पत्ती को स्पेक्ट्रम से सटाकर किया जा सकता है किन्तु किन्हीं दो ग्रेटिंग स्पेक्ट्रोग्राफ का अभिवर्धन और विस्तरण समान नहीं होता। अतः इसी ग्रेटिंग

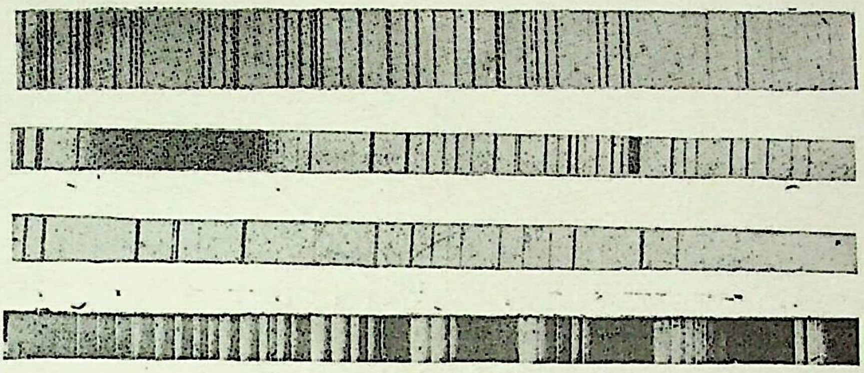

चित्र सं० १ पृष्ठ 54

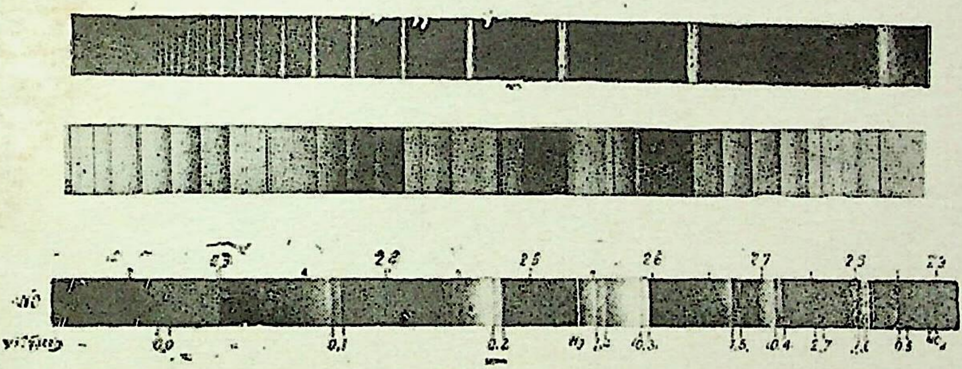
22
25
26
27
0.0
0.1
0.2
0.3
1.5
0.4
2.7

चित्र सं० २ पृष्ठ 55

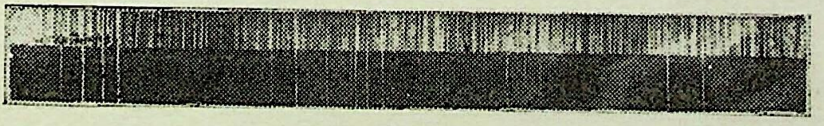

चित्र सं० ३ पृष्ठ 56

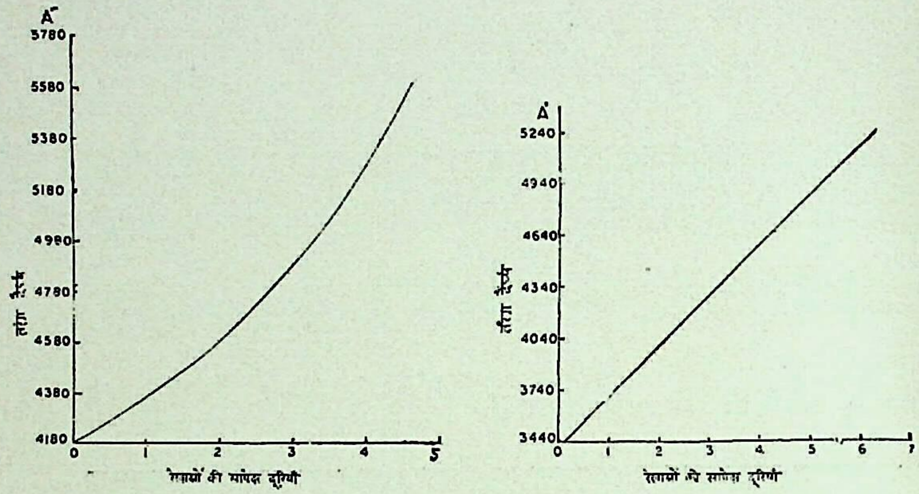

चित्र सं० ४ पृष्ठ 57

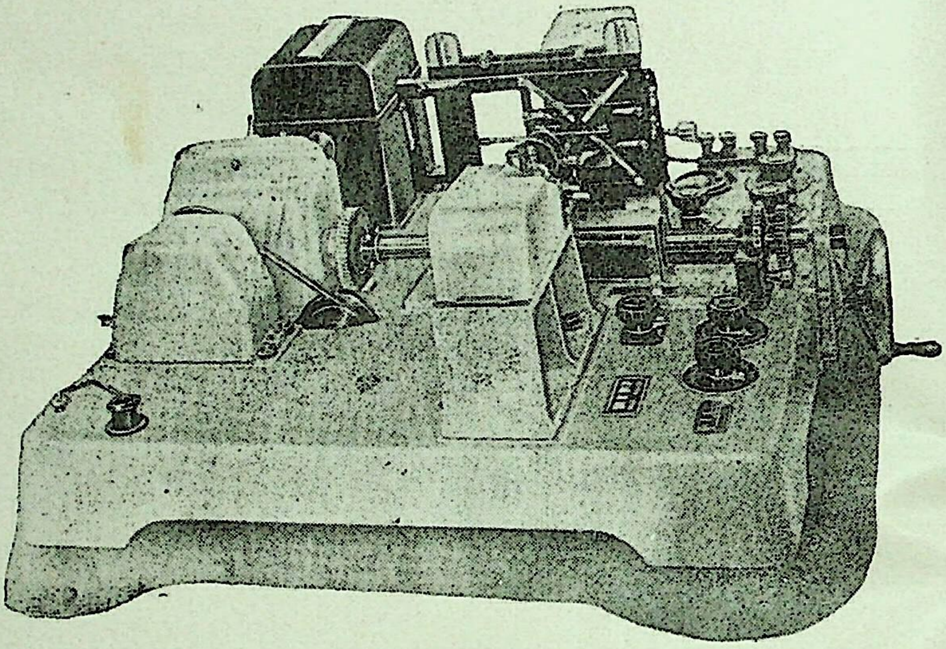

चित्र सं० ५ पृष्ठ 58

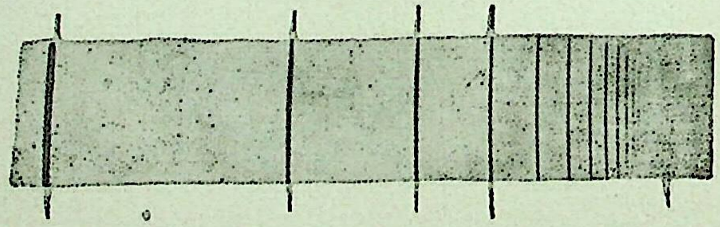

चित्र सं० ६ पृष्ठ 62

स्पेक्ट्रोग्राफ पर लिये गये तुलनात्मक स्पेक्ट्रम-प्लेट का उपयोग अज्ञात स्पेक्ट्रम के अध्ययन में करना उचित होता है।

तरंग दैर्ध्य का मान निकालना

अज्ञात स्पेक्ट्रम की रेखाओं के तरंग-दैर्ध्य लगभग 1A° की यथार्थता तक तुलनात्मक विधि से मालूम किये जा सकते हैं और स्पेक्ट्रम की पहचान की जा सकती है। यदि मापन की यथार्थता ± 01A° से अधिक शुद्ध लेनी हो तो कम्पैरेटर (comparator) के द्वारा ज्ञात तथा अज्ञात रेखाओं की दूरी नापकर तरंगदैर्ध्य मालूम करना चाहिए। पहले ज्ञात तरंग-दैर्ध्यों और उनकी दूरी के बीच ग्राफ बनाया जाता है। इसे स्पेक्ट्रोग्राफ का विस्तरण-वक्र (dispersion curve) कहते हैं। इसी ग्राफ से किसी अज्ञात ग्राफ रेखा की दूरी के अनुकूल उसका तरंग-दैर्ध्य पढ़ा जाता है। ग्रेटिंग स्पेक्ट्रोग्राफ का विस्तरण कर लगभग सीधी रेखा होता है। चित्र संख्या (4) में प्रिज्म और ग्रेटिंग दोनों प्रकार के स्पेक्ट्रोग्राफ का विस्तरण-ग्राफ दिखाया गया है।

यदि ज्ञात स्पेक्ट्रम की रेखायें समीप हों और कोई अज्ञात स्पेक्ट्रम की रेखा उनके बीच में हो तो तीनों की आपेक्षिक दूरी नापकर ऐकिक नियम से अज्ञात रेखा का तरंगदैर्ध्य मालूम किया जा सकता है। मापन की यथार्थता बढ़ाने के लिए हार्टमैन समीकरण का उपयोग किया जाता है। प्रमाण-स्पेक्ट्रम की तीन रेखायें चुन ली जाती हैं और उनका तरंगदैर्ध्य ठीक-ठीक ज्ञात किया जाता है। पहले इन तीनों रेखाओं पर निशान लगा देते हैं और फोटो प्लेट को कम्पैरेटर पर रखकर तीनों रेखाओं का तथा उनके बीच की स्पेक्ट्रम की रेखाओं का तथा बैंडशीर्ष (band head) का स्थान एक ओर से कैम्पैरेंटर के स्केल पर पढ़ते जाते हैं। अच्छे कैम्पैरेंटर पर किसी रेखा का स्थान 0.002 मि० मी० को यथार्थता तक पढ़ा जा सकता है फिर हार्टमैंन समीकरण से अज्ञात रेखा के तरंगदैर्ध्य (λ) का मान

$$\lambda = \lambda 0 + \frac{c}{d = do}$$

निकाला जाता है। समीकरण में λ_o, c और do उसी मापन क्षेत्र के लिए स्थिरांक हैं इनके मान तीनों ज्ञात रेखाओं के तरंगदैर्ध्य तथा कम्पैरेटर पर उनके स्थान मि० मी० में लेकर ज्ञात किया जाता है फिर प्रथम ज्ञात रेखा के स्थान से उस रेखा की दूरी d नापकर सूत्र रेखा का तरंगदैर्ध्य निकाला जाता है। अधिक शुद्ध मापन के लिए ज्ञात स्पेक्ट्रम की रेखाओं के स्थान का मान लगाकर उनके तरंगदैर्ध्य निकाले जाते हैं फिर उनके प्रामाणिक तरंगदैर्ध्य से मिलान करके देखते हैं कि मापन-विधि में स्थान-स्थान पर कितनी त्रुटि पायी जाती है जो पूरी सावधानी रखने पर भी ठीक नहीं की जा सकती है। इस प्रकार विभिन्न तरंगदैर्ध्यों की त्रुटियों का मान मालूम हो जाता है यदि त्रुटि +.01A° है तो उस तरंगदैर्ध्य के मान में शुद्धि —.01A° करनी चाहिए। इस प्रकार तरंगदैर्ध्य और शुद्धियों के बीच एक ग्राफ बनाया जाता है और अज्ञात तरंगदैर्ध्यों के मान में आवश्यक शुद्धि कर ली जाती है।

स्पेक्ट्रम मापन की इकाइयाँ

दृश्य तथा अल्ट्रावायलेट क्षेत्र में तरंगदैर्ध्य का मान एंगस्ट्राम (A°) में निकाला जाता है। पेरिस के प्रमाण मीटर के नाप से कैडमियम की लाल रेखा का तरंगदैर्ध्य 6433.4696A° होता है। यह मान 10000000 में 1 तक की यथार्थता तक ज्ञात किया गया है। अतः $1A^\circ = 1/6433.4696$ कैडमियम की लाल रेखा के तरंग दैर्ध्य के बराबर होता है। किन्तु कलन की सरलता के लिए $1A^\circ = 10^{-8}$ सें० मी० लिया जाता है। इसी के अनुसार अनेक तत्त्वों की रेखाओं के तरंगदैर्ध्य विवर्तन-ग्रेटिंग पर लिए गये स्पेक्ट्रम को नापकर निर्धारित किये गये हैं।

इन्फारेड क्षेत्र में तरंगदैर्ध्य का मान माइक्रोन (μ) में निकाला जाता है। माइक्रोन $(1\mu) = 10^{-4}$ सें० मी० होता है। हम जानते हैं कि

तरंगदैर्ध्य $\lambda = c/\nu$ होता है

जिसमें $c = 3 \times 10^{-10}$ सें० मी० प्रति सेकेण्ड रश्मि का वेग और ν उसकी आवृत्ति-संख्या है। रश्मि का वेग माध्यम के वर्तनांक पर निर्भर करता है। अतः शून्य में रश्मिवेग मालूम करने के लिये खुली हवा में ज्ञात किए तरंगदैर्ध्य के मान की शुद्धि करना आवश्यक होता है।

रश्मियाँ पदार्थ के किसी अवयव के परिभ्रमण अथवा दोलन से उत्पन्न होती हैं। अतः रश्मि की आवृत्ति-संख्या किसी अवयव की आवृत्ति-संख्या (परिभ्रमण अथवा दोलन) के अनुकूल होती है, अर्थात् रश्मि की आवृत्ति-संख्या स्थायी होती है। इसलिए आवृत्ति-संख्या में स्पेक्ट्रम का मापन अधिक उपयोगी होता है। रश्मि का तरंगदैर्ध्य नापकर उसे सूत्र $\nu - = \frac{c}{\lambda}$ द्वारा उसकी आवृत्ति-संख्या में बदल लेना चाहिए। $\frac{1}{\lambda}$ से तरंग-संख्या (तरंगांक) का बोध होता है; अर्थात् एक सेण्टीमीटर में रश्मि की इतनी पूर्ण तरंगे पायी जाती हैं। अतः इस तरंग-संख्या का मान शून्य में मालूम कर रश्मि के वेग से गुणा कर रश्मि की आवृत्ति-संख्या निकाली जाती है। सर्वसाधारण के उपयोग के लिए काइजर (Kayser) ने खुली हवा में निकाले हुए तरंग दैर्ध्यों को उनके निर्वातीय (vacuum) मानों में परिवर्तित करने के नियम और उनके मान सारणी बद्ध कर दिया है और उन तरंगों की तरंग-संख्या भी दे दी है। तरंग-संख्या की इस वृहद् सारणी का नाम "tabelle der schwingungzahlen" है। हाल में नेशनल ब्यूरो आफ स्टैण्डर्ड्स (N. B. S. America) ने कैडमियम रेखा को प्रमाण मानकर एक दूसरी तरंगांक की सारणी तैयार की है।

साधारणतया रेखाओं की प्रखरता का अनुमान सबसे प्रबल रेखा की प्रखरता को 10 और सबसे क्षीण रेखा की प्रखरता को शून्य मानकर सापेक्षतः किया जाता है। अधिक शुद्धता के लिए डेंसिटोमीटर का उपयोग किया जाता है चित्र सं० (5)। डेंसिटोमीटर में स्पेक्ट्रमप्लेट पर प्रकाश की सूक्ष्म किरणें एक छिद्र से डाली जाती हैं। प्लेट को पार कर प्रकाश की किरणें फोटो-सेल अथवा वैद्युत युग्म पर पड़ती हैं। यदि किरणें किसी काली रेखा

पर पड़ती हैं तो क्षीण हो जाती है और यदि वे प्लेट के स्वरूप स्थान से गुजरती हैं तो किरणें लगभग पूर्ववत् प्रबल निकलती हैं। इस किरणपुंज की प्रखरता के अनुकूल फोटोसेल अथवा वैद्युत युग्मों में विद्युत विभव उत्पन्न होता है और इसकी धारा का मान गैलवानोमीटर के विक्षेपण से मालूम किया जाता है। इसी भाँति यदि स्पेक्ट्रम की रेखा की पृष्ठभूमि पर कुछ कालापन अन्य कारणों से रहता है तो उसका भी मान ज्ञात हो जाता है और रश्मि की वास्तविक प्रखरता का मान निकाला जा सकता है।

आजकल फोटोसेल अथवा वैद्युतयुग्म के क्षीण विद्युत-विभव को उत्तरोत्तर बढ़ाकर स्वलेखी रेकार्डर (automatic recorder) यंत्र बनाये गये हैं जिनसे किसी रश्मि के तरंगदैर्ध्य के साथ उसकी प्रखरता का मान भी ज्ञात किया जाता है।

तरंगदैर्ध्यों की सारणी

उपयोगिता की दृष्टि से तरंगदैर्ध्यों की सारणी दो प्रकार से तैयार की जाती है। एक रीति में तरंगदैर्ध्य क्रम से दिये गये हैं और उनके सामने परमाणु तथा अणु के नाम लिखे रहते हैं। दूसरी रीति में परमाणु तथा अणु के नाम और उनके नीचे उनके तरंगदैर्ध्य क्रम से दिये रहते हैं। रेखाओं और पट्टियों की प्रखरता (intensity) का मान दोनों प्रकार की सारिणी में प्रत्येक के सामने एक पैमाने के हिसाब से लिखे रहते हैं। प्रयोगशाला में ऐसी पुस्तकों की बड़ी आवश्यकता पड़ती है।

आज तरंगदैर्ध्यों के कई ऐसे कोश प्रकाशित किये गये हैं। काइजर-रिशिल की पुस्तक हाप्टलीनियन दर लीनीएन्शपेक्ट्रन (Hauptlinien der linienspektren) में 2700 प्रमुख रेखाओं का विवरण 90850 A° से लेकर 33A° तक दिया हुआ है।

मसाइन्स्टीट्यूट आफ टेक्नालोजी (Massachusetts Institute of Technology)

M.I.T. द्वारा प्रकाशित तरंगदैर्ध्य सारणी में 10975 रेखाओं के तरंगदैर्ध्य 10000 A° से लेकर 2000 A° तक क्रमानुसार उल्लिखित हैं किन्तु उनमें कोई भी प्रकाशन पूर्ण नहीं कहा जा सकता और तत्त्वों की सभी रेखाओं का विवरण एकत्र नहीं पाया जा सकता। बहुत से तत्त्वो के स्पेक्ट्रम का अध्ययन 6000 A° के ऊपर और 2500 A° से लेकर 2000 A° तक पूर्ण नहीं हो सका है। इसी भाँति बहुत से तत्त्वों के स्पेक्ट्रम का अध्ययन अल्ट्रावायलेट शून्य क्षेत्र में नहीं हो सका है। हाल में रुथेनियम, रोडियम (rhodium), थोरियम और यूरेनियम के स्पेक्ट्रम नापे गये हैं। अस्तु, अभी परमाणु स्पेक्ट्रम में बहुत खोज बाकी है। अत्युक्ति न होगी कि अभी लाखों स्पेक्ट्रम रेखायें नापनी हैं जो साधारण तथा आयनित परमाणु से निकाली जा सकती हैं।

M.I.T. के प्रोफेसर जी० आर० हैरिसन ने एक ऐसे स्वलेखी कम्पैरेटर की रचना की है कि जिसके द्वारा 10″ लम्बे स्पेक्ट्रम का अध्ययन ठीक-ठीक 2 मिनट में किया जा सकता है और लगभग 2000 रेखाओं के तरंगदैर्ध्य उनकी प्रखरता के साथ ज्ञात किये जा सकते हैं।

रेखीय स्पेक्ट्रम का विश्लेषण

प्रायः बुन्सन ज्वालक, आर्क तथा स्पार्क विधि से उत्तेजित कर तत्वों के स्पेक्ट्रम लिये जाते हैं। सामान्यतः ज्वालक में उद्दीपक ऊर्जा कम, आर्क में अधिक और स्पार्क में उससे भी अधिक होती है। आर्क और स्पार्क के स्पेक्ट्रम में रेखाओं की प्रखरता में अन्तर पाया जाता है। प्रारम्भ में तत्व की जो रेखायें आर्क में प्रबल देखी गयीं उन्हें आर्क रेखा और जो स्पार्क में प्रखर थीं उन्हें स्पार्क रेखा कहा गया, किन्तु रेखाओं का ऐसा विभाजन किसी महत्त्व का नहीं। क्योंकि आज हमें विदित हो गया है कि आर्क की अपेक्षा स्पार्क में उर्जा अधिक होती है। आर्क स्पेक्ट्रम तत्व के साधारण परमाणु के और स्पार्क स्पेक्ट्रम आयनित परमाणु के होते हैं। इसी दृष्टि से तरंगदैर्ध्य सारणी में रेखाओं का विवरण देते समय तत्व की साधारण स्थिति अथवा आयनित स्थिति का भी संकेत किया जाता है, जैसे कि—

Fe I से हमें लोहे के साधारण परमाणु की रेखा का,
Fe II से लोहे के प्रथम आयनित परमाणु की रेखा का, और
Fe III से लोहे के द्वितीय आयनित परमाणु की रेखा का बोध होता है।

रेखीय स्पेक्ट्रम की श्रेणियाँ

सरल स्पेक्ट्रम की रेखाएँ श्रेणीबद्ध पाई जाती हैं। रेखाओं की श्रेणी के बीच की दूरी उच्चतम तरंगदैर्ध्य की ओर से लघु तरंग की ओर बराबर घटती जाती है। इसी के साथ रेखाओं की प्रखरता भी क्षीण होती जाती है और अन्त में रेखायें इतनी सन्निकट आ जाती हैं कि उनका बिलगाव किंचित बड़े विभेदक स्पेक्ट्रोग्राफ से ही सम्भव हो। श्रेणी यहीं समाप्त हो जाती है। इस अन्तिम सीमा को श्रेणी की सीमा (limit) कहते हैं। हाइड्रोजन, सोडियम, पोटैशियम आदि तत्वों में ऐसी चार श्रेणियाँ पायी जाती हैं। हीलियम, कैलशियम, बेरियम, परद आदि में श्रेणियों की संख्या दूनी अथवा और अधिक हो जाती है। हाइड्रोजन की एक श्रेणी की चार रेखायें दृश्य-क्षेत्र में पड़ती हैं। उनके बीच की दूरी में नियमित घटाव देखकर प्रो० बामर ने इन रेखाओं के तरंगदैर्ध्य को ठीक-ठीक निकाला और उनके मान को एक सूत्र में व्यक्त करने की चेष्टा की। बामर के पहले अनेक वैज्ञानिकों ने इसी तरह के प्रयास किये थे किन्तु वे सफल न हो सके। बामर के सूत्र के अनुसार हाइड्रोजन श्रेणी की किसी रेखा का तरंगदैर्ध्य

$$\lambda = h\, n_1{}^2/(n_1{}^2—2^2) \text{ अथवा}$$

$$\lambda = 36\ 45.6\ n_1{}^2/n_1{}^2—4$$

से व्यक्त किया जा सकता है। इस सूत्र में $h = 3645{\cdot}6$ स्थायी अंक है। $n_1 = 3, 4, 5, 6\cdots\cdots\cdots$ क्रमशः रखकर चारों रेखाओं का तरंगदैर्ध्य मालूम किया जा सकता है। नीचे दी हुई सारिणी में सूत्र द्वारा कलन किया हुआ मान प्रथम स्तम्भ में और प्रयोगात्मक मान द्वितीय स्तम्भ में दिया गया है। अन्तिम स्तम्भ में दोनों का अन्तर दिया गया है।

सूत्र द्वारा	प्रयोगात्मक	अन्तर
$H\alpha = \frac{9}{5}\,h = 6562.08\ A^\circ$	$6562.10\ A^\circ$	$+0.02\ A^\circ$
$H_\beta = \frac{16}{12}\,h = 4860.80\ A^\circ$	$4860.74\ A^\circ$	$-0.06\ A^\circ$
$Hr = \frac{25}{21}\,h = 4340.00\ A^\circ$	$4340.10\ A^\circ$	$+0.10\ A^\circ$
$H\delta = \frac{36}{32}\,h = 4101.30\ A^\circ$	$4101.20\ A^\circ$	$-0.10\ A^\circ$

हाइड्रोजन स्पेक्ट्रम की इसी श्रेणी में इन चारों से भी छोटी तरंगदैर्घ्य की रेखायें अल्ट्रावायलेट क्षेत्र में पायी जाती हैं। उनमें 10 रेखाओं के तरंगदैर्घ्य के मान में इसी प्रकार अधिक से अधिक 4 A° का अन्तर पाया गया। यह अन्तर मापन की शुद्धि सीमा के भीतर ही था, अतः बामर सूत्र की उपयोगिता में कोई सन्देह नहीं रहा।

यदि तरंगदैर्घ्य को तरंग-संख्या में बदल दिया जाय तो तरंगांक के लिए बामर सूत्र का रूप इस प्रकार होता है :—

$$\nu = R\left\{\frac{1}{2^2} - \frac{1}{n_1^{\,2}}\right\}$$

$$\text{अथवा}\quad \nu = \frac{R}{2^2} - \frac{R}{n_1^{\,2}}$$

इस सूत्र में R का मान स्थायी पाया जाता है। इसे रिडवर्ग का स्थिरांक कहते हैं और इसका मान $R = 109677.581\ \text{cm}^{-1}$ होता है।

हाइड्रोजन स्पेक्ट्रम की सभी श्रेणियों को व्यक्त करने के लिए बामर का सूत्र $\nu = R\left\{\frac{1}{n_2^{\,2}} - \frac{1}{n_1^{\,2}}\right\}$ उपयोगी होता है जिसमें n_2 और $n_1 > n_2$ पूर्ण संख्या ली जाती है। यदि $n_2 = 1$ और $n_1 = 2, 3, 4, 6$—— ∞ लिये जाँय तो सूत्र से हमें हाइड्रोजन स्पेक्ट्रम की लाइमन श्रेणी की रेखाओं का तरंगांक ज्ञात होता है जो अल्ट्रावायलेट क्षेत्र में पायी जाती हैं। इस श्रेणी का पता प्रो० लाइमन ने लगाया था। इसी भाँति यदि $n_2 = 2$ और $n_1 = 3, 4, 5, 6,$———∞ ली जाँय तो हमें बामर श्रेणी की रेखाओं की तरंगसंख्या का मान मिलता है। इस श्रेणी की चर्चा हम पहले कर चुके हैं। यदि $n_2 = 3$ और $n_1 = 4, 5, 6, 7 \cdots\cdots\cdots \infty$ लिये जांय तो सूत्र से हमें पाशेन श्रेणी (Paschen series) की और $n_2 = 5$, $n_1 = 5, 6, 7, 8, 9 \cdots\cdots\cdots \infty$ से ब्राकेट श्रेणी (Bracket series), $n_2 = 5$, $n_1 = 6, 7, 8 \cdots\cdots \infty$ से फूंड श्रेणी (Pfund series) की रेखाओं की तरंग-संख्या का मान मिलता है। यह श्रेणियाँ इन्फ्रारेड क्षेत्र में पायी जाती हैं।

प्रत्येक श्रेणी के लिए n_2 स्थायी पूर्णांक है और n_1 का मान पूर्णांक (n_2+1) से इकाई अधिक संख्या से लेकर क्रमशः सभी पूर्णांकों से होता हुआ अनन्त तक चला जाता है।

यदि $n_1 = \infty$ हो जाय तो हम श्रेणी की सीमा पर पहुँचते हैं। इस श्रेणी की सीमा $\nu_\infty = R/n_2^2$ होता है। n_2 स्थायी रहने और n_1 के मान में इकाई की उत्तरोत्तर वृद्धि देखकर हमें विदित होता है कि रेखाओं की दूरी एक दूसरे के बीच क्रमशः घटती जाती है और श्रेणी कभी भी श्रेणी सीमा को पार नहीं कर सकती। श्रेणी-सीमा के पूर्व अगणित रेखाएँ सन्निकट जुटी होती है। हाइड्रोजन के पूर्ण स्पेक्ट्रम का रूप चित्र संख्या (6) में दिखाया गया है।

परमाणु राशियाँ (atomic terms)

स्पेक्ट्रम की रेखाओं को परमाणु की दो ऊर्जा राशियों से व्यक्त करना बामर-सूत्र के अनुसार सुगम होता है। एक रेखा केवल एक रश्मि की द्योतक होती है। रेखा की तरंग-संख्या में प्लांक स्थिरांक और रश्मियों का गुणा कर देने से रश्मि की ऊर्जा का मान मिलता है जो परमाणु से निकली हैं। अतः यदि हम $R/n^2 = T$ (राशि-term) कहें तो किसी रेखा की तरंग संख्या $\nu = T_2 - T_1$ ली जा सकती है।

अल्कली तत्त्व जैसे लीथियम, सोडियम पोटैशियम आदि के स्पेक्ट्रम में भी रेखीय श्रेणियाँ पायी जाती हैं और उनको भी हम इसी श्रेणी-सूत्र से व्यक्त कर सकते हैं। उनमें भी किसी रेखा की तरंग-संख्या का मान दो राशियों के अन्तर के बराबर पाया जाता है। इन राशियों से हमें परमाणु की साधारण (normal) और विभिन्न उत्तेजित अवस्थाओं की ऊर्जा का बोध होता है। हाइड्रोजन के समान अन्य तत्त्वों की राशियाँ (terms) सहज रूप से नहीं ज्ञात की जा सकती हैं क्योंकि अन्य तत्त्वों के परमाणु में एक से अधिक इलेक्ट्रान होते हैं और केन्द्र का भार अधिक होता है।

यदि हम परमाणु की इन राशियों (term values) का हिसाब लगा लें तो रिडवर्ग और रिट्ज के नियम से किसी परमाणु-स्पेक्ट्रम की किसी रेखा की तरंग-संख्या का मान ज्ञात कर सकते हैं। इस नियम के अनुसार—

किसी रेखा की तरंग-संख्या परमाणु की दो राशियों के अन्तर के बराबर होती है। उदाहरण के लिए $T(4) = R/16$ और $T(10) = R/100$ यदि रिडवर्ग स्थिरांक का मान लेकर $T(4)$ और $T(10)$ राशियों को ज्ञात कर लें तो हमें ब्राकेट श्रेणी की छठीं रेखा की तरंग-संख्या मालूम हो सकती है।

बोर का सिद्धान्त (Bohr's Theory)

परमाणु की इन राशियों का मान (Term values) उसकी रचना पर निर्भर है इसका अनुमान सर्वप्रथम प्रो० नील्सबोर ने किया। यद्यपि आधुनिक तरंग-यांत्रिकी सिद्धान्त (Quantum Wave Mechanics) के दृष्टिकोण से बोर-सिद्धान्त विशेष रूप से परिमार्जित हो गया है तथापि इसी के आधार पर आधुनिक सिद्धान्तों का समझना हमारे लिए सहज हुआ है। आज भी स्पेक्ट्रोस्कोपी की अनेक बातें बोर-सिद्धान्त से समझी जाती हैं। परमाणु की इन राशियों का मान ज्ञात करने के लिए नील्सबोर ने रुदरफोर्ड (Rutherford) द्वारा अनुमानित केन्द्रीय परमाणु-रचना को आधार माना। इस परमाणु प्रतीक में एक न्यूक्लियस (nucleus) होता है जिसमें परमाणु का लगभग सारा भार केन्द्रीभूत होता है और उस न्यूक्लियस पर Ze आवेशमात्रा पायी जाती हैं। इस न्यूक्लि-

यस के चतुर्दिक Z इलेक्ट्रान नियमित रूप से वृत्ताकार कक्ष में चक्कर काटते रहते हैं और Z परमाणु की आवर्त-सारिणी में स्थानीय संख्या है।

इलेक्ट्रान ऋणात्मक होता है और न्यूक्लियस धनात्मक। अतः उनमें विद्युत आकर्षण पाया जाता है। इस वैद्युतिक आकर्षण का मान Ze^2/r^2 होता है। साथ ही इलेक्ट्रान अपने कक्ष पर वेग v से चलता है। यदि इसका भार M माना जाय तो उसमें केन्द्रापसारी वल (centrifugal force) Mv^2/r लगता है जिसमें r कक्ष का अर्धव्यास है। इन्हीं दोनों वलों के सामंजस्य से इलेक्ट्रान निरन्तर कक्ष पर घूमता रहता है अतः

$$Ze^2/r^2 = Mv^2/r \text{ अथवा } r = Ze^2/mv^2 \text{ होता है।}$$

प्रो० नील्सबोर ने कहा कि यद्यपि अनेक अर्धव्यास के कक्ष सम्भावित हैं तथापि वही कक्ष स्थायी (stationary) पाये जाते हैं जिनमें इलेक्ट्रान का कक्षीय आघूर्ण (angular moment) $h/2\pi$ इकाई का अपवर्त्य होता है अर्थात् $Mvr = n\,h/2\pi$ होता है और $n = 1, 2, 3, \cdots\cdots\cdots$ पूर्ण संख्या है इसे प्रमुख क्वाण्टम-संख्या (Principal quantum number) कहते हैं और h प्लांक का स्थिरांक है।

इस प्रकार हाइड्रोजन परमाणु में वृत्ताकार कक्ष का अर्धव्यास

$$r_n = \frac{h^2\,n^2}{4\pi^2\,me^2} \quad \text{क्योंकि } Z = 1 \text{ होता है।}$$

यदि इनमें h, m और e के मान लगाये जाँय तो हाइड्रोजन के प्रथम कक्ष का अर्धव्यास

$$r_1 = 0.529 \times 10^{-8} \text{ से० मी० होता है।}$$

और इस प्रथम कक्ष में इलेक्ट्रान का वेग

$$v = \frac{2\pi\ Ze^2}{n\,h} \quad (Z=1)$$

$$= 7.29 \times 10^{-3} \times 10^{10} \text{ से० मी० प्रति सेकेण्ड}$$

$$= 2.2 \times 10^{7} \text{ से० मी० प्रति सेकेण्ड पाया जाता है।}$$

इलेक्ट्रान प्रायः प्रथम कक्ष ($n=1$) में रहता है किन्तु उत्तेजित होकर अन्य कक्ष में भी जा सकता हैं। इन स्थायी कक्षों पर इलेक्ट्रान के परिभ्रमण से परमाणु से न तो कोई शक्ति विकीर्ण होती है और न अवशोषित होती है। जब इलेक्ट्रान किसी एक स्थायी स्थिति से किसी दूसरी स्थायी स्थिति पर जाता है तो शक्ति विकीर्ण अथवा अवशोषित होता है। विकीर्ण शक्ति ऊर्जा-पुंज $h\nu'$ के मान के वरावर होती है। शक्ति-पुंज की मात्रा रश्मि की आवृति-संख्या (Frequency) और प्लांक के स्थिरांक के गुणनफल के बराबर होती है। यदि परमाणु वाहरी स्रोत से शक्ति ग्रहण करता है तो इलेक्ट्रान अपने प्रथम कक्ष से उठकर अन्य कक्ष में जाता है। इन परिस्थितियों पर वह लगभग $१०^{-८}$ सेकेण्ड तक रहकर फिर तुरन्त नीचे उतरता है। सामान्य अवस्था से ऊपर जाने में शक्ति अवशोषित होती है और किसी उत्तेजित स्थिति से नीचे उतरने में शक्ति विकीर्ण होती है : अतः यदि सामान्य स्थिति में ऊर्जा En_1 है और ऊपरी स्थिति में En_2 तो विकीर्ण रश्मि की ऊर्जा

$$h\nu' = En_1 - En_2 \text{ होती है।}$$

यही प्रो० नील्सबोर द्वारा प्रतिपादित रश्मि की आवृत्ति-संख्या ज्ञात करने कीं सरल रीति है। इसी रीति से हर प्रकार के स्पेक्ट्रम रश्मियों की आवृत्ति-संख्या का मान मालूम किया जा सकता हैं। हमें केवल En का मान उपयुक्त पिंड प्रतिरूप (Model) से निकालना होता है। बाद में प्रायोगिक निष्कर्ष के अनुकूल प्रतिरूप में परिवर्तन और En के मान में संशोधन किया जाता है।

$$\text{तरंग संख्या } \nu = \frac{\nu'}{c} \text{ होती है}$$

$$\text{अतः } \nu = \frac{En_1}{hc} - \frac{En_2}{hc} \text{ होती है।}$$

इसके पूर्व हमने तरंग-संख्या ν को परमाणु की दो ऊर्जा-राशियों के अन्तर के बराबर रक्खा था। हमने $\nu = T_2 - T_1$ लिया था। अतः यह राशियाँ परमाणु की स्थायी स्थितियों की ऊर्जा के बराबर रक्खी जा सकती है, अर्थात् $T_1 = -En_1/hc$ और $T_2 = -En_2/hc$ होती हैं। यहाँ पर ऋणात्मक ऊर्जा $(-En)$ का मतलब यह है कि इतनी ऊर्जा देकर परमाणु के इलेक्ट्रान को n^{th}. स्थिति से निकालकर उसे परमाणु के बन्धन से मुक्त किया जा सकता है। इलेक्ट्रान और न्यूक्लियस में आकर्षण होता है और इलेक्ट्रान के निष्कासन के लिए बाहर से धनात्मक ऊर्जा लगानी पड़ती है।

किसी स्थायी स्थिति के राशि का मान इस प्रकार उसकी ऊर्जा के बराबर होता है और उतनी ही ऊर्जा बाहर से लगाकर इलेक्ट्रान परमाणु की उस स्थिति से मुक्त किया जा सकता है। इन स्थायी स्थितियों की राशियों और उनकी ऊर्जा का संबंध प्रो० फ्रांक और प्रो० हार्ट्ज ने प्रायोगिक रीति से सिद्ध किया है और प्रो० नील्सबोर की बतायी हुई स्थाई स्थितियों की वास्तविकता सिद्ध की है। स्थाई स्थिति की ऊर्जा का मान बोर-सिद्धांत तथा नवीन तरंग-यांत्रिकी-सिद्धान्त से एक ही पाया जाता हे।

$En = -2\pi^2\mu e^4Z^2/n^2h^2$ जिसमें μ न्यूक्लियस और इलेक्ट्रान दोनों का संयुक्त भार (reduced mass) है, c इलेक्ट्रान आवेश और h प्लांक का स्थिरांक है। Z तत्त्व की परमाणु-संख्या है जो हाइड्रोजन के लिए 1 है। इस सबका मान लगाने पर

$$\frac{2\pi^2\mu e^4}{h^3} = 109677.580 \text{ Cm}^{-1}$$

पाया जाता है। इतना ही मान हमें बामर-सूत्र के अनुसार R का मिलता है जिसे हमने रिडवर्ग का स्थिरांक माना है। इस समानता से बोर-सिद्धान्त की पुष्टि विशेष रूप से होती है; साथ ही जिस उच्चतर यथार्थता से रिडवर्ग स्थिरांक का मान हाइड्रोजन स्पेक्ट्रम से ज्ञात किया गया है वही स्पेक्ट्रोस्कोपी के मापन का आदर्श हैं।

$$\text{अब यदि } h = \frac{2\pi^2\mu c^4}{h^3} \text{ लें तो}$$

$$En = -\frac{Rh}{n^2} \text{ पाया जाता है।}$$

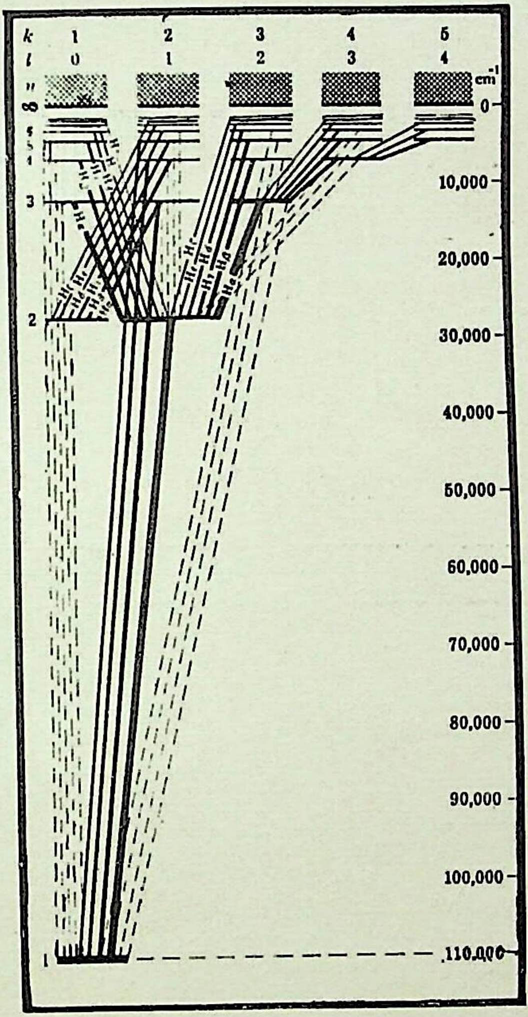
k
1
2
3
4
5
l
0
1
2
3
4
n
∞
5
4
3
2
1
cm-1
0
10,000
20,000
30,000
40,000
50,000
60,000
70,000
80,000
90,000
100,000
110,000
Hα
Hβ
Hγ
Hδ

चित्र सं० ७ पृष्ठ 65

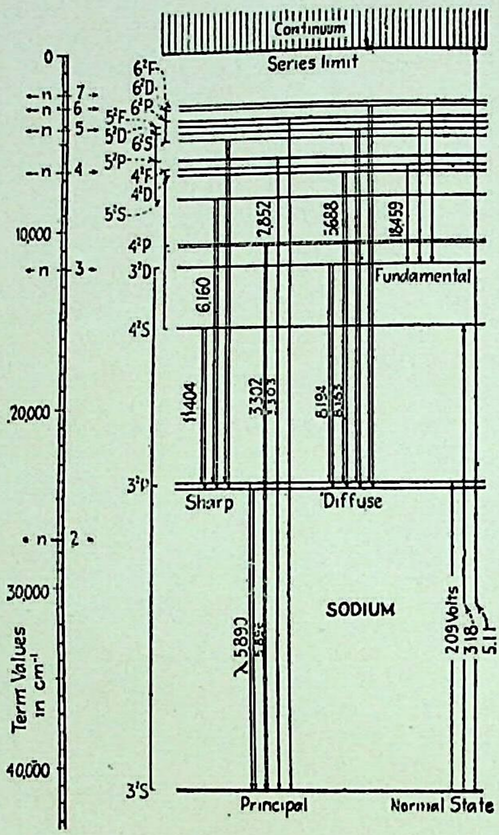
Continuum
Series limit
0
10,000
20,000
30,000
40,000
Term Values in cm⁻¹
n 7
n 6
n 5
n 4
n 3
n 2
6²F
6²D
6²P
5²F
5²D
6²S
5²P
4²F
4²D
5²S
4²P
3²D
4²S
3²P
3²S
2,852
5688
18459
6,160
11404
3302
3303
8194
8183
λ 5890
5896
Sharp
Diffuse
Fundamental
Principal
Normal State
SODIUM
2.09 Volts
3.18
5.11

चित्र सं० ८ पृष्ठ 68

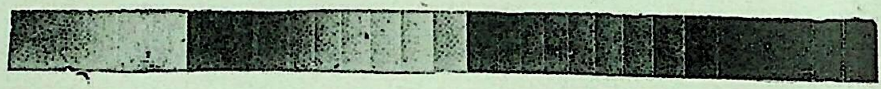

चित्र सं० ९ पृष्ठ 71

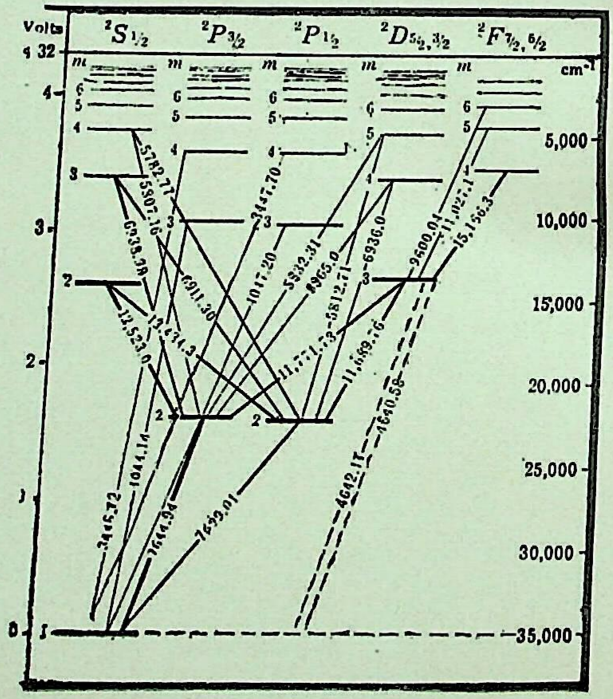
Volts
²S½
²P3/2
²P½
²D5/2, 3/2
²F7/2, 5/2
m
cm⁻¹
5,000
10,000
15,000
20,000
25,000
30,000
35,000
4
3
2
0
5782.77
5807.16
6238.38
6911.30
12,523.0
13,434.3
3447.70
1047.20
5332.31
8965.0
6936.0
5812.71
11,771.73
11,689.76
9600.04
11,027.1
15,156.3
4640.58
4642.17
3446.72
1044.14
7644.94
7699.01

चित्र सं० १० पृष्ठ 74

यदि $n = 1$ रक्खा जाय तो विदित होता है कि परमाणु अपनी सामान्य स्थिति में है। सभी परमाणु के इलेक्ट्रान साधारण परिस्थितियों में अपने सामान्य स्थायी स्थिति में रहते हैं। परमाणु को उत्तेजित करने के लिए बाहर से ऊर्जा देनी पड़ती है, जितनी ऊर्जा की मात्रा से परमाणु के भोतर, इलेक्ट्रान अपनी साधारण स्थायी स्थिति से उत्तेजित होकर ऊपरी किसी स्थायी स्थिति पर चढ़ता है उतनी ऊर्जा को परमाणु की उस स्थिति का उत्तेजक विभव (Excitation potential) कहते हैं। क्रमशः इलेक्ट्रान की उत्तेजना बढ़ाते हुए हम उसे $n = \infty$ कक्ष अर्थात् परमाणु से मुक्त करने की स्थिति में पहुँचा सकते हैं। इससे तनिक ऊर्जा बढ़ाने पर इलेक्ट्रान कुछ वेग से परमाणु के बाहर निकलता है और परमाणु आयनित हो जाता है। जितनी ऊर्जा से परमाणु का इलेक्ट्रान उसके बन्धन से केवल मुक्त हो जाय और उसमें कोई वेग न पाया जाय उतनी ऊर्जा को परमाणु का आयनीकरण विभव (Ionisation potential) कहते हैं। यहाँ विभव का अर्थ प्रायोगिक साधन के अनुकूल लगाया जाता है। फ्रांक और हर्ट्ज ने परमाणु की स्थायी स्थितियों के अध्ययन के लिए संवेगी (accelerated) इलेक्ट्रानों का उपयोग गोली के रूप में किया। इलेक्ट्रानों का वेग विभवान्तर के मान पर निर्भर रहता है। अतः इलेक्ट्रान का संवेग (momentum) ठीक-ठीक नापा जा सकता है। यही इलेक्ट्रान जाकर परमाणु पर आघात करते हैं, और अपनी ऊर्जा देकर उन्हें उत्तेजित करते हैं। विभवान्तर बढ़ाकर इन इलेक्ट्रानों की ऊर्जा अधिक हो जाती है और उनके मान से क्रमशः परमाणु की स्थायो स्थितियों का पता लगाया जाता है। इलेक्ट्रान के वेग का मान निम्न व्यंजक से ज्ञात किया जाता है :

$$\tfrac{1}{2}\, mv^2 = Ve/300$$

इलेक्ट्रान में 1 वोल्ट के विभवान्तर पर जितनी ऊर्जा उत्पन्न होती है उतने को 1 इलेक्ट्रान वोल्ट (Electron volt) कहते हैं। उत्तेजक विभव और आयनीकरण विभव का मान इसी 1 इलेक्ट्रान वोल्ट (1e.v) की इकाई में व्यक्त किया जाता है। 1 इलेक्ट्रान वोल्ट $= 8066\ \mathrm{cm}^{-1}$ के होता है। इस हिसाब से $12500\mathrm{A}^\circ = 800\ \mathrm{cm}^{-1} \approx$ 1 इलेक्ट्रान वोल्ट और $125\ \mathrm{A}^\circ = 800,000\ \mathrm{cm}^{-1} = 100$ इलेक्ट्रान वोल्ट होता है। हाइड्रोजन परमाणु की स्थायी स्थितियों की ऊर्जा चित्र-संख्या (7) में इन्हीं इकाईयों में प्रदर्शित की गयी हैं। हाइड्रोजन में केवल एक इलेक्ट्रान इसके न्यूक्लियस के चतुर्दिक, जिसे प्रोटान कहते हैं, विभिन्न कक्षाओं में चक्कर काटता रहता है। हाइड्रोजन का आयनीकरण विभव 13.6 e.v. होता है। हीलियम का 24.5 e.v., लीथियम का 5.4 e.v., नियोन का 21.45 e.v., सोडियम का 5.12 e.v., आरगान का 15.7. e.v., पोटैशियम का 4.3 e.v. होता है। इस आयनीकरण विभव के मान की भिन्नता से हमें ज्ञात होता है कि अल्कली तत्त्वों में रसायनिक अथवा आप्टिकल इलेक्ट्रान परमाणु में कम ऊर्जा से आवद्ध रहते हैं और हीलियम, नियोन, आरगान आदि तत्त्वों के आप्टिकल इलेक्ट्रान अधिक ऊर्जा से बँधे रहते हैं।

विभिन्न परमाणुओं में आप्टिकल इलेक्ट्रान की बन्धन-शक्ति भिन्न पायी जाती है। किसी छोटे समूह के तत्त्वों का अध्ययन यदि आवर्त सारिणी के अनुसार किया जाय तो प्रत्येक समूह में अल्कली तत्त्व के इलेक्ट्रान का बन्धन कम और विरल गैस (Noble gas)

के तत्त्व का वन्धन सवसे अधिक पाया जाता है। बीच के तत्त्वों का आयनीकरण विभव इन्हीं दोनों के बीच पाया जाता है। इसी प्रकार प्रत्येक परमाणु के उत्तेजन विभव का मान मालूम किया गया हैं। कुछ तत्त्वों की स्थायी स्थितियों को चित्रों द्वारा समझाया गया है। उनके मान को लेकर स्पेक्ट्रम की रेखाओं की व्युत्पत्ति समझी जाती है। इस प्रकार हमें नील्सबोर की वतायी हुई स्थायी स्थितियों की वास्तविकता का स्पष्टीकरण मिलता है।

यदि हम हीलियम के एक इलेक्ट्रान को निकाल सकें तो हमें He^+ आयन मिलता है, इसको भी उत्तेजित कर हम He^+ का स्पेक्ट्रम उतार सकते हैं। यह स्पेक्ट्रम भी हाइड्रोजन के स्पेक्ट्रम के समान होता है। इसी प्रकार Li^{++}, Be^{+++} के स्पेक्ट्रम हाइड्रोजन के समान पाये जाते हैं। इनका स्थान लघुतरंगदैर्ध्य की ओर सरकता जाता है, कारण कि ऊर्जा सूत्र में Z^2 और μ चल राशियाँ हैं। यद्यपि μ के मान में वहुत अन्तर नहीं पड़ता तथापि Z^2 का मान हाइड्रोजन के लिए $1^2 = 1$, हीलियम के लिए $2^2 = 4$, लीथियम के लिए $3^2 = 9$, वेरीलियम के लिए $4^2 = 16$ होता है और इसी हिसाव से इनके स्पेक्ट्रम सुदूर अल्ट्रावायलेट क्षेत्र की ओर सरकते जाते हैं। इन आयनित तत्त्वों का पुनः आयनीकरण हो सकता है और आयनीकरण के विभव का मान भी इसी गुणक के अनुपात से वढ़ता जाता है, अर्थात् He^{++} का आयनीकरण विभव He^+ की अपेक्षा चार गुना, Li^{+++} का आयनीकरण विभव Li^{++} की अपेक्षा नौ गुना अधिक होता है।

आयनित हीलियम He^+ का स्पेक्ट्रम पहले से मालूम था किन्तु समझ में नहीं आ रहा था कि स्पेक्ट्रम किस परमाणु अथवा आयन का है। हिसाव लगाने पर वोर के सिद्धान्त के अनुसार स्पेक्ट्रम का स्रोत He^+ आयन सिद्ध हुआ। इससे हाइड्रोजन स्पेक्ट्रम की व्याख्या और वोर-सिद्धान्त का समर्थन विशेष रूप से हुआ।

परमाणु की क्वाण्टम संख्यायें
(Quantum numbers in atoms)

परमाणु के ऊर्जा व्यंजक $$E = \frac{2\pi^2 \ \mu e^4 Z^2}{n^2 h^2}$$

में n को एक क्वाण्टम संख्या कहा गया है। इसे प्रमुख क्वाण्टम संख्या कहते हैं। इसके द्वारा परमाणु के भीतर इलेक्ट्रान-कक्ष के विस्तार का अनुमान होता है और ऊर्जा की मात्रा इसी संख्या पर निर्भर करती है। इसके अतिरिक्त इलेक्ट्रान के लिए तीन और क्वाण्टम संख्यायें होती हैं। चार संख्याओं से इलेक्ट्रान का पूरा परिचय हमें मिलता है और परमाणु के भीतर उसके स्थान, स्वाभाविक गुण आदि का बोध होता है। फिर उन्हीं से परमाणु की संयोजन शक्ति (valency) का ज्ञान होता है और रासायनिक क्रियाओं का रहस्य खुलता है।

इस तीन क्वाण्टम संख्याओं को l, m और s से व्यक्त किया जाता है। इनका संबंध इलेक्ट्रान के दो कोणीय घूर्णों से होता है। इलेक्ट्रान न्यूक्लियस के चतुर्दिक घूमता

रहता है। अतः उसमें कक्षीय कोणीय संवेग (orbital angular momentum) का होना निश्चित है। क्वाण्टम संख्या l कक्षीय घूर्ण का मान $h/2\pi$ की इकाई में व्यक्त किया गया है। फिर यदि परमाणु चुम्वकीय क्षेत्र में पड़ जाय तो l का विभाजन चुम्वकीय अक्ष की दिशा में हो जाता है उसे m द्वारा व्यक्त करते हैं। इसीलिए m को चुम्वकीय क्वाण्टम संख्या कहते हैं। अतः इन दोनों का संबंध इलेक्ट्रान के कक्षीय घूर्ण से रहता है।

इसी भाँति इलेक्ट्रान अपने कक्ष पर न्यूक्लियस की परिक्रमा करता हुआ, अपने काल्पनिक अक्ष पर ठीक उसी प्रकार परिभ्रमण (spin) करता है जिस प्रकार सूर्य की परिक्रमा करती हुई पृथ्वी अपने अक्ष पर घूमती है। इस कारण इलेक्ट्रान में चक्रणी कोणीय संवेग (spin angular momentum) पाया जाता है जिसको $h/2\pi$ की इकाई में क्वाण्टम संख्या s से व्यक्त करते हैं। क्वाण्टम संख्या l और m का मान n की भाँति सदा पूर्णांक होती है और n के मान पर निर्भर करती है। तरंग यांत्रिकी सिद्धान्त के अनुसार यह सिद्ध है कि l का मान $(n-1)$ से लेकर o तक की किसी पूर्ण-संख्या के तुल्य होता है और सदा धनात्मक रहता है। m का मान l से अधिक नहीं हो सकता किन्तु धनात्मक तथा ऋणात्मक दोनों होता है अर्थात् $m = +l$ से लेकर o फिर $-l$ होता है।

अतः m का मान l पर आश्रित है। इलेक्ट्रान कक्ष के तल की स्थिति चुम्वकीय अक्ष के हिसाब से स्थायी नहीं रहती, निरन्तर बदलती रहती है। कक्षीय घूर्ण का वह भाग जो चुम्वकीय अक्ष पर पाया जाता है उसे m द्वारा $h/2\pi$ की इकाई में व्यक्त किया जाता है। कक्ष में इलेक्ट्रान की गति दक्षिणावर्त ओर वामवर्त दोनों होती हैं, इसीलिए $m=\pm l$, $\pm(l-1)$, $\pm(l-2)$ होता है। धनात्मक संख्या से कक्ष में इलेक्ट्रान की गति दक्षिणावर्त और ऋणात्मक संख्या से वामवर्त मानी जाती है। इलेक्ट्रान के अक्षीय परिभ्रमण का अनुमान प्रो० उलेनवेक और प्रो० गाउडश्मड ने कैलशियम स्पेक्ट्रम की द्विवर्गी श्रेणियों की व्याख्या के लिए किया था बाद में चलकर इसका सैद्धान्तिक विवेचन किया गया। चक्रणी संवेग का मान इसी स्पिन-क्वाण्टम-संख्या s द्वारा $h/2\pi$ की इकाई में व्यक्त किया जाता है। स्पिन संख्या सदा $\pm\frac{1}{2}$ होती है।

एक्स-किरण के स्पेक्ट्रम और दृश्य क्षेत्र तथा अल्ट्रावायलेट क्षेत्र की स्पेक्ट्रम रेखाओं की व्याख्या के लिए अनुमान किया गया कि परमाणु के भीतर इलेक्ट्रानों के कोष्ठ होते ह परमाणु के कोष्ठों का नाम एक्स-किरण के स्पेक्ट्रम के आधार पर K,L,M,N··· रखा गया है। प्रत्येक कोष्ठ में इलेक्ट्रान-संख्या निश्चित पायी जाती है। इन इलेक्ट्रानों का वितरण विभिन्न कोष्ठों में पाली के नियम के अनुकूल पाया जाता है।

पाली नियम (Pauli's principle) के अनुसार परमाणु के भीतर किन्हीं दो इलेक्ट्रान की चारो क्वाण्टम-संख्यायें एक ही नहीं हो सकतीं। इसी के आधार पर यह देखा गया कि K कोष्ठ (K shell) में दो, L में 8, M में 10, N में 18···इलेक्ट्रान रह सकते हैं। विभिन्न तत्त्वों में इलेक्ट्रानों का वितरण सारणी-संख्या (1) में दिया गया है।

परमाणु में एक इलेक्ट्रान हो अथवा अधिक स्पेक्ट्रम केवल एक अथवा विशेष परिस्थिति में दो इलेक्ट्रानों की उत्तेजना से बनता है और प्रत्येक परमाणु का स्पेक्ट्रम दूसरे से भिन्न होता है। क्रियाशील इलेक्ट्रान को आप्टिकल इलेक्ट्रान कहते हैं। यदि परमाणु का एक इलेक्ट्रान क्रमशः उत्तेजित कर उसे परमाणु के बन्धन से मुक्त कर दिया जाय तो परमाणु आयनित हो जाता है। इस आयनित परमाणु का स्पेक्ट्रम साधारण परमाणु के स्पेक्ट्रम से भिन्न होता है। किन्तु उसके पूर्व वाले तत्त्व के परमाणु के स्पेक्ट्रम के समान होता है। इसी प्रकार यदि दूसरे और तीसरे इलेक्ट्रान को मुक्त किया जाय तो परमाणु द्वि-आयनित और त्रिआयनित होता है। इसके स्पेक्ट्रम साधारण तथा प्रथम आयनित परमाणु के स्पेक्ट्रम से भिन्न, उसके दो स्थान और तीन स्थान पूर्व वाले तत्त्वों के साधारण परमाणु के स्पेक्ट्रम के समान पाया जाता है। हाइड्रोजन का स्पेक्ट्रम सरल होता है क्योंकि इसमें एक ही इलेक्ट्रान और इसके न्यूक्लियस में एक ही प्रोटान होता है। अन्य इलेक्ट्रानों के आच्छादन का प्रभाव न्यूक्लियस पर पड़ने का प्रश्न नहीं उठता। हाइड्रोजन की श्रेणियाँ सहज रूप में अलग-अलग देखी जा सकती हैं। किन्तु अन्य परमाणुओं के स्पेक्ट्रम में श्रेणियों का परखना कठिन होता है। एक श्रेणी की रेखायें दूसरे पर चढ़ी होती हैं।

चित्र-संख्या (8) में सोडियम परमाणु की स्थायी स्थितियों की राशियों का मान हाइड्रोजन की तुलना में दिया गया है। सोडियम में ११ इलेक्ट्रान होते हैं। दो इलेक्ट्रान प्रथम कोष्ठ (K-shell, $n=1$) में और ८ इलेक्ट्रान द्वितीय कोष्ठ (L-shell) में रहते हैं। ११ वां इलेक्ट्रान तीसरे कोष्ठ (M-shell) में रहता है और इसी की स्थिति के अनुसार सोडियम परमाणु की स्थायी-स्थितियों की ऊर्जा राशियों का मान निकाला जाता है। अन्य अल्कली तत्त्वों में इसी प्रकार एक इलेक्ट्रान सबसे बाहर वाले कोष्ठ में पाया जाता है। पोटैशियम परमाणु के आप्टिकल इलेक्ट्रान के लिए प्रमुख क्वाण्टम संख्या $n = 4$

रुबीडियम के लिए $n = 5$ और

सीजियम के लिए $n = 6$ होती है।

केवल यही बाहरी इलेक्ट्रान अल्कली तत्त्वों के परमाणु में क्रियाशील होता है। बाकी सब बँधे रहते हैं। इस इलेक्ट्रान की समानता के कारण सभी अल्कली तत्त्वों के स्पेक्ट्रम समान होते हैं और स्थायी-स्थितियों के राशिमान भी सादृश्य होते है। संतृप्त कोष्ठों के इलेक्ट्रान न्यूक्लियस को आच्छादित रखते हैं। न्यूक्लियस का पूरा प्रभाव आप्टिकल इलेक्ट्रान पर नहीं पड़ता।

प्रारम्भ में वैज्ञानिकों ने रेखाओं की आकृति देखकर उन्हें श्रेणीबद्ध किया। एक समान दिखायी पड़ने वाली रेखायें एक श्रेणी में रक्खी गयीं और उन्हें एक सूत्र द्वारा व्यक्त करने की चेष्टा की गयी। जो रेखायें बारीक और तीक्ष्ण दिखायी पड़ी उन्हें तीक्ष्ण श्रेणी (Sharp series) में रक्खा गया और जो रेखायें कुछ धुन्ध और फैली दिखायी पड़ी उन्हें धुन्ध श्रेणी (Diffuse series) में रक्खा गया। लीथियम परमाणु के अवशोषण स्पेक्ट्रम में एक तीसरी श्रेणी का पता लगा जिसका लगाव हाइड्रोजन स्पेक्ट्रम के लाइमन श्रेणी के समान परमाणु की साधारण अवस्था (normal state) से पाया गया। इस श्रेणी का

नाम प्रमुख श्रेणी (Principal series) रक्खा गया। यह श्रेणी तत्त्वों के अवशोषण स्पेक्ट्रम में मिलती ह। बाद में इसे वर्ग की श्रेणियाँ न केवल लीथियम के उद्दीप्त स्पेक्ट्रम में बल्कि अन्य तत्त्वों के स्पेक्ट्रम में भी पायी गयीं। किसी तत्त्व की अनुनादी रेखा (resonance line) इसी श्रेणी की प्रथम रेखा होती है। सोडियम स्पेक्ट्रम में पीली रेखा जिसे डी (D) लाइन कहा जाता है इस तत्त्व की अनुनादी रेखा है और यह रेखा प्रमुख श्रेणी की प्रथम रेखा है। इसका सम्बन्ध सोडियम परमाणु की साधारण अवस्था से होता है। वर्गमान और हिक्स ने एक चौथी श्रेणी का पता लगाया जो इन्फ्रारेड क्षेत्र में पायी जाती है। इस श्रेणी का नाम हिक्स ने मुख्य श्रेणी या फण्डामेण्टल श्रेणी (Fundamental Series) रक्खा। ऐसी श्रेणियों की खोज अन्य तत्त्वों में भी की गयी और अन्य तत्त्वों के स्पेक्ट्रम में भी इसी प्रकार की श्रेणियाँ पायी गयीं और देखा गया कि इन सबको वामर-सूत्र से व्यक्त करना सम्भव नहीं, क्योंकि हाइड्रोजन में न्यूक्लियस के केवल एक प्रोटान का ही प्रभाव आप्टिकल इलेक्ट्रान पर पड़ता है। किन्तु इन परमाणुओं में आप्टिकल इलेक्ट्रान पर न्यूक्लियस के भीतरी कई प्रोटान और न्यूट्रान तथा वाहर के अन्य इलेक्ट्रान-समूह का प्रभाव पड़ता है। न्यूक्लियस और अन्य इलेक्ट्रान समूह का समुच्चय अर्थात् न्यूकियर-कोर (Nuclear Core) अपना प्रभाव आप्टिकल इलेक्ट्रान पर डालता है। इलेक्ट्रान की कक्षा केवल वृत्ताकार नहीं रहती जैसा कि हाइड्रोजन में पायी जाती है। कक्ष दीर्घ वृत्ताकार और वृत्ताकार दोनों प्रकार की होती हैं। दीर्घ वृत्ताकार कक्ष प्राय: न्यूक्लियर-कोर में होकर जाती हैं। रिडवर्ग ने हिसाब लगाकर देखा था कि किसी श्रेणी-रेखा की तरंग-संख्या

$$\nu_n = \nu_\infty - \frac{R}{(n+\mu)^2} \text{ होती है।}$$

जिसमें $n = 2, 3, 4 \cdots\cdots\cdots \infty$ पूर्ण संख्या है। किसी तत्त्व के विभिन्न श्रेणियों के लिए μ का मान भिन्न पाया जाता है। स्थायी स्थितियों की ऊर्जा प्रमुख क्वाण्टम-संख्या n और कक्षीय घूर्ण की क्वाण्टम संख्या l पर निर्भर होती हैं—

$$E_n = -\frac{Rhc}{(n-\mu)^2} \text{ होता है।}$$

सोडियम के स्पेक्ट्रम में $E_n = \dfrac{Rhc}{(n-1.35)^2}$

इससे विदित होता है कि यदि प्रमुख क्वाण्टम संख्या n है तो n का मान $n+1.35$ होता है, अर्थात् वास्तविक क्वाण्टम संख्या के मान में प्रायोगिक रीति से ज्ञात कर हमें कुछ संशोधन करना होता है। यही संशोधन रिडवर्ग सूत्र में μ द्वारा व्यक्त किया जाता है इसे क्वान्टम डिफेक्ट कहते हैं इसका मान विभिन्न स्थायी-स्थितियों के लिए भिन्न पाया जाता है—

$l = 0$ के लिए $\mu = 1.35$

$l = 1$,, $\mu = 0.36$

$$l = 2 \qquad „ \qquad \mu = 0.01$$

$$l = 3 \qquad „ \qquad \mu = 0.00 \text{ होता है}$$

सोडियम की प्रमुख संख्या $n=3$ है, अतः l का मान 3 से अधिक नहीं हो सकता और $n=3$, $l=3$की कक्ष वृत्ताकार होती है। यही कक्ष हाइड्रोजन कक्ष के सदृश होती है और न्यूक्लियस के आच्छादित होने का प्रभाव नहीं पड़ पाता। यह कक्ष न्युक्लियस कोर के विल्कुल बाहर रहती है। अन्य तीन कक्ष दीर्घ वृत्ताकार होती हैं, वे न्यूक्लियर-कोर में होकर गुजरती हैं और ऊर्जा पर आच्छादित न्यूक्लियस का प्रभाव पड़ता है। इससे ऊर्जा का मान बदल जाता है। इसे हम सीधे बामर सूत्र से नहीं ज्ञात कर सकते। स्थायी-स्थितियों की ऊर्जा का मान एक ही n के लिए हाइड्रोजन से नीचे पाया जाता है।

यदि $\mu = 0$ लिया जाय तो रिगवर्ड सूत्र ठीक बामर-सूत्र के वराबर हो जाता है, और $n = \infty$ रखने पर $\nu_n = \nu_\infty$ श्रेणी के शिखर की तरंग संख्या होती है। यदि चार श्रेणियों के शिखर के लिए ν_n^S, ν_n^P, ν_p^D, और ν_n^F, माने जाँय तो श्रेणियों को हम निम्न रूप से व्यक्त कर सकते हैं—

तीक्ष्ण श्रेणी (Sharp Series) $\nu_\infty^S = \frac{R}{(n+s)^2}, n = 2,3,4\ldots\infty$

प्रमुख श्रेणी Principal Series $\nu_n^P = \nu_\infty^P - \frac{R}{(n+p)^2}, n=1,2,3\cdots\infty$

धुन्धली श्रेणी (Diffuse Series) $\nu_n^D = \frac{R}{(n+d)^2}, n=2,3,4\cdots\infty$

और मुख्य श्रेणी (Fundamental Series) $\nu_n^F = \nu_\infty^F - \frac{R}{(n+f)^2},$

$$n = 3,4,5\cdots\infty$$

इनमें s, p, d, f विभिन्न श्रेणी के लिए μ के मान हैं। इनका मान हाइड्रोजन स्पेक्ट्रम की श्रेणियों के लिए शून्य पाया जाता है और हमें विदित होता है कि अन्य तत्त्वों के आप्टिकल इलेक्ट्रान पर न्यूक्लियर-कोर का प्रभाव पड़ रहा है। इस रीति से लीथियम स्पेक्ट्रम की श्रेणियों के लिए—

$$\nu_n^S = 28601.6 - \frac{109721.6}{(n+0.5951)^2}$$

$$\nu_n^P = 43487.7 - \frac{109721.6}{(n+0.9596)^2}$$

$$\nu_n^D = 28598.5 - \frac{109721.6}{(n+0.9974)^2}$$

इन समीकरणों से विदित होता है कि तीक्ष्ण और धुन्धली श्रेणी के शीर्ष एक हैं। इसका स्पष्टीकरण Na और K परमाणुओं के ऊर्जा तल (Energy level) चित्र (8) से होता है। चित्र संख्या (9) में पोटैशियम के स्पेक्ट्रम का प्रतिरूप दिखाया गया है जिससे ऊपरी निष्कर्षों का स्पष्टीकरण हो जाता है। तीक्ष्ण श्रेणी (Sharp Series) की प्रथम रेखा के लिए $n = 2$ होता है। यदि इसी समीकरण में $n = 1$ रक्खा जाय तो n का मान प्रमुख श्रेणी की प्रथम रेखा के बराबर ऋणात्मक मिलता है।

रिडबर्ग शूस्टर का नियम

रिगवर्ग ने देखा कि यदि लीथियम स्पेक्ट्रम की तीक्ष्ण श्रेणी के समीकरण

$$\nu_n{}^{S} = 28601.6 - \frac{109721.6}{(n+0.5951)^2}$$

में $n = 1$ लगाया जाता है तो मान प्रमुख श्रेणी के शीर्ष $\nu_\infty{}^{P}$ के बराबर पाया जाता है।

$$\frac{109721.6}{(1+0.5951)^2} = 43123.7 \simeq \nu_\infty{}^{P}$$

इसी प्रकार यदि प्रमुख श्रेणी के समीकरण में $n = 1$ रक्खा जाता है तो

$$\frac{109721.6}{(1+0.9596)^2} = 28573.1 \simeq \nu_\infty{}^{S}$$

पाया जाता है। इस प्रकार रिडबर्ग ने सिद्ध किया कि तीक्ष्ण और धुन्धली श्रेणियों के शीर्ष एक होते हैं। और फिर उन्होंने श्रेणियों के समीकरण को निम्न रूप में व्यक्त किया :—

$$\nu_n{}^{S} = \frac{R}{(1+s)^2} - \frac{Q}{(n+s)^2}$$

$$\nu_n{}^{P} = \frac{R}{(1+p)^2} - \frac{R}{(n+p)^2}$$

$$\nu_n{}^{D} = \frac{R}{(1+d)^2} - \frac{R}{(n+d)^2}$$

$\nu_1{}^{S} = -\nu_1{}^{P}$ होता है।

साथ ही यह भी पता लगा कि प्रमुख श्रेणी के शीर्ष और तीक्ष्ण तथा धुन्धली श्रेणियों के उभय (Common) शीर्ष के अन्तर के बराबर प्रमुख श्रेणी की प्रथम रेखा पायी जाती है। यथा—

$$\nu_\infty{}^{P} = \nu_\infty{}^{S} = \nu_1{}^{P} = -\nu_1{}^{S}$$

इसी नियम को रिडबर्ग-शूस्टर का नियम कहते हैं। परमाणुओं के स्पेक्ट्रम की विवेचना में यह बहुत ही उपयोगी नियम है।

मुख्य श्रेणी का पता वर्गमान ने लगाया था। इसके ठीक १२ वर्ष बाद रुजे ने दिखाया कि धुन्धली और मुख्य श्रेणी के शीर्षों का अन्तर धुन्धली श्रेणी की प्रथम रेखा की तरंग-संख्या के बराबर होता है।

$$\nu_{\infty}^{D} - \nu_{\infty}^{F} = \nu_{2}^{D}$$

अत: मुख्य श्रेणी की रेखाओं के लिए समीकरण

$$\nu_{n}^{F} = \frac{R}{(2+d)^2} - \frac{R}{(n+f)^2}$$ होता है।

रेखाओं की तरंग संख्या ν और उनकी रेखा संख्या x के बीच ग्राफ बनाने पर इन उपयोगी नियमों का स्पष्टीकरण स्वतः हो जाता है। एकवर्गी और त्रि-वर्गी श्रेणियों में ये नियम लागू होते हैं।

श्रेणियों का नामकरण क्वाण्टम दोष (Quantum defect) s, p, d, f के आधार पर किया गया। क्वाण्टम दोष s के अनुकूल S श्रेणी (Sharp series), p से P श्रेणी (Principal series), d से D श्रेणी (Diffuse series) और f से F श्रेणी (Fundamental Series) कही जाने लगी। इन श्रेणियों को सूक्ष्म रूप से इस प्रकार लिखते हैं :—

तीक्ष्ण श्रेणी $\nu_n^S = 2\,P - nS$

प्रमुख श्रेणी $\nu_n^P = 1\,S - nP$

धुन्धली श्रेणी $\nu_n^D = 2\,P - nD$

मुख्य श्रेणी $\nu_n^F = 3\,D - nF$

और उनके वर्ग का निरूपण निम्नलिखित रूप से किया गया है :—

एकवर्गी श्रेणी ^1S, ^1P, ^1D, ^1F

द्विवर्गी श्रेणी ^2S, ^2P, ^2D, ^2F

त्रिवर्गी श्रेणी ^3S, ^3P, ^3D, ^3F

किन्तु आज कल इन बड़े अक्षरों द्वारा परमाणु में स्थायी स्थितियों की ऊर्जा राशियाँ व्यक्त की जाती हैं।

रेखाओं-उपरेखाओं की रचना

(Satellites and Fine Structure)

प्रो० रिडबर्ग, प्रो० काइजर और रुंजे ने स्पेक्ट्रम की कुछ रेखाओं के साथ उपरेखाओं का निरीक्षण किया। ऐसी रेखायें धुन्धली श्रेणी की रेखाओं के समीप दीर्घ तरंगदैर्घ्य की ओर पायी जाती हैं। इस कारण उन्हें द्वितीय धुन्धली श्रेणी की रेखायें माना गया। किन्तु बाद के अनुसन्धानों से पता लगा कि धुन्धली श्रेणी की प्रत्येक द्वयक रेखा (Doublet) की

प्रबल रेखा और समीपस्थ उपरेखा के बीच का अन्तर निश्चित तरंग संख्या के बराबर होता है। इसकी खोज हार्टिले ने की, अतः इसे हार्टिले का नियम कहते हैं। यह भी एक व्यापी नियम है और प्रत्येक परमाणु के स्पेक्ट्रम में लागू होता है।

द्विवर्गी श्रेणियों में भी उपरेखायें श्रेणीवद्ध पायी जाती हैं और उनको भी रिडवर्ग-सूत्र से व्यक्त किया जाता है। त्रिवर्गी तीक्ष्ण श्रेणी की रेखाओं के सूत्र निम्नरूप के होते हैं,

$$\nu_n{}^{S} = \frac{R}{(1+{}^3p_2)^2} - \frac{R}{(n+{}^3S_1)^2} = 1^3P_2 - n^3S_1$$

$$\nu_n{}^{S} = \frac{R}{(1+{}^3p_1)^2} - \frac{R}{(n+{}^3S_1)^2} = 1^3P_1 - n^3S_1$$

$$\nu_n{}^{S} = \frac{R}{(1+{}^3p_0)^2} - \frac{R}{(n+{}^3S_1)^2} = 1^3P_0 - n^3S_1$$

इनमें ${}^3S_1$, ${}^3p_0$, ${}^3p_1$, ${}^3p^2$ ये स्थिर संख्याएँ पायी जाती हैं। बाद में चलकर हम देखेंगे कि इन्हीं संकेतों से परमाणु की राशियों (terms) का मान व्यक्त किया जाता है। स्पेक्ट्रम की कोई भी एक रेखा की ऊर्जा दो राशियों के अन्तर के बराबर पायी जाती है और रेखाओं की श्रेणी किसी एक स्थायी राशि का अन्तर क्रमवद्ध दूसरी राशियों के बीच के अन्तर के बराबर होता है जैसे कि लीथियम स्पेक्ट्रम में प्रमुख श्रेणी की प्रथम रेखा की तरंग-संख्या

$$\nu_n = 1^2S - n^2P$$

और प्रमुख श्रेणी की रेखाओं की तरंग संख्या :—

$$\nu_n = 1^2S - n^2P \text{ क्रमशः } n = 2,3,4,\cdots\cdots\cdots$$

रखने से मिलती हैं। उपरेखीय श्रेणियों की उत्पत्ति रिट्ज के नियम से समझी जा सकती है और इसी के आधार पर कई तत्वों के स्पेक्ट्रम में नवीन श्रेणियों की खोज की गई है। यदि स्थायी राशि (Term) 1^2S को $2^2S, 3^2S, 4^2S$ लिया जाय तो अन्य श्रेणियों की उपस्थिति सम्भावित है। खोज करने पर ऐसी श्रेणियाँ पायी गयी हैं। साथ ही यह भी देखा गया है कि क्रमशः परिवर्तनीय राशियाँ जैसे n^2P में राशि 2^2P तीक्ष्ण श्रेणी की स्थायी राशि होती है। अतः सम्भावित श्रेणियाँ प्रधान श्रेणी की राशियों के संयोग से बनी हुयी पायी जाती हैं ऐसी श्रेणियों को मिश्र-श्रेणियाँ (Combination Series) कहते हैं। प्रो० पाशेन ने ऐसी कई मिश्र-श्रेणियों का पता इन्फ्रारेड क्षेत्र में लगाया है।

अल्कलाइन तत्त्वों की राशियाँ एकीय (Singlet) तथा त्रितीय (triplet) होती हैं। एकीय राशियों के संयोग से इक-वर्गी रेखा-श्रेणियाँ और त्रिवर्गी राशियों के बीच त्रिवर्गी श्रेणियाँ बनती हैं। इसी समुदाय के भारी तत्त्वों में एकीय तथा त्रितीय-वर्गी राशियों के बीच और त्रिवर्गी तथा एकवर्गी के बीच भी संबंध पाया जाता है। इनके संबंध से जो रेखायें और श्रेणियाँ बनती हैं उन्हें माध्यमिक रेखा तथा श्रेणियां कहते हैं। ऐसी रेखायें

कैलशियम, स्ट्रांशियम और वेरियम के स्पेक्ट्रम में पायी जाती हैं। अन्य उच्चभार के तत्त्वों के स्पेक्ट्रम में भी माध्यमिक रेखायें अधिक प्रखर पायी जाती हैं। उदाहरणार्थ परद स्पेक्ट्रम के अल्ट्रावायलेट क्षेत्र में २५३७ A° की रेखा ऐसी ही माध्यमिक रेखा है जिसके द्वारा परद की उपस्थिति का पता न्यूनतम मात्रा में भी लगाया जा सकता है।

परमाणु के स्पेक्ट्रम में रेखीय श्रेणियों की संख्या सीमित नहीं। पाशेन ने नियान के स्पेक्ट्रम में १३० श्रेणियों की खोज की है। उनमें ३० श्रेणियाँ तीक्ष्ण वर्ग की, ३० प्रमुख वर्ग की और ७० धुन्धली वर्ग की हैं जिनका संबंध चार S प्रकार की राशियों से, दस P राशियों से, बारह D राशियों से पाया जाता है। इनके अतिरिक्त बहुत-सी अनियमित (abnormal) श्रेणियाँ मिली हैं जिनकी व्याख्या रिट्ज के नियम से करना सरल नहीं।

चित्र संख्या (10) में सोडियम परमाणु की स्थायी स्थितियाँ दिखायी गयी हैं और परमाणु के स्पेक्ट्रम की श्रेणियों की उत्पत्ति उन्हीं स्थितियों के बीच आप्टिकल इलेक्ट्रान के उतार और चढ़ाव से प्रदर्शित की गई हैं। सारिणी (1) में ऊपरी और निचली स्थितियों के n तथा l के मान दिये गये हैं। देखा जाता है कि l के मान में अन्तर $+1$ अथवा -1 पाया जाता है और n के मान में अन्तर १,२,३,४··· ∞ (अनन्त संख्या) तक कोई भी पूर्ण संख्या होती है।

सारणी (1)

श्रेणी	l का मान		l के मान में अन्तर	n का मान	
	ऊपरी स्थिति	निचली स्थिति		ऊपरी स्थिति	निचली स्थिति
तीक्ष्ण (Sharp)	0	1	-1	4,5,6	3
प्रमुख (Principal)	1	0	$+1$	3,4,5	3
धुंधली Diffuse)	2	1	$+1$	3,4,5	3
मुख्य श्रेणी (Fundamental)	3	2	$+1$	4,5,6	3

तीक्ष्ण श्रेणी की सभी रेखाएँ उन ऊपरी स्थितियों से संबंधित हैं जिनके लिए $l = 0$ होता है। इन स्थितियों के इलेक्ट्रान को एस (s) इलेक्ट्रान कहते हैं (S = Sharp = तीक्ष्ण) और $l = 1$ स्थितियों के इलेक्ट्रान को पी (p) इलेक्ट्रान (P = Principal = प्रमुख) कहते हैं। इसी भाँति $l = 2$ के इलेक्ट्रान को d इलेक्ट्रान, $l = 3$ के इलेक्ट्रान को f इलेक्ट्रान, $l = 4$ के इलेक्ट्रान को g इलेक्ट्रान कहते हैं। l के अन्य उच्च मानों के लिए इसी प्रकार अंग्रेजी वर्णमाला के अन्य अक्षर इलेक्ट्रानों की संज्ञा बताने के लिए माने गये हैं। विभिन्न श्रेणियों की उत्पत्ति में जिन स्थितियों के बीच संक्रमण होता है उनके मान में अन्तर अर्थात् Δl सदा $+1$ अथवा -1 पाया जाता है। वे संक्रमण जिसमें

$\triangle l=0, 2,3,4\cdots\cdots$होता है, वर्जित हैं। संक्रमण का यही एक विशेष नियम है। कौन-सी स्थितियाँ संक्रमण में भाग ले सकती हैं उनका चुनाव इसी नियम से होता है। साथ ही $\triangle n=1,2,3\cdots\cdots$पाया जाता है।

हाइड्रोजन, अल्कली तत्त्व तथा हाइड्रोजन के समान अन्य आयनित तत्त्वों के स्पेक्ट्रम में समानता पायी जाती है और इनका विश्लेषण इन्हीं नियमों के आधार पर किया जाता है। स्पेक्ट्रम के विश्लेषण में इन्हीं दोनों नियमों की प्रधानता रहती है।

स्पेक्ट्रम रेखाओं की विपुलता

(Multiplicity of Spectral Lines)

परमाणु के स्पेक्ट्रम में रेखायें बहुधा एकक (Singlet) नहीं पायी जाती। साधारण स्पेक्ट्रोग्राफ में एकक मालूम पड़ने वाली रेखायें अच्छे बड़े स्पेक्ट्रोग्राफ में द्विक (Doublet) अथवा त्रिक (Triplet) देखी जाती हैं, जैसे कि सोडियम की पीली रेखा में दो रेखाएँ लगभग 6 A° की दूरी पर होती हैं। इनका तरंगदैर्घ्य 5896 A° और 5890 A° होता है। दोनों का उत्सर्जन समान रीति से दो स्थायी स्थितियों के बीच संक्रमण से होता है। अन्य परमाणुओं के स्पेक्ट्रम में भी इसी प्रकार की रेखायें मिलती हैं जिनमें दो, तीन, चार, छ उपरेखाएँ जुटी हुई पायी जाती है। इन सब रेखाओं को बहुक (Multiplet) कहते हैं। दो स्थायी स्थितियों के बीच केवल एक रेखा मिलनी चाहिए। अतः बहुक रेखा के लिए अनुमान करना पड़ता है कि सम्भवतः स्थायी स्थितियाँ स्वयं कई मान की होती हैं।

इलेक्ट्रान का परिभ्रमण (Electron Spin)

वास्तव में स्थायी स्थितियाँ इलेक्ट्रान के स्पिन (घूर्ण) के कारण विभाजित हो जाती हैं। इन्हीं बहुक रेखाओं की मीमांसा के लिए उल्हेनवेक और गाउडस्मिट ने इलेक्ट्रान के परिभ्रमण की कल्पना की थी। विद्युताविष्ट इलेक्ट्रान के परिभ्रमण से विद्युत क्षेत्र (electric field) उत्पन्न होता है, साथ ही इलेक्ट्रान के कक्षीय परिक्रमा से चुम्बकीय क्षेत्र भी उत्पन्न होता है। इन दोनों क्षेत्रों की पारस्परिक क्रिया से इलेक्ट्रान प्रभावित होता है और परमाणु की एकक ऊर्जा-स्थिति कई मान की हो जाती है। इलेक्ट्रान का परिभ्रमण घूर्ण एक ही मान का दो विपरीत दिशाओं में होता है। दक्षिणावर्त घूर्ण ऋणात्मक और वामावर्त परिभ्रमण का घूर्ण धनात्मक लिया जाता है। इन घूर्णों की कार्यरेखा कक्षीय चुम्वकीयघूर्ण की दिशा में पायी जाती है।

यदि स्पिन घूर्ण उसी दिशा में लागू होता है जिस दिशा में कक्षीय चुम्बकीय घूर्ण अथवा बाहरी चुम्बकीय घूर्ण तो इसे समान्तर (parallel) स्पिन घूर्ण मानते हैं और विपरीत दिशा के घूर्ण को प्रतिसमान्तर (anti-parallel) स्पिन घूर्ण कहते हैं। समान्तर स्पिन घूर्ण की स्पिनक्वाण्टम संख्या $+\frac{1}{2}$ और प्रतिसमान्तर की $-\frac{1}{2}$ होती है। यदि कक्षीय क्वाण्टम संख्या $l=0$ है तो कक्ष के चुम्बकीय घूर्ण का मान शून्य हो जाता है और $l=0$ स्थितियाँ बहुमानी नहीं पायी जातीं। इन स्थितियों की बहुलता छिपी

रहती है और केवल बाहरी प्रबल चुम्बकीय क्षेत्र में ही प्रकट होती है। ऐसी स्थितियों को अपकृष्ट स्थितियाँ (degenerate state) कहते हैं। एक ही आप्टिकल इलेक्ट्रान वाले परमाणुओं की स्थितियाँ, जिनके लिए $l = 1$ होता है, दो में विभक्त हो जाती हैं। एक उप-स्थिति की ऊर्जा का मान $(1+\frac{1}{2})\ \frac{h}{2\pi} = (3/2)\ \frac{h}{2\pi}$ और दूसरी की ऊर्जा का $(1-\frac{1}{2})\ \frac{h}{2\pi}=\frac{1}{2}\frac{h}{2\pi}$ होता है। क्वाण्टम संख्या L और S के योग को J से व्यक्त करते हैं। इसे पूर्ण क्वाण्टम संख्या कहते हैं और इसी के मान से इलेक्ट्रान का कक्षीय और स्पिन का संयुक्त घूर्ण निकाला जाता है। इस प्रकार सोडियम की प्रथम स्थायी-स्थिति, जिसके लिए $n=3,\ l=1$ होता है, दो में विभाजित होती है—

(1) $n=3, l=1$ और $S=+\frac{1}{2}$ अथवा $J=3/2$ और

(2) $n=3, l=1$ और $S=-\frac{1}{2}$ अथवा $J=-1/2$

इन दोनों उप-स्थितियों की ऊर्जा-मान में ०.००२ वोल्ट, अथवा १७ cm^{-1} अथवा 6 A° का अन्तर होता है जो सोडियम स्पेक्ट्रम की D_1 और D_2 रेखाओं के बीच पाया जाता है।

लघु तत्त्वों के स्पेक्ट्रम में ऐसी द्विक रेखाओं (Doublete) का बिलगाव लगभग इसी मान का होता है जो परमाणुभार के साथ बढ़ता जाता है। गुरु तत्त्वों के स्पेक्ट्रम में ऐसी द्विक रेखाओं का बिलगाव इतनां अधिक हो जाता है और द्विक रेखा के संघटक इतनी दूरी पर पड़ते हैं कि उनको पहचानना कठिन हो जाता है। यदि बाहरी कक्ष में दो अथवा दो से अधिक इलेक्ट्रान हैं तो किसी स्थिति का विभाजन आप्टिकल इलेक्ट्रानों की स्पिन संख्या के योग S पर निर्भर करता है और यह योग भी सदा धनात्मक रहता है। स्थिति की विपुलता (Multiplicity) $M=2S+1$ होती है। अतः दो आप्टिकल इलेक्ट्रानों के परमाणुओं के लिए $S=\frac{1}{2}-\frac{1}{2}=0$ और $S=\frac{1}{2}+\frac{1}{2}=1$ होता है और स्थिति की विपुलता एकक (simplet) तथा त्रिक (triplet) होती है। इस रूप की स्थितियाँ हीलियम, वेरीलियम, कैलशियम, परद, आदि में पायी जाती हैं।

तीन आप्टिकल इलेक्ट्रान वाले परमाणु में $S=\frac{1}{2}+\frac{1}{2}+\frac{1}{2}=3/2$ अथवा $S=\frac{1}{2}-\frac{1}{2}+\frac{1}{2}=\frac{1}{2}$ होता है और नाइट्रोजन, फासफोरस आदि परमाणुओं की स्थितियों की बिपुलता ४ अथवा २ पायी जाती है। यदि परमाणु में ४ आप्टिकल इलेक्ट्रान हों, जैसे आक्सीजन में तो S= २, १, ० और स्थितियों की बिपुलता ५, ३ और १ होती है। इस प्रकार देखा जाता है कि यदि कोई समसंख्या है तो S का मान $\frac{1}{2}$ से लेकर इकाई अन्तर से $n/2$ तक पाया जाता है और स्थायी स्थितियों की विपुलता विषमसंख्या होती है। यदि आप्टिकल इलेक्ट्रानों की संख्या विषम हो तो परमाणु की स्थायीस्थितियों की विपुलता समसंख्या होती है।

दो अथवा दो से अधिक आप्टिकल इलेक्ट्रानों की कक्ष क्वाण्टम-संख्या का मान इसी भाँति प्रत्येक इलेक्ट्रान के l के योग से ज्ञात किया जाता है और संयुक्त योग को L से

व्यक्त करते हैं। कक्षाओं का चुम्बकीय घूर्ण किसी बाहरी चुम्बकीय क्षेत्र से प्रभावित होता है और इलेक्ट्रान-कक्ष के तल का अनुस्थान (orientation) इसी चुम्बकीय क्षेत्र की दिशा की अपेक्षा ज्ञात किया जाता है। चुम्बकीय क्षेत्र की दिशा में $m\,\frac{h}{2\pi}$ होता है जिसमें m चुम्बकीय क्वाण्टम-संख्या पूर्ण-संख्या होती है। संयुक्त चुम्बकीय घूर्ण का अवयव (component) क्षेत्र तल का अनुस्थान (orientation) घनात्मक तथा ऋणात्मक दोनों सम्भव हैं। इस कारण $m=+\mathrm{L},+(\mathrm{L}-1)\cdots\cdots 0,-$ १ $-$ २ $\cdots\cdots$ L होता है और किसी L के लिए m के $2\,\mathrm{L}+1$ मान होते हैं, किन्तु L सदा घनात्मक लिया जाता है और इसका उच्चतम मान सभी इलेक्ट्रानों के l के योग के बराबर होता है।

यदि किसी परमाणु में तीन आप्टिकल इलेक्ट्रान भिन्न संज्ञा के हों जैसे—

(१) $n_1=2,\ \mathrm{L}_1=1,\ m_1=+1,\ \mathrm{S}_1=+\frac{1}{2}$

(२) $n_2=3,\ \mathrm{L}_2=2,\ m_2=+2,\ \mathrm{S}_2=+\frac{1}{2}$

और (३) $n_3=4,\ \mathrm{L}_3=3,\ m_3=+3,\ \mathrm{S}_3=+\frac{1}{2}$

तो $\mathrm{S}=s_1+s_2+s_3=3/2$

और $\mathrm{L}=l_1+l_2+l_3=m_1+m_2+m_3=6$ होता है।

परमाणु की स्थायी-स्थिति की ऊर्जा S और L तथा उनकी पारस्परिक क्रिया (interaction) पर निर्भर करती है। स्पिन क्वाण्टम संख्याओं का योग S तथा कक्ष क्वाण्टम संख्याओं का योग L के संयोग से परमाणु की सम्पूर्ण क्वाण्टम संख्या J का मान मिलता है। जिसके द्वारा $h/2\pi$ की इकाइयों में परमाणु के संम्पूर्ण कोणीय पूर्ण (total angular momentum) का पता लगता है। इस J का मान घनात्मक$=(\mathrm{L}+\mathrm{S}),$ $(\mathrm{L}+\mathrm{S}-1)\cdots\cdots(\mathrm{L}-\mathrm{S})$ होता है। परमाणु की स्थायी-स्थितियों की संज्ञा इन्हीं L, S और J से व्यक्त की जाती हैं और इन्हीं से स्थिति की ऊर्जा का भी पता लगता है। स्थिति की संज्ञा M_{LJ} होती है। जिसमें M स्थिति की विपुलता $(2\,\mathrm{S}+1)$ कोई संख्या होती है, J का मान L तथा S के संयोग से एक संख्या पायी जाती है। L से स्थिति का नाम रोमन के बड़े अक्षरों द्वारा व्यक्त किया जाता है। यथा—

L	स्थिति का नाम	द्वैतिक पदों के लिए J का मान
०	S	$\frac{1}{2}$
१	P	$\frac{1}{2}$ 3/2
२	D	3/2 5/2
३	F	5/2 7/2
४	G	7/2 9/2

प्राय: स्थितियों के नाम संज्ञा के पूर्व प्रमुख क्वाण्टम संख्या n का भी उल्लेख किया जाता है। इस प्रणाली के अनुसार सोडियम की पीली रेखा की ऊपरी स्थिति में इलेक्ट्रान की प्रमुख क्वाण्टम संख्या $n = 3$

कक्ष क्वाण्टम संख्या $L = 1$

और स्पिन क्वाण्टम संख्या $S = \frac{1}{2}$ होती है।

और यथानुकूल $L = 1, S = \frac{1}{2}, M = 2$ और $J = 3/2$ और $\frac{1}{2}$ पाया जाता है। अत: स्थिति का निरूरण $n^{M}L_{J} \longrightarrow 3\,^{2}P_{3/2}$ और $3\,^{2}P_{1/2}$ द्वारा किया जाता है। निचली स्थिति में इलेक्ट्रान की

प्रमुख क्वाण्टम संख्या $n = 3$

कक्ष क्वाण्टम संख्या $L = 0$

और स्पिन क्वाण्टम संख्या $S = \frac{1}{2}$ होती है।

अत: $L = 0, S = \frac{1}{2}, M = 2$ और $J = \frac{1}{2}$ होते हैं और स्थिति का निरूपण $n^{M}L_{J} \longrightarrow 3\,^{2}S_{1/2}$ से किया जाता है। जब ऊपरी दो उप-स्थितियों से इलेक्ट्रान उतर कर निचली स्थिति में आता है तो दो रेखायें स्पेक्ट्रम में बनती हैं :—D_1 रेखा $3\,^{2}S_{1/2} - 3\,^{2}P_{1/2}$ संक्रमण से और D_2 रेखा $3\,^{2}S_{1/2} - 3\,^{2}P_{3/2}$ संक्रमण से उत्पन्न होती हैं। संक्रमण निर्देशन में निचली स्थिति को पहले लिखने की प्रथा है।

विपुल स्थितियों की अपेक्षित ऊर्जा तथा उनके क्रमिक स्तर बताने के लिए निम्नलिखित तीन नियम बड़े उपयोगी पाए गए हैं। इनके द्वारा उन परमाणुओं के, जिनमें अधिक आप्टिकल इलेक्ट्रान होते हैं, स्पेक्ट्रम का विश्लेषण करना सहज होता है और उनकी रचना की जानकारी प्राप्त करने में बड़ी मदद मिलती है :—

(1) हुण्ड का नियम (Hund's Rule)

यदि किसी परमाणु में आप्टिकल इलेक्ट्रानों की प्रमुख क्वाण्टम संख्या n तथा कक्ष क्वाण्टम संख्या L एक ही हों किन्तु क्वाण्टम संख्या m तथा S भिन्न हों तो कई स्थायी-स्थितियों का प्रादुर्भाव होता है। इनमें उन स्थितियों की ऊर्जा न्यूनतम पायी जाती है जिनके लिए विपुलता का मान M उच्चतम पाया जाता है। फिर समान उच्चतम विपुलता वाली स्थितियों में वह स्थिति न्यूनतम स्तर पर होती है जिसके लिए L का मान उच्चतम होता है।

(2) लाण्डे का अन्तराल नियम (Lande's Interval Rule)

एक ही बहुमानी स्थिति में J के मान के अनुसार कई उप-स्थितियाँ होती हैं जिनके लिए L और S समान होते हैं। इनमें किन्हीं दो निकटवर्ती उप-स्थितियों की ऊर्जा में अन्तर उच्चतर J के मान का समानुपाती होता है।

(3) उत्क्रमण का नियम (Inversion Rule)

यदि किसी परमाणु के बाहरी उपकोष्टक (sub-shell) में आप्टिकल इलेक्ट्रानों की संख्या उस उपकोष्टक की संतृप्त संख्या ($s = 2, p = 6, d = 10\ldots$) की आधी से कम है तो बहुमानी स्थिति (multiplet) की वह उप-स्थिति (sub-state) सबसे निचले स्तर पर होती है जिसके लिए J का मान न्यूनतम होता है, किन्तु जब उपकोष्टक में इलेक्ट्रानों की संख्या संतृप्त संख्या की आधी से अधिक होती है तो उप-स्थितियों का क्रम उलट जाता है और वह उप-स्थिति सबसे निचले स्तर पर होती है जिसके लिए J का मान उच्चतम होता है।

इलेक्ट्रान वितरण (Electronic configuration in Atoms)

इन नियमों का उपयोग परमाणु स्पेक्ट्रम के विश्लेषण में तभी सम्भव है जब हम परमाणु के भीतर इलेक्ट्रान वितरण का क्रम पाली-सिद्धान्त के अनुसार भलीभाँति समझ लें और प्रत्येक इलेक्ट्रान के लिए उसकी चारों क्वाण्टम संख्याओं को निर्दिष्ट कर दें। पाली नियम (Pauli's Exclusion Principle) की झलक प्रो० नील्सबोर ने सन् 1921 ई० में दे दी थी किन्तु नियम का प्रतिपादन प्रो० डब्लू० पोली ने सन् 1926 ई० में किया। फिर इस नियम का सैद्धान्तिक निरूपण क्वाण्टम-यांत्रिकी द्वारा मौलिक रूप से बहुत समय बाद हुआ। इस नियम के अनुसार किसी परमाणु के भीतर किन्हीं दो इलेक्ट्रानों की चारों क्वाण्टम संख्यायें एक नहीं हो सकतीं। हमने देखा है कि इन चारों क्वाण्टम संख्याओं पर निम्नलिखित सैद्धान्तिक प्रतिबन्ध पहले ही से लगते हैं:—(1) $n = 1, 2, 3, \ldots\ldots \infty$ कोई पूर्ण संख्या हो सकती है (2) L सदा n से छोटी कोई पूर्ण संख्या होती है। M का मान $+L$ से लेकर 0 सहित $-L$ तक कोई पूर्ण संख्या होती है और S सदा $+\frac{1}{2}$ अथवा $-\frac{1}{2}$ होता है। इन प्रतिबन्धों सहित पाली-सिद्धान्त और स्थायी ऊर्जा के नियमों को ध्यान में रखकर हम स्पेक्ट्रम के अध्ययन से परमाणु तथा आयनित तत्वों की रचना का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

परमाणु के न्यूक्लियस के चतुर्दिक वितरित होते समय सभी इलेक्ट्रान ऊर्जा की न्यूनतम स्थिति में आना चाहते हैं; अर्थात् वे सभी कक्ष $n = १$ में जमना चाहते हैं, किन्तु प्रमुख क्वाण्टम संख्या $n = 1$ के लिए $L = 0$ और $m = 0$ होता है। अतः इस कक्ष में पाली-सिद्धान्त के अनुसार केवल दो इलेक्ट्रान आ सकते हैं। एक के लिए स्पिन क्वाण्टम संख्या $+\frac{1}{2}$ और दूसरे के लिए $-\frac{1}{2}$ होती है। दोनों इलेक्ट्रानों को मिलाकर न्यूक्लियस के चतुर्दिक एक पर्त (shell) बन जाती है। बाकी इलेक्ट्रान कक्ष $n = २$ तथा अन्य कक्षों में वितरित होते हैं। कक्ष $n = २$ के लिए $L = 0$ और 1 हो सकता है। $L = 0$ के लिए $m = 0$ और $L = 1$ के लिए $m = 1, 0, -1$ होता है। इन चार उपकोष्ठों में प्रत्येक m के लिए दो इलेक्ट्रान विपरीत स्पिन के आवश्यक होते हैं। $L = 0, m = 0$ के दो इलेक्ट्रान S संज्ञा के और $L = 1, m = 1, 0, -1$ के 6 इलेक्ट्रान p संज्ञा के; $n = 2$ कक्ष में सब मिलाकर 8 इलेक्ट्रान रह सकते हैं।

कक्ष $n = 3$ के लिए $L = 0, 1, 2$ होता है और $L = 0$, के अनुकूल $m = 0$ और $S = \mp\frac{1}{2}$ को लेकर दो S इलेक्टान, $L = 1$ के अनुकूल $m = 1, 0, -1$ और इनमें प्रत्येक के लिए $S\pm\frac{1}{2}$ लेकर 6 p इलेक्ट्रान और $L = 2$ के अनुकूल $m = 2, 1, 0, -1 -2$ और इनमें प्रत्येक के लिए $S\pm\frac{1}{2}$ लेकर 10 d इलेक्ट्रान आवश्यक होते हैं। सब मिलाकर कक्ष $n = 3$ में अट्ठारह इलेक्ट्रान रह सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि

$n = 1$ कक्ष में 2 s इलेक्ट्रान = 2 इलेक्ट्रान
$n = 2$ कक्ष में 2 s और 6 p इलेक्ट्रान = 8 इलेक्ट्रान
$n = 3$ कक्ष में 2 s, 6 p और 10 d इलेक्ट्रान
= 18 इलेक्ट्रान
$n = 4$ कक्ष में 2 s, 6 p, 10 d, 14 f = 32 इलेक्ट्रान

रह सकते हैं।

सैद्धान्तिक रूप से परमाणुओं के न्यूक्लियस के चतुर्दिक इलेक्ट्रानों का वितरण इसी प्रकार होना चाहिए किन्तु आप्टिकल इलेक्ट्रान की कक्ष सदा पूर्ण वृत्ताकार नहीं रहती और ज्यों-ज्यों n का मान बढ़ता जाता है, कक्षों के बीच की दूरी घटती जाती है और L के मान पर कक्षों की दीर्घ वृत्तता (ellipticity) बढ़ती जाती है। इसका कारण n की अपेक्षा L की प्रधानता पायी जाती है। हम देखते हैं कि $n = 3$ के ऊपर जब $n = 4, 5, 6$ होता है तो स्थितियाँ बहुत निकट आ जाती हैं और तब यह कहना कठिन होता है कि स्थिति $n = 4, L = 0$ और $n = 3, L = 2$ में कौन अधिक ऊर्जा की स्थिति है और उनमें कौन न्यूनतर स्तर पर होगी। इसका निर्णय स्पेक्ट्रम की रेखाओं के अध्ययन के आधार पर ऊर्जा स्तर-चित्र (energy level diagram) बनाकर किया जाता है। पोटैशियम का स्पेक्ट्रम सोडियम के समान होता है और पोटैशियम के ऊर्जा-स्तर-चित्र से विदित होता है कि $n = 4, L = 0$ न्यूनतर स्थिति में है। अतः इलेक्ट्रान $n = 3, L = 2$ स्थायी स्थितियों में न जाकर $n = 4, L = 0$ न्यूनतर स्थिति में जाता है और $n = 3, L = 2$ स्थिति परमाणुओं की क्रमिक रचना में रिक्त पड़ी रहती है। ऐसा इलेक्ट्रानिक वितरण पोटेशियम परमाणु में पाया जाता है। पोटेशियम परमाणु में 19 इलेक्ट्रान होते हैं इनमें से दो s इलेक्ट्रान कक्ष $n = 1$ में, आठ इलेक्ट्रान कक्ष $n = 2$ में रहते हैं। कक्ष $n = 3$ में 18 इलेक्ट्रान की जगह केवल 8 इलेक्ट्रान, दो s संज्ञा के और 6 p संज्ञा के रहते हैं। तीसरा उप-कोष्ठक $n = 3$, $L = 2$ रिक्त पड़ा रहता है। उन्नीसवाँ इलेक्ट्रान ऊर्जा के मान के अनुसार $n = 4, L = 0$ में जाता है और इसकी संज्ञा s होती है।

इस भाँति पोटेशियम परमाणु में इलेक्ट्रानों का वितरण सोडियम के समान पाया जाता है और दोनों में केवल एक आप्टिकल इलेक्ट्रान s संज्ञा का होता है। इसी रीति से सभी अल्कली तत्त्वों में आप्टिकल इलेक्ट्रान s संज्ञा के होते हैं।

लीथियम 3, $Li \rightarrow n = 2$, $L = 0$, 2 s इलेक्ट्रान
सोडियम 11, $Na \rightarrow n = 3$, $L = 0$, 3 s इलेक्ट्रान

पोटैशियम 19 $K \rightarrow n = 4,$ $L = 0,$ $4\,s$ इलेक्ट्रान
रूबीडियम 37 $Rb \rightarrow n = 5,$ $L = 0,$ $5\,s$ इलेक्ट्रान
सीजियम 55 Cs $n = 6,$ $L = 0,$ $6\,s$ इलेक्ट्रान

पाये जाते हैं और इन सबके रसायनिक गुण समान होते हैं।

इसी हिसाब से कैलशियम परमाणु में उन्नीसवाँ और बीसवाँ दोनों इलेक्ट्रान s संज्ञा के होते हैं और $n = 4, L = 0$ कक्ष में रहते हैं। कैलशियम परमाणु के दो आप्टिकल इलेक्ट्रान $4\,s^2$ लिखे जाते हैं। मैग्नीशियम परमाणु में क्रमिकरूप से $3\,s^2$ बाहरी कक्ष में रहते हैं। इसके लिए $n = 3, L = 0$ होता है। अन्य अल्कलाइन तत्त्वों के बाहरी कक्ष में ns^2 इलेक्ट्रान होते हैं। 38 वें तत्व स्ट्रांशियम में $5s^2$, 56 वें वेरियम में $6s^2$ और 88 वें रेडियम में $7s^2$ दो s संज्ञा के इलेक्ट्रान रहते हैं।

परमाणु संख्या इक्कीस वाले तत्त्व स्कैंडियम में 20 इलेक्टानों का वितरण पोटेशियम के समान होता है किन्तु इक्कीसवाँ इलेक्ट्रान $n = 4, L = 1$ कक्ष में न जाकर इसकी अपेक्षा न्यूनतर रिक्त स्तर $n = 3, L = 2$ में जाता है। इस इलेक्ट्रान की संज्ञा d होती है और बाइसवें तत्त्व से लेकर तीसवें तत्त्वों में एक-एक करके 9 इलेक्ट्रान इसी कक्ष में क्रमशः भरते जाते हैं जब तक कि कक्ष पूर्ण संतृप्त नहीं हो जाता। इस प्रकार स्थायी स्थितियों की ऊर्जा मान को ध्यान में रखते हुए पाली-सिद्धान्त के आधार पर क्वाण्टम संख्याओं द्वारा आवर्तन-सारिणी के सभी तत्त्वों की साधारण अवस्था में इलेक्ट्रानिक वितरण का ज्ञान होता है। इससे न केवल रसार्यानिक क्रियाओं का बोध होता है बल्कि तत्त्वों के भौतिक तथा रसायनिक सभी गुणों का बोध होता है। आधुनिक विज्ञान की प्रगति इसी के द्वारा कुछ थोड़े से वर्षों में इतनी अधिक हो सकी है।

सारिणी (2) में तत्त्वों के भीतर इलेक्ट्रान वितरण और उनकी साधारण स्थायी स्थितियों की संज्ञा दी गयी है। ध्यानपूर्वक अध्ययन करने पर पता लगता है कि विभिन्न कोष्ठों तथा उपकोष्ठकों की संतृप्ति किसी निष्क्रिय गैसीय तत्त्व से होती है। जैसे —

हीलियम $He\ (2) \longrightarrow 1s^2$
नियोन $Ne\ (10) \longrightarrow 1s^2\ 2s^2\ 2p^6$
आरगान $A\ (18) \longrightarrow 1s^2\ 2s^2\ 2p^6\ 3s^2\ 3p^6$
क्रिप्टान $Kr\ (36) \longrightarrow [A=18]\ 3d^{10}\ 4s^2\ 4p^6$
जैनान $Xe\ (54) \longrightarrow [Kr=36]\ 4d^{10}\ 5s^2\ 5p^6$
रेडान $Rn\ (86) \longrightarrow [Xe=54]\ 4f^{14}\ 5d^{10}\ 6s^2\ 6p^6$

मध्यवर्ती तत्त्वों का इलेक्ट्रानिक वितरण सारिणी में इन गैसीय तत्त्वों के संतृप्त कोष्ठों के बाद के ही उपकोष्ठकों के इलेक्ट्रानों से बताया गया है। तत्त्वों के साधारण स्थायी स्थिति के नाम अन्तिम स्तम्भ में दिये गये हैं।

समान इलेक्ट्रानिक वितरण वाले परमाणु तथा आयनों के स्पेक्ट्रम की तुलना

पाली-सिद्धान्त का प्रवर्तन परमाणु न्यूक्लियस के धनात्मक आवेश के मान पर आश्रित नहीं होता। न्यूक्लियस के आवेश की वृद्धि से आयनित तत्त्व का सम्पूर्ण स्पेक्ट्रम उसी इलेक्ट्रानिक वितरण वाले तत्त्व के समान होते हुए लघुत्तम तरंगदैर्ध्य की ओर खिसक जाता है। हम लोग पहले देख चुके हैं कि हीलियम आयन (He^+) की स्थायी स्थितियाँ हाइड्रोजन के समान होती है किन्तु न्यूक्लियस पर दो इकाई आवेश के अनुकूल व्यंजक 4 से स्थानान्तरित पायी जाती हैं। सम इलेक्ट्रानिक तत्त्वों तथा आयनों के स्पेक्ट्रम की तुलना कर कौसेल (kossel) और सोमरफेल्ड (somerfild) ने निम्नलिखित स्थानान्तरण नियम का प्रतिपादन किया है—

जिन परमाणुओं और आयन में इलेक्ट्रानों की संख्या एक समान पायी जाती हैं, उनकी ऊर्जा स्थितियाँ समतुल्य होती हैं, और उनके ऊर्जा मान में अन्तर केवल परमाणु संख्या अथवा न्यूक्लियस के आवेश के वर्ग का अनुपाती होता है। किसी तत्त्व के एकीय आयन का स्पेक्ट्रम आवर्त-सारिणी में उसके एक स्थान पूर्व वाले साधारण परमाणु के स्पेक्ट्रम के समान होता है। इसी भाँति किसी तत्त्व के द्वैतिक आयन का स्पेक्ट्रम दो स्थान पूर्व वाले तत्त्व के स्पेक्ट्रम के समान पाया जाता है।

विपुलता का एकान्तरण
(Alternation of multiplicity)

बोरान (5), अल्यूमीनियम (13), गैलियम (31) इण्डियम (49) के पद (terms) जिसमें np^1 आप्टिकल इलेक्ट्रान होता है, हाइड्रोजन तथा अल्कली तत्त्वों के पदों के समान द्वैतिक होते हैं। इनमें कुछ चतुष्पदी भी होते हैं। इस कारण इन तत्त्वों के ऊर्जा-स्तर-चित्रों (energy level diagrams) में स्थायी स्थितियों का निरूपण दो खण्डों में—एक द्विपदी और दूसरा चतुष्पदी—किया जाता है।

हीलियम, मैग्निशियम, आदि की स्थितियाँ एकाकी और त्रियक होती हैं इनके आप्टिकल इलेक्ट्रान की संज्ञा ns^2 है।

कार्बन (6), सिलिकान, (14), जर्मेनियम (32) आदि के आप्टिकल इलेक्ट्रानों की संज्ञा np^2 होती है और इनकी स्थायी स्थितियां एकाकी, और त्रियक और पंचक पायी जाती हैं। नाइट्रोजन (7), फ़ासफोरस (15), आर्सनिक (33), एण्टीमनी (51) विस्पथ (83) आदि में आप्टिकल इलेक्ट्रानों की संज्ञा np^3 होती है और इनके पद द्वयक, त्रियक, चतुष्क और कुछ पष्ठक होते हैं। आक्सीजन (8), गन्धक (16), सिलीनियम (34), टिल्यूरियम (52) में np^4 संज्ञा के आप्टिकल इलेक्ट्रान होते हैं और उनकी स्थितियाँ एकाकी, त्रियक और पंचक होती हैं। फ्लोरीन, क्लोरीन, ब्रोमीन, आयोडीन आदि हैलोजन तत्त्वों की स्थितियाँ द्विपदी और चतुष्पदी पायी जाती हैं। हीलियम तथा अन्य निष्क्रिय तत्त्वों की ऊर्जा-स्थितियाँ एकिक और त्रियक होती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि आवर्त-सारिणी के स्तम्भों में तत्त्वों के पद एकान्तर क्रम से सम और विषम विपुलता के पाये जाते हैं। उन परमाणुओं तथा आयनों के पदों की विपुलता का मान विषम

संख्यात्मक होता है जिनमें इलेक्ट्रानों की संख्या सम होती है और उन परमाणुओं तथा आयनों के पदों की विपुलता सम-संख्यात्मक होती है जिनमें इलेक्ट्रानों की संख्या विषम होती है।

इस प्रकार परमाणु एवं आयन के पद और उनकी विपुलता और पदों के बीच संक्रमण से स्पेक्ट्रम की रचना उनकी इलेक्ट्रान संख्या पर निर्भर है। न्यूक्लियस (nucleus) के आवेश और भार के कारण स्पेक्ट्रम का स्थान भिन्न पाया जाता है।

इलेक्ट्रान संख्या	सम्भावित विपुलता
1	द्वयक
2	एकिक, त्रयक
3	द्वयक, चतुष्क
4	एकिक, त्रयक, पंचक
5	द्वयक, चतुष्क, षष्टक
6	एकिक, त्रयक, पंचक, सप्तक
7	द्वयक, चतुष्क, षष्टक, अष्टक
8	एकिक, त्रयक, पंचक, सप्तक, नवक

संक्रमण के नियम

ऊपर बताया गया है कि विभिन्न स्थायी-स्थितियों के बीच संक्रमण होने से अर्थात् किसी ऊपरी स्थिति और किसी निचली स्थिति के बीच आप्टिकल इलेक्ट्रान के संक्रमण से ऊर्जा विकीर्ण होती है और स्पेक्ट्रम रेखायें बनती हैं। यदि सभी स्थायी स्थितियों में तथा उपस्थितियों में संक्रमण हो तो स्पेक्ट्रम रेखाओं की संख्या असीमित हो जाय, किन्तु हमें स्पेक्ट्रम में सीमित रेखायें और उप-रेखायें मिलती हैं। इससे विदित होता है कि सभी स्थितियों के बीच संक्रमण सम्भव नहीं।

किसी रश्मि की उत्पत्ति परमाणु के पदों (terms) के ऊर्जा मान पर निर्भर होती है। संक्रमण के पहले अथवा बाद में स्रोत की स्थिति कैसी थी, इस पर रश्मि का विकिरण आश्रित नहीं रहता। रश्मि का आवर्तनांक (frequency) उन पदों की ऊर्जा मान के अन्तर का अनुपाती होता है जिनके बीच संक्रमण होने से रश्मि निकलती है। रश्मि की प्रखरता (intensity) ऊपरी तथा निचली स्थितियों के अनुरूप तीव्र अथवा क्षीण होती है। मान लीजिए कि किसी विसर्पण नलिका में सभी परमाणु उत्तेजित होकर किसी एक स्थायी स्थिति में विद्यामान हैं और उस स्थायी स्थिति की ऊर्जा W_1 है तो संक्रमण से आवर्तनांक ν_{1-2} की रश्मि तभी निकलेगी जब कि निचली किसी स्थायी स्थिति की उर्जा W_2 ऐसे मान की हो जिससे कि $h\nu_{1-2} = W_1 - W_2$ पाया जाय। अब W_1 से कितने परमाणु एक सेकंड में उतर कर W_2 पर आते हैं इसी पर रश्मि की प्रखरता निर्भर करती है। यदि एक सेकेंड में N_{1-2} परमाणु W_1 से W_2 पर आते हैं तो प्रखरता

$$I = Kx\, N_{1-2} x\, h\nu_{1-2}$$ होती है।

प्रश्न उठता है कि परमाणु संख्या N_{1-2} का अनुमान कैसे किया जाय ? क्योंकि W_2 के अतिरिक्त W_3, W_4 अन्य स्थितियाँ भी हैं और W_1 के परमाणु इन स्थितियों पर भी उतर सकते हैं, किन्तु इनके ऊर्जा मान का अन्तर W_1 की अपेक्षा उतना नहीं है जो W_1 और W_2 के बीच पाया जाता है। अतः इन पर संक्रमण से ν_{1-2} की रश्मि नहीं निकल सकती। अन्य आवर्तनांक की रश्मियाँ, यदि संक्रमण संभव हो तो, निकल सकती हैं।

इसी भांति ν_{1-2} वाली रश्मि की प्रखरता W_1 और W_2 स्थितियों के बीच संभावित संक्रमण (Probability of transition) पर निर्भर होती है जो स्थितियों के प्रकृति (Nature) पर आश्रित है। क्वाण्टम यांत्रिकी (Quantum Mechanics) के अनुसार बहुत-सी स्थितियों के बीच संक्रमण अवैध पाया जाता है। स्थितियों का निरूपण क्वाण्टम संख्याओं से किया जाता है। अतः संक्रमण के नियमों की प्रतिष्ठा स्थितियों की क्वाण्टम संख्याओं द्वारा की जाती है। किसी स्थिति का निरूपण n, L, S और J से किया जाता है। इन क्वाण्टम संख्याओं से प्रतिष्ठित संक्रमण के नियम निम्नलिखित हैं :—

पहले ही बताया गया है कि दोनों स्थितियों के n में अन्तर कोई पूर्ण संख्या हो सकती है, अर्थात्

$$\Delta n = 1,2,3 \ldots\ldots \infty$$

इसके अनुसार सभी स्थितियों के बीच संक्रमण सम्भव है किन्तु उनके L के मान में ± 1 अथवा 0 होना चाहिए अर्थात् $\Delta L = 0, \pm 1$ होता है।

और $\Delta S = 0$

$\Delta J = \pm 1$ (किसी भी J के मान के लिए)

और $\Delta J = 0$ (जब कि J 0 हो।)

इन नियमों के अनुकूल होने वाले संक्रमण को अनुमत संक्रमण (allowed transition) और प्रतिकूल होने पर संक्रमण को अवैध (forbidden) संक्रमण कहते हैं। ऐसे अवैध संक्रमण भी कभी-कभी विशेष परिस्थितियों में संभव हो जाते हैं।

परमाणु साधारणतया किसी उत्तेजित अवस्था में लगभग 10^{-8} सेकेंड तक टिक सकता है, तदनन्तर उतर कर न्यूनतम स्थिति में आ जाता है। किन्तु कुछ ऐसी स्थितियाँ भी होती हैं जिनका संक्रमण न्यूनतम स्थिति (ground state) से नहीं हो सकता। इस कारण परमाणु इन स्थायी स्थितियों में बहुत देर तक रुका रहता है। परमाणु की ऐसी स्थायी स्थितियों को दीर्घकालीन स्थिति (metastable state) कहते हैं। इन स्थितियों में परमाणु के टिकने की अवधि अन्य स्थितियों की अपेक्षा कई गुना अधिक होती है। ऐसी स्थिति से परमाणु तभी च्युत होता है जब कि वह अपनी ऊर्जा किसी अन्य परमाणु अथवा अणु को, जो डिसचार्ज नलिका में विद्यमान हों, टकराकर दे देता है। इस रीति से जब उसकी ऊर्जा घट जाती है, तब परमाणु किसी अन्य स्तर पर आ जाता है और फिर इस नवीन स्थिति से संक्रमण के नियमों के अनुकूल उतरकर न्यूनतम स्थिति में आता है।

न्यूनतम स्थिति से उत्तेजित होकर अन्य स्थितियों में जाने के लिए परमाणु कई रीतियों से ऊर्जा ग्रहण कर सकता है। उनमें इलेक्ट्रिक डिसचार्ज और तापीय रीतियाँ

मुख्य हैं। जब परमाणु अथवा अणु समूह तापीय रीति से उत्तेजित किए जाते हैं तो तापक्रम के अनुसार उनका वितरण विभिन्न स्थायी स्थितियों में हो जाता है और समूह में एक संतुलित अवस्था आ जाती है। किसी उत्तेजित स्थिति W_2 में उनकी संख्या N_2 न्यूनतम स्थिति W_1 की संख्या N_1 की अपेक्षा निम्नलिखित अनुपात में पायी जाती है :—

$$\frac{N_2}{N_1} = \frac{g_2}{g_1}\ e^{(W_2-W_1)/KT}$$

जिसमें g_1 और g_2 स्थायी स्थितियाँ, W_1 और W_2 की क्रम से अपचयन (degeneracy) से उन गुप्त उप-स्थितियों की संख्या का बोध होता है जितनी संख्या में कोई स्थायी स्थिति प्रबल चुम्बकीय क्षेत्र में विभाजित होती है। K बोल्ट्ज्मन गुणक है और T समूह का परमतापक्रम है। बोल्ट्ज्मन गुणक $K = 1.371 \times 10^{-16}$ वर्ग प्रति डिग्री प्रति अणु होता है। बोल्ट्ज्मन व्यंजक $e^{(W_2-W_1)}/KT$ केवल ऊपरी स्थिति W_2 के लिए न्यूनतम स्थिति W_1 की अपेक्षा मान्य है। अन्य स्थितियों के लिए W_2 का मान बदल कर W_3, $W_4\ldots$ आदि रक्खा जाता है।

इलेक्ट्रिक डिसचार्ज में परमाणु गतिज इलेक्ट्रानों के धक्के से उत्तेजित होते हैं। इनका वेग एक समान नहीं होता। उनकी ऊर्जा में बहुत अन्तर पाया जाता है। इस कारण विभिन्न स्थितियों में परमाणु संख्या ज्ञात करने के लिए बोल्ट्ज्मन वितरण व्यंजक नहीं लागू होता। दूसरी बात यह भी है कि इलेक्ट्रिक डिसचार्ज में तापक्रम बहुत अधिक होता है और बोल्ट्ज्मन व्यंजक का मान प्रायः सभी स्थितियों के लिए 1 हो जाता है और तब $N_2/N_1 = g_2/g_1$ हो जाता है। इससे हमें विदित होता है कि निचली स्थितियों के लिए तापीय रीति और उच्च स्थितियों के लिए इलेक्ट्रिक डिसचार्ज अधिक उपयोगी होता है।

स्थितियों की विपुलता के कारण उनमें कई उप-स्थितियाँ पायी जाती हैं। ऐसी दो स्थितियों के बीच संक्रमण होने से एक रेखा के स्थान पर कई उपरेखाएँ मिलती हैं। इन उपरेखाओं की आपेक्षिक प्रखरता के नियम क्वाण्टम-यांत्रिकी-सिद्धान्त द्वारा स्थितियों की क्वाण्टम संख्याओं के आधार पर निम्नलिखित रूप से प्रतिष्ठित किए गए हैं :—

(1) किसी बहुमानी रेखा (multiplet) की उपरेखाओं की प्रखरता का योग जो एक ही स्थायी स्थिति से उत्सर्जित होती हैं उस स्थिति के अपचयन (g_i) का अनुपाती होता है जिसमें

$$g_i = 2J_1+1 \qquad \text{होता है।}$$

(2) किसी बहुमानी रेखा की उन रेखाओं की प्रखरता का योग जो एक ही स्थिति पर उतरती हैं उस स्थिति के अपचयन (g_k) का अनुपाती होता है जिसमें

$$g_k = 2J_k+1 \qquad \text{होता है।}$$

धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र—विधीय व्याख्या

डा० हरिहर नाथ त्रिपाठी
राजनीति विभाग

धर्मसूत्रोत्तर काल में वैदिक वचनों के आधार पर तत्कालीन सामाजिक समस्याओं का उचित एवं व्यावहारिक समाधान न मिलने पर स्मृतियों ने यह रिक्तता पूर्ण की। इस प्रकार जीवन के समग्र सामाजिक व्यवहार में स्मृतियाँ वेद की स्थानापन्न बनीं जिनमें वैदिक आधार के साथ उस काल की परम्पराओं, व्यवहार आचार एवं सदाचार का समावेश हुआ। फलतः धर्मशास्त्रों में व्यवहार (practice) और आदर्श का समन्वय हुआ। यह कहना तो कठिन है कि राज्य धर्मशास्त्रों को संविधान की तरह मानने के लिए बाध्य था लेकिन इतना तो स्पष्ट है कि वे न्यायिक प्रशासन के आधार थे। व्यवहार में उनका किस मात्रा में उपयोग हो रहा था यह भूगर्भशास्त्रीय प्रमाणों पर नहीं सिद्ध किया जा सकता लेकिन निबन्धों, टीकाओं एवं सामान्य ऐतिहासिक सामग्रियों से सिद्ध होता है कि वे जीवन के व्यवहार से अन्यतम रूप से सम्बद्ध हो गए थे। लेकिन हेनरी मेन का यह सिद्धान्त कि धर्मशास्त्र अपने युग के सामाजिक एवं राजनीतिक स्थिति के व्यवहार के स्थान पर आदर्श का चित्रण मात्र करते हैं[1], आज नहीं माना जा सकता।

धर्मशास्त्रों में मनु, याज्ञवल्क्य, बृहस्पति एवं नारद स्मृतियाँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इनपर देश, काल एवं परिस्थितियों का भरपूर प्रभाव पड़ा है। मनुस्मृति में सीमित क्षेत्र की राजनीति (small scale pality) ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था एवं सामन्तवादी युग के प्रारम्भ का रूप पाया जाता है जिसमें विभिन्न समुदायों, संगठनों एवं सम्प्रदायों के मूलाधिकार निजी विधि पर स्वीकृत हैं। इनकी आन्तरिक स्थिति में हस्तक्षेप करने वाली संस्था के स्थान पर राज्य निर्णायक के रूप में रहा है। धर्मशास्त्र लिखित या अलिखित धार्मिक विधि (sacred law) की प्रभुता स्थापित करते हैं। मनु स्मृति में व्यवहार (civil) एवं व्यापारिक विधि (commercial law) को अपराधविधि (penal law) से अलग नहीं किया गया। बृहस्पति नारद एवं कात्यायन में इस प्रकार का प्रयास किया गया है। विभिन्न स्मृतियाँ के मूलभूत आधार एक हैं किन्तु देश, काल एवं परिस्थिति की सापेक्षता से सामान्य मतभेद भी मिल जाता है। मनु ने सदाचार एवं "आत्मप्रिय' को विधि का स्रोत मानकर न्यायपालिका में विवेक एवं व्यक्ति के व्यक्तित्व का महत्व स्वीकार किया। इस स्थिति का विकास याज्ञवल्क्य में तर्क, न्याय और हेतु स्वीकार करने से और अधिक हो जाता है। इसी आधार पर कहा जाता है कि याज्ञवल्क्य मनु की अपेक्षा कौटिल्य से अधिक प्रभावित हैं। जहाँ तक व्यवहार एवं अपराध विधि (civil and criminal law) के पृथक्करण, स्थानीय आचार, परम्परा और प्रथा के महत्व

---

[1] एंशेण्ट लॉ, पृ० १४।
अर्ली लॉ एण्ड कस्टम, पृ० २७।

आदि का प्रश्न है, आंशिक रूप में यह सत्य माना जा सकता है किन्तु मूलतः दोनों विचारक एक हैं। ब्राह्मणों के सामाजिक स्थान, राजा की विधि परवशता, 'राजशासन' पर नियन्त्रण, अर्थशास्त्र पर धर्मशास्त्र की प्रभुता आदि में याज्ञवल्क्य मनु से भिन्न नहीं है।

धर्मसूत्रोत्तर अर्थशास्त्रों एवं धर्मशास्त्र काल में लौकिक विषयों के संचालन का सर्वांगीण संगठन होने लगता है। ग्राम से लेकर केन्द्र तक न्यायालयों की स्थापना व्यवस्थित होती है। विवाद के विषयों की सूची प्रस्तुत की गई। न्यायिक प्रक्रिया की व्यवस्था हुई। अर्थशास्त्र के अतिरिक्त धर्मशास्त्र सम्प्रदाय में मनु ने राजधर्म एवं याज्ञवल्क्य ने व्यवहार के स्वतंत्र अध्याय लिखे। धार्मिक विधि, राज्यविधि, सदाचार, परम्परा आदि का नए ढंग से समन्वय हुआ। व्यक्ति राष्ट्रीय न्यायालय और अपने वर्गीय न्यायालय दोनों से सम्वद्ध था। अतएव न्यायपालिका का भारत में इस समय व्यापक रूप में संगठन हुआ। वर्गीय न्यायालयों में उनकी प्रक्रिया, निर्णय के आधार, कार्यान्वियन आदि की व्यवस्था इस प्रकार हुई कि वे राष्ट्र की विधि के साथ सम्वन्ध स्वीकार कर उससे विरुद्ध नहीं जा सके। लेकिन कुछ सम्प्रदायों, स्त्रियों, दास, अन्त्यज, नास्तिक, राजकर्मचारी आदि के अधिकारों पर प्रतिबन्ध बना रहा। अपराध एवं दंड संहिता की विस्तृत, व्यापक और न्यायालय से सम्बद्ध सूची सामने आती है। इसका व्यापक रूप अर्थशास्त्र में मिलता है। इस काल की इन समग्र विशेषताओं में यह भाव सर्वथा सुरक्षित था कि राजा अपने को विधि निर्माता न समझ कर वह उसका संरक्षक ही बना रहे।

अर्थशास्त्र में उद्धृत उशना के मत से स्पष्ट हो जाता है कि धर्मसूत्रों के साथ ही धार्मिक-विधि (sacred law) पर व्यवहार विधि (secular law) की उच्चता या व्यावहारिकता का प्रयास किया जा रहा था[२]। अर्थशास्त्र की परिभाषा जिस रूप में की गयी है उसमें राजनीतिक एवं आर्थिक सिद्धान्त, जनप्रशासन, विदेशनीति, युद्धविद्या, व्यवहारविधि (civil law) और सामाजिक संगठन का समावेश किया जाता है। अर्थशास्त्र व्यावहारिक शास्त्र होने से वैदिक वचनों का विस्तारमात्र नहीं है, इसमें व्यक्ति समाज एवं परिस्थितियों का प्रयोग विवेक के आधार पर किया गया। अर्थशास्त्र में कहीं भी किसी धर्मशास्त्र के उद्धरण न होने से स्पष्ट हैं कि कौटिल्य ने परम्परा का 'अन्धप्रवाह' स्वीकार नहीं किया और उनका उद्देश्य सकारात्मक विधि (positivelow) विकसित करना था। वे राजनीतिशात्र के सैद्धान्तिक पक्ष के स्थान पर उसके व्यावहारिक पक्ष पर बल देते हैं। अतएव 'अर्थ' को जीवन का आधार माना और दंडनीति की परिभाषा पर भौतिक शक्तियों का प्रभाव स्वीकार किया। इस प्रकार अर्थशास्त्र का संक्षिप्त रूप हुआ "जन उपलब्धियों के लिए सरकार का विज्ञान[१]।" लेकिन जन उपलब्धियों में वैदिक समाज के ढाँचे का आधार अस्वीकार नहीं किया गया। इसी ढाँचे की रक्षा राजतन्त्र और राज्य से होने से राजशासन का महत्व विधि के स्रोत में महत्वपूर्ण हो जाता है किन्तु राजा का विवेक सम्बन्धी अधिकार (discretionary power) सदाचार, सामाजिक विधि आदि के द्वारा सीमित हैं।

---

[२] दंड नीतिरे वैका विद्या इत्यौशनसा। अर्थशास्त्र १।२।६।

बी० सी० ला ने ४१ घुमक्कड़ विद्वानों (wadering teachers) के

अर्थशास्त्र में व्यवहारविधि (secuar laws) की सम्प्रभुता का प्रतिपादन किया गया है। धर्म, और उस पर आधारित पारम्परिक नैतिकता राज्यशक्ति के साधन बने। उनका प्रयोग राज्य वैदिक सामाजिक संगठन, जिसमें अर्थ काम का समन्वय एवं व्यक्ति के व्यक्तित्व विकास के साथ सामाजिक संस्थाओं का उचित मूयांकन था, की सुरक्षा में करने लगा। धर्म का मूल अर्थ (धर्मस्थमूलमर्थः) होने से समाज के भौतिक मूल्यों का प्रावान्य अनिवार्य था। इस युग की आर्थिक व्यवस्था में सामन्तवादी भूमि व्यवस्था और पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का बीजारोपण हो रहा था। इसका प्रभाव धर्म एवं उसके संस्कारों पर पड़ा और वे उपयोगितावादी आधार पर आने लगे। बौद्धक्रान्ति के बावजूद वर्णव्यवस्था की पुनः स्थापना का कारण यह भी था कि उसमें इस आवश्यकता का उचित समन्वय था। इस युग में वर्ण व्यवस्था का रूप विस्तृत हुआ और सामाजिक सम्वन्धों में अवैदिक जातियों (विदेशी यवन एवं स्वदेशी आटविक प्रजातियों) को नागरिक अधिकार दिए गए। इनका प्रभाव न्यायिक प्रशासन, आर्थिक नियोजन, राज्य के सप्तांग गठन और उसके कल्याणकारी रूप पर पड़ा। अर्थशास्त्र में विभिन्न विभागों की नियुक्तियों में वैदिकों की प्राथमिकता तो स्वीकार की गई किन्तु उसे मनुस्मृति के समान पुरोहितों एवं ब्राह्मण तक ही सीमित नहीं किया गया[2]। विभिन्न विभागों के संगठन में कौटल्य ने जो योग्यताएँ दी हैं उनमें व्यक्ति की समता का महत्व स्वीकार कर पारस्परिक समाज संगठन में सुधार प्रस्तुत किया गया है। उसमें सामान्यतया वर्ण एवं जाति के आधार पर सुविधाएँ अस्वीकार कर दी गयी हैं। दण्ड का आधार स्तर (status) के स्थान पर कार्य (action) मानकर क्रूर दण्ड व्यवस्था के स्थान पर 'यथोचित' व्यवस्था स्वीकार कर इसका प्रभाव न्यायिक प्रशासन में भी व्यक्त किया गया। न्याय में दासों को भी आर्य के समान सुविधाएँ मिलीं और माना गया कि आर्य कभी दास हो ही नहीं सकते। विभिन्न आवश्यकताओं के साथ इस नयी सामाजिक व्यवस्था के संरक्षण के लिए भी राजा की सुरक्षा आवश्यक थी और अर्थशास्त्र ने उसे प्राथमिकता दी।

विचारों को अर्थशास्त्र का आधार माना है। बी० सी० ला : ए शार्ट एकाउण्ड ऑफ दि वाण्डरिंग टीचर्स एट दि टाइम्स ऑफ बुद्ध। जर्नल एण्ड प्रोसीडिंग्स ऑफ दि ए० सो० वं० १४ नं० ७। एफ० डब्लू० टामस (thomas) ने वृहस्पति सूत्र और जी० आपर्ट ने शुक्रनीति सार में ऐसे सम्प्रदायों के विचार विस्तार से प्रस्तुत किया है। कौटिल्य ने स्वयं ४ सम्प्रदायों और १९ विचारकों का उल्लेख किया है। स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र में युग की विशेषता के प्रभाव में भिक्षुधर्म, अनवसर संन्यास मार्ग आदि की प्रतिक्रिया हुई। इसी मे **"राजनीतिक शक्ति विस्तार एवं भौतिक उपलब्धियों के प्रयोग का दर्शन"** विधि का आदर्श बना।

[1] अजितकुमार सेन : स्टडीज इन हिन्दू पोलिटिक थाट, पृ० २६।

[2] जे० डकन एम० डेरेह : दि राइट टू अर्न इन एशेंट इण्डिया, जर्नल ऑफ दि इकनामिक एण्ड सोशल हिस्ट्री ऑफ दि ओरिएंट, १९५७।

[3] अर्थशास्त्र १।९ पृ० १५।

अर्थशास्त्र तक राज्य के विभिन्न घटकों का पूर्ण विकास हो जाता है किन्तु विशेष बल राजा पर दिया गया है। राज्य की उत्पत्ति का विवरण इस रूप में प्रस्तुत किया गया है कि राजा के अभाव में मात्स्यन्याय होगा। फलतः इससे राजा अनिवार्य बनाया गया है। अतएव भण्डारकार का यह निष्कर्ष उपयुक्त है कि अर्थशास्त्र में सामाजिक अनुबन्ध नहीं सरकार का अनुबन्ध है जिसमें राजा एवं उसकी प्रजा का विवेचन है। इतना अवश्य है कि कौटल्य ने 'राजा' के स्थान पर स्वामी शब्द का प्रयोग सप्तांग में कर गणराज्य एवं राजतन्त्र दोनों के लिए यह सिद्धान्त व्यावहारिक बनाया और अन्य सम्प्रदायों का खण्डन कर स्वामी का महत्व बढ़ाया[2]। किन्तु अर्थशास्त्र में राजा प्रजा का सेवक माना गया और उसकी शक्ति का स्रोत जनता रही[3]। अतएव राजा 'धर्मप्रवर्त्तक' होते हुए भी जनता की नैतिकता में न तो हस्तक्षेप करता है न उसका निर्देशन। धर्मसूत्रों के बाद अर्थशास्त्र में सम्प्रभुता का नया रूप आया जिसमें सभी भाग ले रहे थे और साथ ही राज्य जनकल्याण एवं न्यायिक प्रशासन के रूप में अनेक ऐसे कार्य अपने हाथ में ले रहा था जो कभी सामाजिक और आर्थिक संस्थाओं एवं जनजातियों की सभाओं से सम्पन्न हो रहे थे। धर्मशास्त्रों की अपेक्षा अर्थशास्त्र में वर्णव्यवस्था का महत्व भी प्रशासनिक इकाइयों में कम हुआ था, लेकिन अर्थशास्त्र ने भारतीय समाज के बहुलवादी ढाँचे में कहीं भी परिवर्त्तन नहीं किया। व्यक्ति राज्य विधि नहीं अपने समाज के नियम, व्यवस्था, आचार एवं सदाचारों के ही निर्देशन में कार्य करता था।

धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र में परस्पर सम्बन्ध क्या था इस पर मूलतः तीन दृष्टिकोण हैं :—(१) अर्थशास्त्र धर्मशास्त्र का अंग है (२) अर्थशास्त्र धर्मशास्त्र से स्वतन्त्र वैदिक आधार और समाज के व्यवहार से विकसित हुआ, और (३) अर्थशास्त्र धर्मशास्त्र की प्रतिक्रिया है। प्रथम पक्ष का समर्थन विण्टरनित्ज और पी० वी० काणे महोदय करते हैं किन्तु इस पक्ष के पुष्टीकरण में तथ्य के स्थान पर तर्क अधिक हैं। द्वितीय पक्ष का समर्थन नरेन्द्रनाथला तथा रंगस्वामी आयंगर करते हैं। इनके मतों की समीक्षा में काणे ने अर्थशास्त्र को 'दृष्टार्थ स्मृति' मानते हुए दोंनों के रचना काल की तुलना के आधार पर अपने प्रथमपक्षीय मत की स्थापना की है[4]। तृतीय पक्ष की सम्पुष्टि सर्वप्रथम प्रोफेसर ए० बी० कीथ ने की। जायसवाल ने उसकी रूपरेखा नये ढंग से प्रस्तुत की। बी० ए० सेलेतोर ने उक्त तीनों पक्षों के निष्कर्ष में माना कि प्रथम पक्ष ही उपयुक्त है किन्तु उन्होंने दण्डनीति और अर्थशास्त्र दोनों को एक बनाकर अर्थशास्त्र की अपेक्षा दण्डनीति शब्द की ऐतिहासिक मीमांसा पर आलोचना स्थिर की। वस्तुतः दण्ड, दण्डनीति आदि के स्थान

---

[1] अर्थशास्त्र १।१३ पृ० २४।

[2] रंगस्वामी अय्यंगर: सम आस्पेक्ट्स ऑफ एंशेण्ट इण्डियन पालिटि, पृ० २०।

[3] अर्थशास्त्र १।१९ पृ० ४१।

[4] पी० वी० काणे : दि हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, जि० ३, पृ० ७, ८४०।

[5] बी० ए० सेलतोर : एंशेंट इण्डयन पॉलिटिकल थाट एण्ड इस्टीटयूशन्स, पृ० २१-२३।

पर अर्थशास्त्र की रूपरेखा, उसमें उद्धृत सम्प्रदायों विचारकों एवं विचारों की उचित मीमांसा करने पर द्वितीयपक्ष तथ्यपूर्ण ज्ञात होता है।

अनुशासन पर्व में बृहस्पति और उशना के शास्त्र की चर्चा है[1]। शान्ति पर्व में बृहस्पति भारद्वाज, गौरशिरस, काव्य, महेन्द्र, मनु प्राचेतस और विशालक्ष के राजशास्त्र का उल्लेख है[2]। शान्ति पर्व में अन्यत्र शबर के मत का उल्लेख किया गया है[3]। अगले अध्याय में राजशास्त्र पर भाष्य की भी सूचना मिलती है[4]। कौटल्य ने अपने ग्रंथ की प्रतिज्ञा में स्वीकार किया है कि उन्होंने अपने पूर्ववर्ती अर्थशास्त्रियों के विचारों के अध्ययन के बाद अपने अर्थशास्त्र का प्रणयन किया है। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती ५ संप्रदायों—मानव, बार्हस्पत्य, औशनस, पाराशर और आम्भीय की सूचना दी है। कुछ अर्थशास्त्रियों—बाहुदन्तिपुत्र, दीर्घपारायण, घोटमुख, कणिक, भरद्वाज, कात्यायन, किंजल्क, पिशुनपुत्र, भरद्वाज, कौणपदन्त, पाराशर, पिशुन वातव्याधि और विशालाक्ष का उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त भी राजशास्त्र की सूची उपलब्ध होती है[5]। अर्थशास्त्र में लोकायतिकों, सांख्य और योग का समावेश है किन्तु किसी धर्मशास्त्र का उल्लेख भी नहीं किया गया है। बृहस्पति, मनु आदि धर्मशास्त्रवालों का उल्लेख नहीं है क्योंकि अर्थशास्त्र के बार्हस्पत्य और मानव सम्प्रदाय में ४ विद्याएँ नहीं मानी गयी हैं जब कि मनुस्मृति, शुक्रनीति आदि में ४ विद्याएँ स्वीकार की गयी हैं। धर्मशास्त्र में स्वतंत्र राजधर्म मिलता है लेकिन अर्थशास्त्र में धर्म के सम्वन्ध में विचार करने के लिए इस प्रकार का स्वतंत्र कोई अध्याय नहीं है।

राजशास्त्र की उत्पत्ति धर्मशास्त्र से न मानकर सीधे उसका संबंध ब्रह्मा से जोड़ा गया। शान्ति पर्व के अनुसार मात्स्य-न्याय दूर करने के लिए ब्रह्मा ने १०००,००० अध्यायों का नीतिशास्त्र बनाया जिसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष था। उसे शंकर विशालाक्ष ने संक्षिप्त कर १०,००० अध्यायों में संकलित किया। इसका अध्ययन इन्द्र ने किया और ५००० अध्यायों में संग्रहीत किया[7]। संक्षिप्त करने के क्रम में थोड़ी भिन्नता के साथ यही आख्यान कामसूत्रमें भी आया है। नीतिप्रकाशिका के अनुसार ब्रह्मा, महेश्वर, स्कन्द, इन्द्र, प्राचेतस मनु, बृहस्पति शुक्र, भारद्वाज, वेदव्यास और गौरशिरस राजशास्त्र के संस्थापक थे[8]। महाभारत में बृहस्पति और भारद्वाज को 'राजशास्त्र प्रणेता' कहा गया है[9]। अश्वघोष ने भी इन्हें राजशास्त्र प्रणेता माना है[10]। स्पष्ट है

---

[1] अनुशासन ३९।८, मनु० ७।१।

[2] शान्ति ५८।१-३।

[3] वही, १०२।३१-३२।

[4] वही, १०३।४४।

[5] पी० वी० राणे : वाम्बे युनिवर्सिटी जर्नल, नि० ११ पृ० ७३-८३।
एन० एन० ला : माडर्न टिव्यू, १९१८; १९१९।
स्टडीज़ इन एंशेंट इण्डियन कल्चर, एपेण्डिक्स।

[6] अर्थशास्त्र १।२।२-६।

[7] शान्ति ३०।७९-८३।

[8] नीतिप्रकाशिका, १।२१–२२।

[9] बुद्ध चरित १।४६।

[10] यत्र विप्रतिपत्ति स्याद्धर्मशास्त्रार्घशास्त्रयोः।
अर्थशास्त्रोक्तमुत्सृज्य धर्मशास्त्रोक्तमाचरेत ॥ वरदाचार्य द्वारा उद्धृत पृ० ५३।

अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्र दोनों की सत्ता स्वतन्त्र है। अर्थशास्त्र धर्मशास्त्र का अंग है या उससे विकसित हुआ है, यह पक्ष मान्य नहीं हो सकता। भारतीय राजनीति शास्त्र की परम्परा धर्मशास्त्र से कम प्राचीन नहीं है।

आगे चलकर अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्र में विरोध का भी रूप सामने आया। उस समय इस सम्वन्ध में साम्प्रदायिक निर्णय किए गए। याज्ञवल्क्य जैसे धर्मशास्त्र प्रणेताओं ने माना कि 'अर्थशास्त्रद्धर्मशास्त्रं वलवद्' होता है। इसे मान लिया गया कि जहाँ अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्र में विप्रतिपत्ति हो वहाँ धर्मशास्त्र के अनुसार ही कार्य करना चाहिए।[२] लेकिन साथ ही दोनों में समन्वय स्थापित करने का भी प्रयास चलता रहा है। स्मृतिचन्द्रिका ने कहा कि जहाँ विरोध न हो वहाँ दोनों शास्त्रों का अनुसरण करना चाहिए एतच्चोभयविधशास्त्रानुसरण तयोर्मिथों विरोधाभाव: एव। धर्मशास्त्र वली क्यों होता है इसका समाधान वीर मित्रोदय जिस रूप में करता है उससे वस्तुस्थिति पर प्रकाश पड़ता है। उसके अनुसार अर्थशास्त्र का सम्वन्ध दृष्ट और धर्मशास्त्र का अदृष्ट और दृष्ट दोनों से है अतएव धर्मशास्त्र का क्षेत्र व्यापक और महत्वपूर्ण है।

जायसवाल का कहना है कि कौटल्य व्यवहारशास्त्र को धर्मशास्त्र से अधिक महत्व देते हैं। कुछ लोगों का मत है कि धर्मशास्त्रकारों एवं उनके टीकाकारों ने धर्मशास्त्र को वलवान् माना किन्तु इस मान्यता को अर्थशास्त्रकारों ने अस्वीकार कर दिया। जायसवाल तथा ऐसे विद्वान धर्मश्च व्यवहारश्च चरित्रं राजशासनम्। विवादार्थे समुत्पन्ने पश्चिमः पूर्व वाधक:' के आधार पर मानते हैं कि अर्थशास्त्र धर्मशास्त्र से वलवान् है। इस वचन की कुछ वातें ध्यान देने की हैं, (१) इस प्रकार के भाव धर्मशास्त्रों ने भी व्यक्त किए हैं, (२) कौटल्य यह व्यवस्था विवाद के निर्णय में मानते है, (३) कौटल्य इन शब्दों की परिभाषा स्वयं देते हैं और उसमें इस प्रकार के वाध्यवाधक का प्रश्न ही नहीं आता। वस्तुत: कौटल्य धर्मशास्त्र का महत्व स्वयं स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार चरित्र और लोकाचार में जिस अंश का विरोध हो उसमें धर्मशास्त्र के अनुसार निर्णय करना चाहिए।[१]

इस प्रकार के विमर्श से हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र परस्पर एक विशाल परम्परा के दो अंग हैं। परम्परा की अवच्छिन्न धारा में कुछ असंगतियाँ भी आयीं जिनके परस्पर समन्वय का वैदिक आधार रहा और उस आधार पर समन्वय किया गया। दोनों के कार्यक्षेत्र में विभेद होने से ऐसी स्थिति कम आयी। जहाँ आयी वहाँ कार्यक्षेत्र के आधार पर समन्वय किया गया।

---

[१] संस्थया धर्मशास्त्रेण शास्त्रं वा व्यावहारिकम्
यस्मिन्नर्थे विरुध्येत धर्मणार्थं विनिर्णयेत्। अर्थशास्त्र ३।१।५६।

गन्ने के हानिकारक कीट

डॉ० एस० पी० मुखर्जी, जनार्दन सिंह, एस० एन० पाण्डेय
कृषि महाविद्यालय

भारतवर्ष में गन्ने की खेती अधिक क्षेत्र में होती है। इस फसल को हानि पहुँचाने वाले अनेक हानिकारक-कीट हैं। इन हानिकारक-कीटों के आक्रमण से इस फसल की पैदावार, रस के गुण, और मात्रा को अत्यधिक हानि पहुँचती है।

इस फसल के महत्वपूर्ण हानिकारक कीटों में जड़कटा, सलाई या गाबसुख (top shoot borers) ओवरा का ढोला (stem borer) और अन्य कीट हैं जो इस फसल को अत्यधिक क्षति पहुँचाते हैं। इन हानिकारक कीटों में जड़कटा अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह हानिकारक कीट प्रायः इस फसल को नष्ट कर देता है, और किसी विशेष वर्ष में पूर्णतया नष्ट कर देता है। यह केवल कोमल पौधों को नष्ट करता है इस प्रकार कोमल पौधों को लगभग १२ प्रतिशत हानि पहुँचती है। पुराने पौधे सूख जाते हैं और सूखकर गिर जाते हैं।

औवरा या ढोला (stem borers) गन्ने की फसल का एक महत्वपूर्ण हानिकारक कीट है। इस हानिकारक कीट से प्रति वर्ष अप्रैल और जून के माह में तरुण गन्ने के तने लगभग २० प्रतिशत नष्ट होते हैं। कभी-कभी यह हानि तीव्र आक्रमण के समय ६७ प्रतिशत तक सम्भव होती है।

सलाई या गाब-सुख (stem borers) गन्ने के फसल का अत्यन्त परचित हानिकारक कीट हैं। इस कीट के द्वारा इस फसल को प्रत्येक वर्ष लगभग ८० प्रतिशत की हानि होती है।

ये तीनों हानिकारक कीट, एक के बाद एक करके इस फसल पर आक्रमण कर सकते हैं। जिसके फलस्वरूप अन्त में पौधे पूर्ण रूप से सूख जाते हैं।

बाह्यरूप से जो लक्षण जड़-कटा के आक्रमण के पश्चात् दृष्टिगोचर होता है वह मध्यम कोमल पत्ती का सूखना है। कभी-कभी इस मध्यम पत्ती के आस-पास वाली पत्तियाँ भी सूखी दृष्टिगोचर होती है। मध्य की सूखी हुई पत्ती जो इस हानिकारक-कीट के आक्रमण के फलस्वरूप होती है वह बाहर खींच कर सूँघने पर वैसी दुर्गन्ध नहीं पैदा करती जैसी दुर्गन्ध पिहका (stem borers) या औवरा या ढोला के द्वारा मध्यकालिका करती है। वह छिद्र जिसके द्वारा यह कीट अपना जीवन-चक्र तने के अन्दर रह कर पूरा करने के पश्चात् पूर्ण तरुण होकर निकलता है, भूमि के ऊपरी सतह के ऊपर होता है।

पिहका या औवरा या ढोला के आक्रमण के पश्चात् मध्यकालिका सूख जाती है और बाहर खींच कर सूँघने पर सड़ी वस्तु जैसी दुर्गन्ध पैदा करती है।

भारतवर्ष के उन भागों में जहाँ गन्ने की फसल अधिक पैदा की जाती है, सलाई या गावसुख नामक हानिकारक-कीट अत्यन्त अधिक संख्या में पाए जाते हैं। वे लक्षण जिनके द्वारा इस हानिकारक कीट की उपस्थिति खेतों में जानी जा सकती है निम्नलिखित हैं :—

१—एकमात्र मध्यकालिका लम्ववतगोल हो जाती है।

२—एक या एक से अधिक पत्ती के मध्यभाग पर ललाई या सफेदी लिए वारियाँ होती हैं।

३—सिरों पर झम्पेदार पत्तियाँ।

४—और बगल के तनों की उत्पत्ति।

बगल के तनों की उत्पत्ति का मूल कारण इस हानिकारक-कीट का सिरों पर एकत्रित होना है इनके एकत्रित होने से मूल तने की वृद्धि ऊपरी अन्तिम छोर पर रुक जाती है पर पौधे उस समय प्रबल वृद्धि के अवस्था में रहते हैं। अतः मूलतने की वृद्धि सम्भव न होने पर बगल के तनों की उत्पत्ति हो जाती है। इसके फलस्वरूप हम लोगों को झम्पेदार पत्तियों युक्त तने या पौधे देखने को मिलते हैं।

इन हानिकारक कीटों के अतिरिक्त और अन्य बहुत से कीट गन्ने की फसल को हानि पहुँचाते हैं। जैसे घोड़ा (pyrilla perpusilla, walk) लही (sugarcane white fly) और काली-चूसिया (black bug) इत्यादि। ये पत्तियों के रस को चूस लेते हैं। घोड़ों के द्वारा पैदा किए हुए मधु-स्राव (honey-dew) की अधिकता से पत्तियाँ चिप-चिपी हो जाती हैं, और कवक रोग लग जाता है। जिसके कारण पत्तियाँ काली पड़ जाती हैं और काली चूसिका की पत्तियाँ जानवरों के उपयोग की भी नहीं रह जाती हैं। इस प्रकार की पत्तियों पर अधिक संख्या में एक स्थान पर एकत्रित हो जाने के कारण चलनी की भाँति अनेक छिद्र वन जाता है और उन स्थानों पर पत्तियाँ कट जाती हैं। प्रत्येक आक्रमण के फलस्वरूप पौधों की वृद्धि रुक जाती है और मात्रा, स्वाद या गुण दोनों प्रकार से गुड़ को हानि पहुँचती है।

गन्ने की जड़ों में दीमक का लगना एक अत्यन्त साधारण वस्तु सी हो गई है परन्तु इनके आक्रमण से फसल को अधिक हानि पहुँचती है।

नल्ल गन्ने की फसलों को एक और प्रकार से हानि पहुँचती है। इस हानि पहुँचनं का कारण हानिकारक कीट न होकर एक साधारण हानिकारक-वस्तु है जिसे गन्ने का माइट कहते हैं। ये करोड़ों की संख्या में गन्ने की पत्तियों पर आक्रमण करते हैं और उसका रस चूस लेते हैं।

जड़कटा (sugarcane root borer) (गन्ने के जड़ की सूंड़ी)

प्रौढ़ माथ का रंग एक सा हलके पीले रंग का होता है। इसके पिछले पंख सफेद छोटे, लेकिन अगले पंख की अपेक्षा छोटे होते हैं। मादा माथ प्रजनन के बाद अप्रैल और मई के शुरू में अंडे देती है। अंडे मक्खन की तरह सफेद, चिपटे, अंडाकार गोल होते हैं

और यह एक-एक करके अंकुरित होती गन्ने के पौधे की पत्तियों के नीची सतह पर मादा माथ के द्वारा दी जाती है। यहाँ तक कि ये अंडे पौधे के जड़ के पास मिट्टी पर पाये जाते हैं। लगभग चार दिनों में अंडों से सूड़ी निकल जाती है जो पौधों की जड़ों के कुछ नीचे या मिट्टी की सतह के कुछ नीचे पौधों की जड़ों में छिद्र बना लेते हैं। पूर्ण विकसित सूँड़ी मक्खन की तरह सफेद रंग की होती है और उनके शरीर पर अनुप्रस्त (transverse) या चल्लादार सिकुड़न हलके पीले रंग की पाई जाती है। इन सूड़ियों के सर का रंग भूरापन लिये होता है। सूड़ी पौधे की जड़ के चारों ओर एकत्रित रहती हैं और इनका तीव्र गति से आहार करने का समय ६ से ७ सप्ताह का होता है। इसके पश्चात् यह अपने जीवन-चक्र के दूसरे अवस्था में प्रवेश करती हैं जिसे "प्यूपा" की दशा कहते हैं। इस अवस्था के पश्चात् सूँड़ी लगभग दो सप्ताह में पूर्ण प्रौढ़ माथ हो जाती है। पूर्ण प्रौढ़ होने के पूर्व ये श्वेत सिल्क की भाँति ऊपरी कक्ष बनाती हैं जिसे भूमि के सतह पर आने तक काट कर मुक्त हो जाती हैं। इस प्रकार सूड़ियों का पूर्ण जीवन चक्र ५६ से ६१ दिनों में पूर्ण हो जाता है। यह हानिकारक कीट मई और अक्टूबर के महीने में अत्यन्त उग्र होते हैं। सूड़ियाँ, जो जाड़े के ऋतु में गन्ने के टुकड़े के भीतर सुषुप्ता अवस्था में रहती हैं वे अप्रैल में दो सप्ताह के पश्चात् बढ़कर प्रौढ़ माथ के रूप में हो जाती है। एक वर्ष में इनके दो या तीन जीवन चक्र सम्भव हैं।

गन्ने के तने की सूड़ी (stem borers)

जब तने की सूड़ी प्रौढ़ा अवस्था को प्राप्त होती है तो उसके आगे के पंख के बाहरी किनारे पर सुनहरे रंग के धब्बे की एक पंक्ति दृष्टिगोचर होती है। यह माथ भूरे रंग का होता है। उत्तर प्रदेश के पूर्वी भाग और मध्य भाग में जहाँ गन्ने की फसल अधिकता से उगाई जाती है यह हानिकारक कीट अत्यन्त महत्व का है। इसकी हानिकारक प्रवृत्ति मानसून प्रारम्भ होने के पश्चात् अत्यन्त तीव्र हो जाती है। प्रौढ़ मादा मार्च के महीने में पाये जाते हैं। मादा माथ गन्ने की निचली सतह पर झुण्डों में अंडे देती हैं। अंडे श्वेत और पतले होते हैं। छोटी सूड़ी ४ या ६ दिनों में अंडों से निकल आती हैं। और ये सर्वप्रथम एक दो दिनों तक गन्ने की नर्म पत्तियों को खाती हैं। तत्पश्चात् तने में छिद्र करके अन्दर प्रवेश करती हैं। सूड़िओं का सूडी समय २ या ३ सप्ताहों का होता है। पूर्ण विकसित सूड़ी गन्दे श्वेत रंग की या हल्के पीले रंग की होती है। इनका सर लालपन लिए होता है। पीठ और बगल पर पाँच भूरे लाल रंग के अनुच्छेद (longitudinal) लकीरें होती हैं। इस प्रकार की सूड़ी तने के भीतर प्रविष्ट होकर तने के भीतरी भाग को अत्यन्त तीव्र गति से खाने लगती हैं। यह तने के भीतर ही प्यूपल दशा को प्राप्त होती हैं। और उनका प्यूपल समय एक सप्ताह का होता है। प्यूपल दशा में प्रविष्ट होने के पूर्व ये प्रौढ़ को बाहर निकलने के लिए तना काटकर रास्ता बना देते हैं। मार्च से अक्तूबर के अन्दर ये अपने जीवन-चक्र का ५ या ६ चक्र पूरा कर लेते हैं।

डीट्रोइया वेनोसटा (procerus indicus k)

अप्रैल से सितम्बर माह तक यह कोमल गन्ने के पौधों के लिए एक अत्यन्त महत्वपूर्ण हानिकारक-कीट है। प्रौढ़ माथ भूरे पीले रंग का होता है और अगले

पंख पर चमकीली काले रंग की रेखायें होती हैं। अण्डे एक-दूसरे पर भीड़ मचाये हुये, झुण्डों में, गन्ने की पत्ती के मुख्य आधारिता के दोनों ओर दो रेखाओं में पाये जाते हैं। प्रायः एक झुण्ड में ८ से ६० तक अण्डे होते हैं। छोटी सूड़ी लगभग एक सप्ताह में निकल आती है और मध्य आधारित या आँख वाली कली या किसी भी गन्ने के कोमल भाग में छिद्र द्वारा पथ बनाकर घुस जाती हैं। तरुण सूडीयाँ चमकीले पीले रंग की होती हैं और इनके वक्षस्थल पर काले रंग की रक्षा परत होती है। इन सूड़ियों के प्रत्येक गाँठ पर गहरे लाल रंग की रेखायें प्रक्षेदवत् पायी जाती है। इस प्रकार की सूड़ी एक माह में पूर्ण विकसित हो जाती हैं और इनका रंग हल्का पीलापन लिये हो जाता है। इनके शरीर पर भंजित रेखाओं के प्रकार की रेखायें या धब्बा पाया जाता है। सितम्बर और अप्रैल के बीच में ये सूड़ियाँ शुसुप्ता अवस्था में रहती हैं। प्यूपल अवस्था १० से ११ दिन की होती है। पूर्ण जीवन चक्र के सम्पन्न होने में ५ से ६ सप्ताह लगते हैं।

(chilotraea auricihia) **डिट्रोइया आरीसीलिया डुजेरी** की भाँति का हानिकारक-कीट है। इस हानिकारक-कीट का महत्वपूर्ण आक्रमण वर्षा ऋतु के पश्चात् अक्टूबर और नवम्बर के माह में होता है। पत्तियों के निचली सतह पर अण्डे दिये जाते हैं। सूँड़ी पूर्ण-विकसित ५ या ६ सप्ताह में होती है। सब मिला कर एक वर्ष में इनके पाँच जीवन चक्र होते हैं।

चक्करवाली सूँड़ी या देहरादून की सूँड़ी

जैसा कि स्वयं नाम से सिद्ध है यह हानिकारक-कीट उत्तर प्रदेश के देहरादून और सहारनपूर के जिलों के आस-पास तक ही सीमित रहते हैं। इसका सबसे अधिक और तीव्रतापूर्ण आक्रमण सितम्बर के माह में देखा जाता है। इस कीड़े के जीवन-चक्र की समस्त अवस्थायें जुलाई से अक्तूबर तक के समय में पायी जाती हैं। इस समय में एक जीवनचक्र पूर्ण हो जाता है। जीवन-चक्र का दूसरा भाग सितम्बर माह में प्रारम्भ होता है। सूँड़ी सुशुप्ता अवस्था में रहती है। जब तक दूसरा जून माह न आ जाता है। यह हानिकारक-कीट साधारण वर्ष में पूर्ण फसल को १५ से २० प्रतिशत तक नष्ट कर देते हैं। गम्भीर आक्रमण के समय यह कीट पूर्ण फसल का लगभग ५० प्रतिशत नष्ट कर देते हैं।

माथ हल्के भूरे रंग के होते हैं: पीछे के पंख श्वेत, सात हल्के काले धब्बे, जो पंख के धारिकाओं के मध्य होते हैं, पाये जाते हैं। जुलाई के महीने में माथ उड़ते हुये दिखाई देते हैं।

अण्डे पौधों की गाँठों के पास पत्तियों के आवरण के नीचे पाये जाते हैं। हल्के रंग के श्वेत सूँड़ी, अण्डों से ९-१० दिनों में बाहर निकल आती हैं। और पौधों के आँखों में छिद्र बनाकर पौधों के तने के भीतर चली जाती हैं। यह क्रिया भूमि के ऊपरी सतह से ऊपर सम्पन्न होती है। सूड़ी ७ या ९ सप्ताह में पूर्ण विकसित हो जाती है। सूड़ी मक्खन की भाँति श्वेत रंग की होती है और उनपर चार हल्के नीले रंग की छल्लेदार रेखायें पायी जाती हैं। प्यूपा की अवस्था ६ से १३ दिनों के अन्दर पौधों के तने के भीतर पूर्ण हो

जाती है। आक्रमण किये हुए पौधे अत्यन्त दुर्बल हो जाते हैं जो हल्के वायु के झोंके से टूट कर गिर पड़ते हैं। बगल की पत्तियाँ सड़ जाती हैं और धीरे-धीरे सम्पूर्ण पत्तियों का समूह सूख जाता है।

पिहका या गाव सुखा या कुनगा (topshoot borers)

प्रौढ़ चमकीले श्वेत रंग के होते हैं। नर आकार में छोटे होते हैं और मादा धड़ के अन्तिम भाग पर हल्के पीले रंग या हल्के लाल रंग के बाल धारण किये होती हैं। माथ मार्च से अक्तूबर के महीनों में सक्रिय रहते हैं। अण्डे झुण्ड में पत्तियों के नीचे पाये जाते हैं जो मादा के पूँछ के भूरे रंग के बालों से ढँके रहते हैं। सूँड़ी अण्डों से लगभग ७ दिनों में बाहर आती हैं और एक या दो दिनों तक बाहर सक्रिय रूप से आहार करती है। इसके पश्चात् ये पत्तियों के मुख्यधारिता के द्वारा छेद कर मध्य पत्तियों के माध्यम से गन्ने की सिरा पर आक्रमण करती हैं और मरा हृदय या मरा मध्य भाग पैदा करने में सफल होती हैं। सूँड़ी मक्खन के सदृश्य श्वेत रंग की होती है और ये पूर्ण विकसित ४ या ६ सप्ताहों में होती हैं।

प्यूपा अवस्था पौधों के भीतर पूर्ण होती ह। प्यूपा के अवस्था पूर्ण होने का समय लगभग एक सप्ताह का है। यह कीट अपना जीवन चक्र लगभग ६ से ७ सप्ताहों में पूर्ण करता है। एक वर्ष में लगभग ५ या ६ जीवन चक्र सम्भव होते हैं। नवम्बर माह में ये कीट तने के सिरे के निचले भाग में सुषुप्ता अवस्था में पाये जाते हैं।

प्रारम्भिक आक्रमणों में तने का सिरा सूख जाता है। कुछ देर के आक्रमण के फलस्वरूप बढ़ाव का स्थान नष्ट हो जाता है और ये इसी स्थान पर छिद्र बनाकर तने के अन्दर अपने जीवन का शेष भाग और हानिकारक प्रवृत्ति को सिरा से ४ या ५ गढ़ों तक सीमित रखते हैं। इस आक्रमण के फलस्वरूप पौधे की बाढ़ रुक जाती है और झम्पादार सिरे का पौधा हो जाता है। इस कीट से पौधों को अत्यधिक हानि जुलाई से सितम्बर तक के महीनों में होती है।

घोरावला (pyrilla perpusilla)

घोरावला भारतवर्ष में अत्यधिक संख्या में चारों ओर पाये जाते हैं। ये कीड़े पुआल के रंग के होते हैं। हानिकारक-कीट पत्तियों के रस को चूसते हैं और उनको इस योग्य बना देते हैं कि उन पर फफूदी आदि उग सकें। लगभग ५० प्रतिशत चीनी की मात्रा कम हो जाती है और गुड़ स्वादहीन हो जाता है। ये अपने आक्रमण के लिये नर्म और कोमल प्रकार के गन्ने के पत्तियों को चुनते हैं। इनका आक्रमण-काल अप्रैल से जून, और सितम्बर से नवम्बर तक होता है। कीड़े जनवरी से मार्च के तीसरे सप्ताह तक कीट-शिशु अवस्था (Nymphal stage) में पायें जाते हैं। फरवरी के अन्त के आगे जब गन्ने कट जाते हैं, ये गेहूँ में स्थानान्तरित होकर मार्च अप्रैल में प्रौढ़ा अवस्था में परिणित हो जाते हैं। ये अप्रैल के मध्य में गन्ने पर लौट आते हैं।

गर्मी में अण्डे पत्ती के भीतर मध्य सिरा के पास दिये जाते हैं। और जाड़े में पत्ती के भीतर आधार पर दिये जाते हैं। अधिक आक्रमण वाले वर्ष में अण्डे खेत के समीप के

सभी स्थानों में दिये जाते हैं। अण्डे मांस के समान तागे से ढँके होते हैं। जो कि मादा के पूँछ के रोयें से निकलते हैं। एक मादा ७७० अण्डे दे सकती है। सबसे अधिक अण्डे मई-अक्तूबर में दिये जाते हैं। कीट शिशु, अप्रैल-अक्तूबर में ७ से १२ दिन में और जाड़े के महीनों में २० से ४० दिन में अंडे से बाहर निकलते हैं। कीट-शिशु की पूँछ पर एक जोड़ा पंख जैसा रोआँ होता है। ये ४ से २१ सप्ताहों में पूर्ण विकसित हो जाते हैं। इनका विकास वर्ष के मौसम पर निर्भर रहता है। कीट-शिशु मार्च के अन्त के प्रौढ़ में बदल जाते हैं। अन्तिम वर्ग नवम्बर में और सितम्बर के पहले अण्डे देता है। वर्ष में चार प्रजनन होता है जो कि एक प्रजनन दूसरे को ढकता है।

गन्ने की सफेद माची या लाही (sugarcane white fly)

ये बहुत ही छोटे और सफेद उड़ने वाले कीड़े हैं। कीट-शिशु और प्रौढ़ दोनों पत्तियों पर आक्रमण करते हैं और उन पर छोटे, अण्डाकार, गोलाई के समूह में रहते हैं।

अण्डे पीले-भूरे रंग या नारंगी रंग के होते हैं। ये पत्ती के भीतर मध्य सिरा के पास पंक्तियों में अंडे देते हैं। ये अंडे बाद में काले हो जाते हैं जो सतह पर चौड़े और दूसरे सिरे पर नोकदार होते हैं। कीट-शिशु एक सप्ताह में निकलते हैं जो कि पत्ती पर चिपके रहते हैं। इसके प्रौढ़ अवस्था में बदलने के पहले कोषावस्था (pupal stage) थोड़े समय का होता है। १५ दिन के पश्चात् कीड़े प्रौढ़ावस्था को प्राप्त करते हैं।

इसमें शुशुप्तावस्था (hibernation) नहीं होती और एक वर्ष में कई पीढ़ी आती हैं। ये अगस्त के अन्त से मार्च तक बहुत सक्रिय होते हैं। इनका आक्रमण ५० प्रतिशत फसल पर जुलाई से नवम्बर तक होता है।

मई जून में गर्म हवा से ये मर जाते हैं। इनका जीवन-चक्र १४ से २५ दिन में पूरा होता है।

काली चूसिया (black bug)

य चूसिया भारतवर्ष में अधिकतर पायी जाती हैं। इनकी शरीर काली और पंखे सफेद होती हैं।

ये जाड़े में प्रौढ़ की तरह गन्ने के छिद्रों में २ से ३ इंचों की गहराई में रहती हैं। और वहीं अपने जीवन का शेष भाग पूर्ण करती हैं।

अण्डे देने का नियम (mode) मौसम पर निर्भर करता है। जाड़े में एक अण्डा जड़ के छिद्रों के सम्पर्क की मिट्टी पर दिया जाता है, जहाँ हानिकारक-कीट निष्क्रिय अवस्था में रहते हैं।

गर्मी में अण्डे समूह में, बगल की पत्ती के आवरण आधार पर दिये जाते हैं।

सबसे अधिक संख्या में अण्डे जुलाई से सितम्बर तक दिये जाते हैं। कीट-शिशु मई से सितम्बर तक ९ से १७ दिन के अन्दर और अक्तूबर से जनवरी तक ८५ से १५९ दिन में अण्डे से निकलते हैं। कीट-शिशुअवस्था २५ से ५२ दिन तक अप्रैल-अक्तूबर में, और ६६

से ७१ दिन तक अक्तूबर से दिसम्बर में होती है। प्रौढ़-कीट-शिशु दोनों पौधे के पत्तियों को चूसते हैं। ये उन पत्तियों को अधिक चाहते हैं जिनमें आवरण आधार की पत्तियाँ बड़ी, कुछ ढिलाई के साथ जुड़ी होती है। अत्यधिक चूसियों के एक स्थान पर आक्रमण के कारण पत्तियाँ चलनी की भाँति दृष्टिगोचर होती है।

ये हानिकारक-कीट अत्यन्त छोटे और लाल रंग के होते हैं और लाखों की संख्या में गन्ने की पत्तियों पर आक्रमण करते हैं। सबसे अधिक क्षति वर्षा के थोड़े पूर्व होती है। भीषण वर्षा में ये कीट पौधों से बह जाते हैं।

पौधों से संलग्न पत्तियाँ लाल हो जाती हैं और कुछ विशेष परिस्थिति में पत्तियाँ अग्रीम छोर पर पुआल के रंग की हो जाती हैं और यह रंग क्रमशः अग्रिम छोर से नीचे की ओर बढ़ता है। पूर्ण आक्रान्त पत्तियाँ गिर जाती हैं। हानिकारक-कीट सम्पूर्ण वर्ष में गन्ने और ज्वार पर पाये जाते हैं लेकिन ये कीट अप्रैल के मध्य से सितम्बर तक पूर्ण सक्रिय रहते हैं। मई-जून में ये छोटी मकरी वायु द्वारा गन्ने के पौधे पर ये आक्रमण प्रारम्भ करती हैं और द्विगुणित होती हैं। अण्डे गोल आकार के होते हैं और इनका रंग गन्दा सफेद होता है। ये फरवरी के अन्त से नवम्बर तक पत्तियों पर दिये जाते हैं। ये क्रमशः भूरे रंग में परिवर्तित हो जाते हैं और बगल में लाल रंग का धब्बा धारण करते हुए पारदर्शक हो जाते हैं। (Larva) दो या तीन दिनों में अण्डे से बाहर आ जाते हैं। नर (Larva) और कीट-शिशु अवस्था डेढ़ से ३ दिनों की होती है और मादा (Larvra) की कोषावस्था ३ से ४ दिनों की होती है। सम्पूर्ण जीवन चक्र १२ से १७ दिनों में पूर्ण होता है। लेकिन सक्रिय अवस्था में नर साढ़े चार दिन से ६ दिन में और मादा साढे पाँच दिन से ७ दिनों में अपना-अपना जीवनचक्र क्रमशः पूर्ण करते हैं।

नियन्त्रण :—

गन्ना छिद्रक का नियन्त्रण कठिन है। इसका कारण यह है कि जब सुंडी एक वार तने में घुस जाती है तो यह सम्भव नहीं होता कि कोई कीट-नाशक दवा इस हानिकारक कीट के जीवन को नष्ट कर सके।

इसलिए इस सम्बन्ध में यांत्रिक विवि से नियंत्रण सबसे अच्छा होता है। यांत्रिक नियन्त्रण की निम्नलिखित विधियाँ हैं, जो आक्रमण को कम करती हैं और इन विधियों को रासायनिक विधियों के पूर्व प्रयोग में लाना चाहिए।

(१) गन्ने का पौधा प्रारम्भिक अवस्था में ही गोड़ दिया जाना चाहिए।

(२) फसल की कटाई फरवरी के मध्य में होनी चाहिए और खेत की गहरी जुताई कर, डुण्ठों को एकत्रित कर जला देना चाहिए, ताकि डुण्ठों में छिपी निष्क्रीय सुंडियाँ नष्ट हो जायँ।

(३) मार्च-अप्रैल में या नवम्बर के अन्त में और जनवरी के प्रारम्भ में देहरादून की सुंडी को मारने के लिए गन्ने का खेत जोत देना चाहिए। प्रभावित तना काट देना चाहिए और जुलाई से सितम्बर तक नष्ट कर देना चाहिए।

नियमित सप्ताहान्तर पर हानिकारक-कीटों की संख्या कम करने के लिए जड़ों या छिद्रक के अण्ड-पिण्डों को एकत्रित कर नष्ट कर देना चाहिए।

(४) अप्रैल के महीने में सभी पेढी (ratton crop) फसल के तने समाप्त कर देना चाहिए। सलाई या गाब सुख (topshoot borer) के अण्ड-पिण्डों और माप को अप्रैल से जुलाई के मध्य तक एकत्रित कर नष्ट कर देना चाहिए। ये माथ रात्रि में प्रकाश की तरफ आर्कषित होते हैं। इसीलिए प्रकाश के फन्दे का प्रयोग खेत में होना चाहिए।

निम्फ और प्रौढ़ घोरावला (pyrilla) इस माथ से पाये जाते हैं, जिसको एकत्रित कर नष्ट कर देना चाहिए।

(५) मई-जून के महीनें में आवरा या ढोला और जड़कटा के आक्रमण को कम करने के लिए गन्ने के पौधे को गोड़ देना चाहिए। अगर डेड हर्ट है, तो इसको खींचकर, रखकर किसी लोहे की तेज पत्ती से कुचल देना चाहिए।

"डेड हर्ट" सलाई या गाबसुख (topshoot borer) के कारण होता है। इसको फरवरी के मध्य में शिखर के नीचे अच्छी तरह काट देना चाहिए।

(६) जुलाई-अगस्त में (१) लही या श्वेत मक्खी का आक्रमण होता है। सितम्बर में आक्रान्त पत्तियों को एकत्रित कर जला देना चाहिए।

(२) घोरावला

(३) शिखर छिद्रक या पिहिका का नियंत्रण करना चाहिए।

रासायनिक नियंत्रण

गन्ना छिद्रक :—

प्रथम प्रयोग गन्ने के बोने के दिन से चार महीने बाद करना चाहिए। अर्थात् मई में अढ़ाई पिंट इंण्ड्रेक्स २० ई० सी० ६० गैलन जल में घोलकर प्रति एकड़ की दर से छिड़कना चाहिये।

द्वीतीय प्रयोग करीव ६ सप्ताह बाद करना चाहिए। अर्थात् गन्ने के पौधे के लिये जून के अन्त में या जुलाई के प्रारम्भ म सवातीन पीन्टइन्ड्रक्स २० ई० सी० ८० गैलन जल में घोलकर प्रति एकड़ की दर से छिड़कना चाहिये।

तृतीय प्रयोग, ६ सप्ताह के बाद होना चाहिये। अर्थात् गन्ने के पौधे के लिए अगस्त के मध्य में ४ पिन्ट इण्ड्रेक्स ई० सी० १०० गैलन जल में घोलकर प्रति एकड़ की दर से छिड़कना चाहिये।

घोरावला (pyrilea perpusilla)

(१) गर्मी में कीट-शिशु पर गैमक्सीन डी २५, ३०-४० पौण्ड प्रति एकड़ की दर से छिड़कना चाहिये।

(२) "ईक्सीडाल" ८१० गर्मी में और "ईक्सीडाल" ८०५ सितम्बर-नवम्बर तक ३५-५० पौण्ड प्रति एकड़ की दर से निर्धारित है। इसको दस से पन्द्रह दिन के अन्तर पर छीटना चाहिए।

(३) दस प्रतिशत बी० एच० सी० ३०-४० पौण्ड प्रति एकड़ की दर से पौधे पर छीटना चाहिये या ०.२ प्रतिशत निलम्बित प्रतिशत का १ पौण्ड ५० डब्ल्यू० पी० २५ गैलन जल में) मई और जून में ६०-१५० गैलन छिड़कने वाली वस्तु प्रति एकड़ की दर से छिड़कना चाहिए ।

(४) ८ भाग रेड़ी के तेल में ५ भाग बबूल का गोद मिला कर आग पर गर्म कर लेना चाहिए । जिन गन्नों पर कीड़े लगें हों उन पर इस घोल को छिड़कना चाहिए । घोल चिपचिपा होने के कारण कीड़े चिपक कर मर जायेंगे ।

(५) इण्डेक्स २० ई० सी० ०.१ प्रतिशत ६०-१५० गैलन प्रतिएकड़ की दर से छिड़कने से लाभ होता है । (पौण्ड १, इण्ड्रेक्स-२०० गैलन पानी में घोल कर)

गन्ने की श्वेत मक्खी (sugarcane white fly)

(१) "इण्डेक्स" २० ई० सी० का प्रयोग करना चाहिए ।

(२) ०.२ प्रतिशत् बी० एच० सी० का घोल (१ पौण्ड ५० प्रतिशत् बी० एच० सी का घुलनशील पाउडर २५ गैलन जल में) अगस्त-सितम्बर में १००-१५० गैलन प्रति एकड़ की दर से छिड़कना चाहिये ।

(३) रोजीन (चनरस) का संयोग वनाकर या फिस आयल रोजिन सोप कीटों को नष्ट करने के लिए छिड़का जा सकता है ।

काली-चूसिया (Black bug)

वेदी पर ०.१ प्रतिशत् बी० एच० सी० का घोल (१ पौण्ड, ५० प्रतिशत बी० एच० सी का घुलन शील पाउडर (५० गैलन जल में) मार्च-अप्रैल में ६० गैलन प्रति एकड़ की दर से छिड़कना चाहिये ।

(२) "इन्ड्रेक्स" २० ई० सी में १६ Fl.Pzs. कीट नाशक दवा, एक एकड़ के लिये उपयुक्त मात्रा के पानी में मिला कर छिड़कना चाहिये ।

गन्ने की माइट (sugarcane mite)

(१) ०.२५ प्रतिशत "एरमाइट" (१ पौण्ड एरेमाइट ४० गैलन पानी में घोलकर) मई-जून में ६०-८० गैलन प्रति एकड़ की दर से छिड़कना चाहिये ।

(२) गन्धक पाउडर और रास्ते के धूल के साथ मिला कर १ : ४ के अनुपातों में छीटना चाहिये ।

(३) १ पौण्ड फिस आयल रोजीन सोप ६ गैलन पानी में मिलाकर छिड़कना चाहिये ।

दीमक (Termite)

१—इन कीड़ों के नियन्त्रण के लिए दीमक की वाँबी (दिमौर) को देख कर अशुद्ध क्रेसोट आयल खराब जीयर आयल, मिट्टी के तेल में अच्छी तरह सनी हुई मिट्टी को स्थानान्तरित कर देना चाहिये ।

२—नीम की खली खाद के रूप में प्रयोग की जानी चाहिये।

३—गन्ने के टुकड़ों को चूने के जल में, फेनाइल, लेड आर्सिनेड और चूना कोलतार में डुबोना चाहिये। बोने के पहले दीमक के आक्रमण से टुकड़ों को बचाना चाहिये।

४—गन्ने के टुकड़ों को ०.२५ प्रतिशत् बी० एच० सी० के घोल में (१ पौण्ड, ५० प्रतिशत् बी० एच० सी० का घुलनशील पाउडर (५० गैलन जल में) बोने के पहले डुबोना चाहिये।

५—बोने के समय ५ प्रतिशत बी० एच० सी० का महीन पाउडर छिद्रों में छीटना चाहिये।

६—कोणों (furrow) को बोने के पहले की ०.१ प्रतिशत् एल्ड्रीन घोल (१ पोण्ड, ४० प्रतिशत एल्ड्रीन घोल ५३ गैलन जल में) ८०-१०० गैलन प्रति एकड़ की दर से छिड़कना चाहिये।

७—"एल्ड्रेक्स" ३० ई० सी०, अढ़ाई से पाँच पिन्ट तक १५०-२०० गैलन प्रति एकड़ की दर से जल में घोल कर छिड़कना चाहिए।

या "एल्ड्रेक्स" ५ प्रतिशत महीन पाउडर २०-४० पौण्ड प्रति एकड़ की दर से या "एल्ड्रेक्स" ४० घुलनशील पाउडर अढ़ाई से ५ पौण्ड १५०-२०० गैलन जल में गन्ने के (planting) बोने के समय या पहले छिड़कना चाहिये। कोणों में कम मात्रा बोने के समय और अधिक मात्रा बोने के पहले प्रयोग की जाती है।

खड़ी फसल में "एल्ड्रेक्स" ३० ई० सी० ४ पिन्ट २०० गैलन जल में प्रति एकड़ की दर से पौधे के जड़ वाले हिस्से में छिड़की जाती है।

८—"गैमेक्सीन" डी ०.०२५ २०-२५ पौण्ड, फर्टीलाइजर के साथ मिलाकर प्रति एकड़ की दर से कोणों में टुकड़ों को बोने के समय, दीमक के नियन्त्रण के लिये बहुत प्रभावशाली सिद्ध हुआ है।

देश के युवकों की समस्या

श्री रमापति शुक्ल
टीचर्स ट्रेनिंग कालेज

प्रत्येक परिवर्तनशील समाज में नित्य नई नई समस्याएँ उठा करती हैं जो समाज के कर्णधारों तथा देश के शासकों के लिए सिरदर्द बन जाती हैं। इन विविध समस्याओं के अध्ययन और उनके सन्तोषजनक हल के लिए सरकारी तथा गैरसरकारी संस्थाओं का परस्पर सहयोग आवश्यक होता है। राजनैतिक संस्थाओं एवं दलों में आपस का सैद्धान्तिक मतभेद हो सकता है परन्तु समाज को व्यवस्थित करने के लिए उन्हें आपसी मतभेद को भूल कर सम्मिलित प्रयास करना चाहिए क्योंकि समाज की व्यवस्था पर ही राजनीति का ढाँचा खड़ा रह सकता है। यदि समाज का ढाँचा विच्छिन्न हो जाता है तो देश में राजनैतिक अव्यवस्था उत्पन्न हो सकती है जिसके कारण देश की सुरक्षा खतरे में पड़ सकती है।

स्वतंत्रता के पूर्व भारत में युवकों का संगठन बहुत सुदृढ़ था। उनमें ऐसी एकता और संगठनशक्ति थी कि विदेशी सरकार को भी उनका लोहा मानना पड़ता था। सन् ४२ के आन्दोलन में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के छात्रों ने जिस संगठन का परिचय दिया था वह तत्कालीन इतिहास की एक स्मरणीय घटना है। परन्तु खेद है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् छात्रों की संगठन शक्ति को उचित दिशा नहीं मिली और वह धीरे-धीरे अवांछनीय दिशाओं में मुड़ने लगी जिसके फलस्वरूप आज हमारे छात्रों की अव्यवस्था एवं अनुशासनहीनता देशव्यापी चिंता का कारण हो गई है। हमारे छात्र अपनी 'माँगों' की पूर्ति के लिए जिन साधनों का प्रयोग कर रहे हैं वे विदेशी सरकार के विरुद्ध मोर्चा लेने के लिए बनाए गए थे। हड़ताल, अनशन, तोड़-फोड़, आदि विदेशी सत्ता को उखाड़ फेकने के लिए तो ठीक थे परन्तु अपने देश की सरकार, चाहे वह किसी दल की हो, जनता की सरकार है; अतः उसके विरुद्ध इन साधनों का प्रयोग अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारना है। वास्तव में स्वराज्य होते ही इन अस्त्रों को दफना देना चाहिए था और सरकार की ओर से ऐसे कार्यों को गैर-कानूनी घोषित कर देना चाहिए था। ऐसा न कर के हमने बड़ी भारी भूल की।

देश में स्वराज्य स्थापित होने पर नया संविधान बना जिसके अनुसार हमारा गणतंत्र धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित किया गया। परन्तु धर्मनिरपेक्षता का अर्थ धर्महीनता मान लिया गया। अतः हमारी शिक्षा में धर्म के लिए कोई स्थान नहीं रह गया। धर्म का अर्थ संप्रदाय मानकर धार्मिक शिक्षा को सांप्रदायिक शिक्षा समझा गया। सांप्रदायिकता देशहित के लिए घातक सिद्ध हो चुकी थी। अतः हमारी शिक्षा संस्थाओं में धर्म का नाम लेना सर्वथा वर्जित हो गया। परन्तु विचार करने की बात है कि धर्म शब्द बहुत व्यापक है, यह संप्रदाय का पर्याय नहीं है। अतः सांप्रदायिक शिक्षा वर्जित होते हुए भी धार्मिक शिक्षा दी जा सकती थी। सभी संप्रदायों में कुछ ऐसी बाते हैं जिनका संबंध मानवता से है। उन बातों का संग्रह करके एक ऐसा पाठ्यक्रम प्रस्तुत करना चाहिए था जिसके

शिक्षा मनुष्य मात्र के लिए आवश्यक है। इस प्रकार की शिक्षा के अभाव में हमारे युवकों की शिक्षा अपूर्ण एवं लक्ष्यविहीन होने लगी। वे जीवन के उच्चतम मूल्यों को समझने में असमर्थ हो गए। जब उन्हें जीवन का कोई लक्ष्य नहीं दिखाई पड़ता तब उनके सामने निराशा और अन्धकार होना स्वाभाविक है ऐसे समय उन्हें जो भी कोई मार्ग दिखाई देता है वे उसी ओर मुड़ जाते हैं। आज का युवक लक्ष्यविहीन शिक्षा पाकर निरनुशासित हो जाता है। न तो उसे माता-पिता और गुरु के ऊपर श्रद्धा या विश्वास रह जाता है, न समाज या कानून का भय रहता है। वह अपनी शक्ति को अपरिचित एवं अजेय समझकर उसका दुरुपयोग करने लगता है।

इस परिवर्तित शिक्षा प्रणाली में गुरु शिष्य संबंधों में भी शिथिलता आ गई है। आज का छात्र प्रति मास जब विद्यालय में शुल्क जमा करता है तब उसके मन में यह भावना उत्पन्न होती है कि वह शिक्षा को क्रय कर रहा है। उसके अध्यापक उसके क्रीतदास हैं; वे पैसे के लिए पढ़ाते हैं; अतः श्रद्धा के पात्र नहीं हैं। निःशुल्क शिक्षा देने वाले प्राचीन गुरुओं का आदर्श लुप्त हो चुका है। आजकल के अध्यापकों की दुर्बलताएँ और छात्रों के प्रति उनके प्रेम में शिथिलता भी छात्रों को उनसे विमुख करती है। अब अधिकांश अध्यापक छात्रों की श्रद्धा को आकृष्ट करने में असफल रहते हैं।

वर्तमान शिक्षा का एक बड़ा भारी दोष आज की परीक्षा प्रणाली है जिसम अध्यापकों को पुलिस का काम करना पड़ता है। अतः छात्र उन्हें अपना हितैषी न मानकर शत्रु समझने लगते हैं। अभिभावक भी परीक्षाओं को अधिक महत्त्वपूर्ण समझकर छात्रों का ही समर्थन करते हैं और अध्यापकों को सहयोग नहीं देते। सच बात तो यह है कि आज माता-पिता अपनी संतान की शिक्षा के प्रति जितने उदासीन हैं उतने पहले कभी नहीं थे। वे अपने जीवन की समस्याओं में इतने उलझे हैं कि अपने बच्चों की समस्याओं की ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता। फलतः वे अपने बच्चों को वश में रखने में असमर्थ हैं।

विद्यालयों में छात्र-संघों की स्थापना करने का एक भीषण रोग फैल गया है। ये छात्र-संघ मजदूर-संघों के अनुकरण पर बनते हैं; पहले की तरह वाद-विवाद सभाएँ या साहित्य-परिषदें नहीं बनतीं। पहले महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में विभिन्न विषयों के पृथक्-पृथक् संघ या परिषदें बनती थीं; जैसे विज्ञान परिषद्, गणित परिषद्, वाणिज्य-संघ, इतिहास-परिषद् आदि। उनमें किसी महत्वपूर्ण विषय पर अनुसंधानात्मक निबंध पढ़े जाते थे अथवा विषय से सम्बद्ध किसी समस्या पर विचार विमर्श किया जाता था। कहीं-कहीं पर संसद (पार्लमेंट) भी बनाई जाती थी जिसमें राजनैतिक विषयों पर चर्चा होती थी। उसमें अधिकतर देश की तत्कालीन विधान सभाओं का अनुकरण किया जाता था। उसका चुनाव होते समय दो ही दल होते थे, बहुमत से विजयी पक्ष सरकारी दल कहलाता था और अल्पमत वाला विपक्षीदल। आजकल की तरह राजनैतिक पार्टियों के नाम पर चुनाव नहीं होते थे। अतः उस समय की संसदों में छात्र राजनीति की शिक्षा प्राप्त करते थे पर राजनैतिक दलबंदी से दूर रहते थे। इसके विपरीत आज छात्रों के चुनाव भी राजनैतिक दलों की तरह लड़े जाते हैं; उनमें भी राजनैतिक पार्टियाँ बन जाती है और छात्र देश

की राजनैतिक पार्टियों से अपना तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं। फलतः शैक्षिक संस्थ राजनीति का अखाड़ा बन रही हैं।

छात्र-संघों का मुख्य कार्य नित्य नई समस्याएँ उठाना और उनको सुलझाने लिए अपनी 'माँगें' उपस्थित करना है। वे मजदूरों की तरह हड़ताल करके अपनी म पूरी कराना चाहते हैं। वे भूल जाते हैं कि मजदूर हड़ताल करके मालिक की हा करते है परन्तु छात्रों की हड़ताल से न तो अधिकारियों की हानि होती है न अध्याप की, उलटे छात्र अपनी ही पढ़ाई की हानि करते हैं। छात्रों को अपने संगठन पर इत विश्वास है कि वे अपनी समस्याएँ अपने माता-पिता या अध्यापकों के पास न ले जा अपने संघों के पास ले जाते हैं। पहले का छात्र अध्यापक के निर्णय से यदि असंतु होता था तो प्रधानाध्यापक के पास या अपने पिता के पास उसकी शिकायत करता थ दोनों मिल कर समस्या का हल निकाल लेते थे। कोई भी समस्या विद्यालय के बा किसी संस्था के पास नहीं जाती थी पर आज स्थिति बिलकुल वदल गई है। आज छात्रों की समस्याएँ बाहर ही हल होती हैं; विद्यालय में उनके हल का प्रयास न किया जाता।

आज का राजनैतिक एवं सामाजिक वातावरण कुछ ऐसा अनिश्चित एवं अव्यवस्थि सा हो गया है कि देशव्यापी असन्तोष फैल गया है। समाज में अन्न-वस्त्र का संकट दैनिक आवश्यकता की अधिकांश वस्तुएँ दुर्लभ अथवा सर्वथा अलभ्य हो गई हैं। न बाजारी, घूसखोरी आदि के कारण जीवन बड़ा संघर्षमय हो गया है। बढ़ती हुई बेकारी कारण छात्रों को अपना भविष्य अन्धकारमय दिखाई पड़ता है। अतः वे उपद्रव करके अ असन्तोष व्यक्त करते हैं। एक बात और है। आज का छात्र देख रहा है कि देश के कर्ण वे लोग नहीं हैं जो परिश्रम से विद्योपार्जन करके उच्च श्रेणी प्राप्त करते हैं, वरन् शा की बागडोर उनके हाथ में हैं जो या तो पढ़ने में फिसड्डी थे, या पढ़ना लिखना छोड़ नेतागिरी करते थे; जिन्हें लंबी-चौड़ी बातें करना आता है और जो अपनी वाणी से जनता प्रभावित कर सकते हैं; जिनके साथ कुछ लोगों का दल है जो सभी उचित अनुचित उप से जनता को अपनी ओर करके वोट प्राप्त कर सकते हैं। अतः पढ़ने से जो काम न हो सकता वह नेतागिरी से हो सकता है। इसलिए नेतागिरी छात्रों के लिए एक आक व्यवसाय जान पड़ता है। यही कारण है कि वे उपद्रवों में सरलता से सम्मिलित हो ज हैं और अवसर देखकर किसी न किसी टुकड़ी के नेता बन जाते हैं। वे कालान्त विधायक बनकर मंत्री होने का स्वप्न देखने लगते हैं।

कभी-कभी अधिकारियों की अदूरदर्शिता भी छात्रों को अनुशासनहीन होने विवश करती है। वे ऐसे नियम बनाते हैं जिनका पालन करने में छात्रों को आर्थिक शारीरिक कष्ट होता है। माता-पिता द्वारा प्रतिवाद होने पर भी अधिकारी अपने नि में परिवर्तन नहीं करते। फलतः छात्र नियमों को तोड़ने के साथ ही अनुशासन भी करते हैं और उसके बाद जो दुष्परिणाम होते हैं उनके नमूने आज प्रत्येक राज्य में देखे सकते हैं। छात्रों का बलपूर्वक दमन करने का प्रयास होता है परन्तु इस दवा से रोग भी बढ़ता जा रहा है।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट पता चलता है कि छात्रों की अनुशासनहीनता के कारण अधिकतर अप्रत्यक्ष अथवा बाह्य है प्रत्यक्षरूप से छात्र उनके लिए उत्तरदायी नहीं हैं। प्रौढ़ों की अदूरदर्शिता एवं कौशल के अभाव के कारण छात्रों में अनुशासनहीनता आती है। अतः हमें विचारपूर्वक छात्र-समस्याओं का हल निकालना होगा जिससे रोग असाध्य होने के पूर्व ही उसकी उचित चिकित्सा हो जाय। देश के भावी कर्णधारों को अवांछनीय मार्ग पर जाने से बचाना और उन्हें सुयोग्य नागरिक बनाकर देश का शासन भार सँभालने के योग्य बनाना प्रत्येक प्रौढ़ व्यक्ति का कर्तव्य है। इसके लिए नीचे कुछ सुझाव उपस्थित किए जा रहे हैं। आशा है देश के विचारक, नेता, शिक्षा शास्त्री, शासक आदि इस पर विचार करके छात्र-समस्या को शीघ्र हल करने का प्रयास करेंगे।

१—उचित-अनुचित, पाप-पुण्य* आदि की भावना का विकास करने के लिए धार्मिक (चाहे तो उसे नैतिक कह लीजिए) शिक्षा का पाठ्यक्रम में समावेश करना आवश्यक है।

२—शिक्षा मितव्य भी हो, यदि संभव हो तो निःशुल्क हो। शुल्क यदि देना भी पड़े तो छात्रों के हाथ से न भेजकर माता-पिता के द्वारा जमा किया जाय तो उसका प्रभाव अच्छा पड़ेगा। यदि शुल्क न लेकर संतान की संख्या के अनुसार शिक्षा-कर वसूल लिया जाय तो अच्छा होगा। संतानहीन एवं अविवाहितों से भी एक निश्चित रकम कर के रूप में ली जाय।

३—शिक्षा में सादा जीवन उच्च विचार का आदर्श रखा जाय। शिक्षक स्वयं सादा जीवन विताएँ और छात्रों को भी वैसी ही प्रेरणा दें।

४—शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो। छात्र जब माध्यम की कठिनाई के कारण विषय को समझने में असमर्थ होते और पढ़ाई में पिछड़ जाते हैं तब उपद्रव मचाते हैं (वी० के० आर० बी० राव का मत)।

५—परीक्षा के दोष दूर किए जायँ। परीक्षा लिखित एवं मौखिक दोनों रूपों में हो। परीक्षा के अंक कई भागों में विभक्त कर दिए जाएँ। अंतिम परीक्षा का सर्वाधिक महत्व घटा दिया जाय। उसका महत्व अधिक से अधिक ५० प्रतिशत हो। परीक्षा में चरित्र के लिए भी अंक दिए जाएँ जैसे विनय, आज्ञापालन, सच्चाई, ईमानदारी, क्रोध का शमन, करुणा सहानुभूति, परिश्रमशीलता, स्वास्थ्य, समाजसेवा आदि गुणों पर भी ध्यान रखकर अंक दिए जाएँ। अध्यापकों के द्वारा इनका लेखा रखा जाए। पाश्चात्य देशों के समान हमारे देश के अध्यापकों को भी उत्तरदायित्व सौंपा जाय और छात्रों को चरित्र का प्रमाणपत्र अध्यापक के द्वारा दिया जाय।

६—छात्रों को कार्य में व्यस्त रखा जाए। कार्य चाहे मानसिक हो या शारीरिक किसी न किसी प्रकार के कार्य में व्यस्त रहने से छात्र निष्क्रिय न रहेंगे। निष्क्रियता मानसिक अशान्ति लाती एवं उपद्रव बनाती है। पाठ्येतर विषयों का केवल नामोल्लेख न हो वरन् उनका व्यवहारिक उपयोग हो। प्रत्येक छात्र को किसी न किसी प्रकार का

---

* परोपकारः पुण्याय, पापाय परपीडनम्। अर्थात् परोपकार ही पुण्य है और दूसरों को कष्ट देना ही पाप है।

स्वान्तःसुखद कार्य (हौवी) करने के लिए प्रेरित किया जाय और उसके लिए उसे अवसर तथा सुविधाएँ प्रदान की जाएँ। प्रत्येक छात्र के लिए कुछ समाजसेवा का कार्य अनिवार्य कर दिया जाय।

७—अध्यापक-अभिभावक-संघ (P. T. A.) स्थापित किए जायँ, जिनमें छात्रों की समस्याएँ हल की जाएँ। प्रत्येक विद्यालय में इस प्रकार की संस्था अनिवार्य रूप से होनी चाहिए।

८—राजनीतिक दल वयस्क छात्रों से राजनीतिक कार्य न कराएँ। चुनावों के समय किसी दल के लिए कार्य करना अपराध माना जाय।

९—विद्यालयों में मनोरंजन के कार्यक्रम रखे जाएँ जिससे छात्र अपना मन वहलाने के लिए वाहर के साधन न ढूढ़ें।

१०—प्रत्येक विद्यालय में एक अनुशासन समिति हो जिसके सदस्य अधिकांश में विद्यार्थी हों और उनकी सहायता के लिए कुछ अध्यापक हों।

बाजार-भाव की समस्या और कौटिल्य तथा अलाउद्दीन की व्यवस्था

कु० वीणा व्यास

भारत सरकार की वित्त नीति एवं आर्थिक विकास सम्बन्धी कार्य आज प्रमुख चर्चित विषयों में से एक है। सरकार के द्वारा किए गए मूल्य एवं बाजार नियंत्रण सम्बन्धी कार्य भी जटिलतम तथा समस्यात्मक बन गए हैं। जनता की नित्य की आवश्यकताएँ भी समुचित रूप से पूर्ण नहीं हो पा रही हैं और आज भारत का आर्थिक भविष्य अस्पष्ट सा हो उठा है। स्वतन्त्रता की प्राप्ति के वाद भारत में रूस के अनुकरण पर पंचवर्षीय योजनाओं के कार्यक्रम को अपनाया गया, वहुमुखी विकास की ओर कदम वढाए गए और भारत को प्रगतिशील औद्योगिक देशों की कोटि में लाने का प्रयास किया गया किन्तु जहाँ रूस ने प्रथम योजना की असफलता के कारण, अपनी कमी एवं दुर्वलता को दूर किया तथा बाद के वर्षों में सफल कार्य किए (फलतः उनकी योजनाएँ अधिकतम लाभ देने में समर्थ रहीं), वहीं भारत में प्रथम योजना तो सफल मालूम हुई, पर वाद में इन योजनाओं की त्रुटियाँ सामने आयीं। जहाँ रूस ने विकास के साथ-साथ कठोर नियंत्रण, निष्ठा, ईमानदारी और मूल्य तथा बाजार नियंत्रण की ओर पूरा ध्यान दिया वहाँ भारत इस ओर से उदासीन रहा। प्रथम दो योजनाओं के काल में तो इनकी पूर्ण उपेक्षा ही की गई। फल यह हुआ कि तीसरी योजना काल में जो प्रयास हुए उन्हें सफलता न मिली, और परिणाम भी भयानक हुए। अतः एक ओर तो इन योजनाओं के कारण कल-कारखाने चालू हुए, बेकारों की व्यवस्था हुई, तो दूसरी ओर जटिलतम समस्याएँ भी पैदा हुई जो क्रमशः भीषण हो उठीं। आज अन्न समस्या, मूल समस्या तो है ही साथ ही ऋण का एक ऐसा बढ़ता बोझ भी है जिसके नीचे भारत दबा जा रहा है।

हमारी प्रथम योजना मुख्यतः कृषि को लेकर चली थी, जिसमें दो तिहाई कृषि पर और एक तिहाई उद्योगों पर व्यय किया गया। यह पूर्ण सफल रही, उत्पादन में अनुमानित से अधिक वृद्धि हुई। कृषि का उत्पादन १० प्रतिशत के स्थान पर १५ प्रतिशत अधिक हुआ किन्तु इस समय भी मूल्य निर्धारण की ओर ध्यान न दिया गया।

दूसरी योजना में भी कृषि पर ध्यान दिया गया, किन्तु अनुपात में अन्तर आ गया। इस बार केवल एक तिहाई राशि कृषि के लिए रखी गई किन्तु यह राशि भी पिछली राशि से दुगुनी थी। इस बार सरकारी प्रयासों के बावजूद भी उत्पादन में कमी आ गयी जिस कारण १९५६ से मूल्यों में क्रमशः वृद्धि होती गई और १९५८ से तो इनमें आश्चर्यजनक तेजी आ गयी। उत्पादन-ह्रास तथा मूल्य वृद्धि की क्षोभकारक घटनाओं ने सरकार का ध्यान इनकी ओर आकर्षित किया और अब वह मूल्य नियन्त्रण का विचार करने के लिए बाध्य हुई।

तीसरी योजना में बाजार एवं मूल्य नियन्त्रण सम्बन्धी प्रश्न लिए गए। अब तक मूल्यों में पर्याप्त वृद्धि हो चुकी थी। सरकार की ओर से आर्थिक वस्तुओं के पृथक्-पृथक्

नियन्त्रण की व्यवस्था सेक्टरों के आधार पर की गयी। कुछ वस्तुओं का मूल्य निर्धारित किया गया कुछ का नहीं; इसने स्थिति को और भी विकट बना दिया एवं उत्पादन १० प्रतिशत कम हो गया। पिछले कुछ वर्षों में मूल्यों में कुछ ऐसी अनियंत्रित वृद्धि हुई कि आवश्यक वस्तुओं को लेना भी कठिन होने लगा, तथा अवमूल्यन से पहले ही भारत में मुद्रा का मूल्य गिर गया। अवमूल्यन के बाद लगभग ९ से १० प्रतिशत तक मूल्य बढ़े। रिजर्व बैंक के अनुसार यह वृद्धि ७ प्रतिशत ही हुई। साथ ही अवमूल्यन का लक्ष्य-विदेशी व्यापार की वृद्धि अपूर्ण ही रहा। फलतः जनता महँगाई और करों के बोझ से दब गई। चतुर्थ योजना का बोझ वह सँभाल न सकी और भारत को पुनः ऋण के लिए हाथ फैलाने पड़े।

यह नहीं कि सरकार की ओर से व्यवस्था हेतु प्रयास नहीं हुए। सरकार ने यत्न तो किए लेकिन वे सभी असफल रहे। जैसे राशन की व्यवस्था। इसके दो प्रकार थे अर्ध राशन, एवं पूर्ण राशन। जिन स्थानों में पूर्ण राशन था वहाँ स्वतन्त्र विक्रय बन्द कर दिया गया जिससे चोरबाजारी में वृद्धि हुई। माल को नियंत्रण-मुक्त स्थानों में ले जाकर बेचा जाने लगा जिससे तस्कर व्यापार बढ़ा और जनता में असन्तोष फैला। इसके साथ ही भारत का उत्पादन के आधार पर कई भागों में विभाजन कर दिया गया और जोनल व्यवस्था (zonal system) चलाई गयी। इससे भी चोर बाजारी और तस्कर व्यापार बढ़े साथ ही सामूहिक सहयोग की भावना को भी ठेस लगी। अतः पंजाब ने दिल्ली को गेहूँ देने से इन्कार कर दिया। माल को छिपाने और उसे खुले बाजारों में ले जाकर अधिकाधिक भाव पर बेचने की प्रवृत्ति प्रधान हो गयी। माल को सरकार निर्धारित मूल्य पर खरीदने लगी जिससे खलिहानों से माल गायब होने लगा और सरकार को अनुमानित से कम माल की प्राप्ति हुई और वह जनता को भर पेट भोजन न दे सकी। इससे असंतोष तो फैला ही, राशन व्यवस्था भी अप्रिय हो गई। सरकारी गुणों की अयोग्यता के कारण वितरण आदि भी समुचित रूप से न हो सका। इसी प्रकार की घटनाएँ अन्य विभागों में भी हुई। सरकार छिपे खाद्यान्नों का पता न लगा सकी फलतः खाद्यान्नों की बरबादी हुई। होने वाले विकास का पूरा फायदा भी जनता, सरकार के बहुमुखी लक्ष्यों के कारण न ले सकी।

इस अव्यवस्था, अनियंत्रित बाजार मूल्य तथा बढ़ते असंतोष के कारण हमारा ध्यान स्वतः उन प्राचीन महान् विभूतियों की ओर जाता है जिन्होंने इस सम्बन्ध में उत्तम व्यवस्था की थी। ईसा पूर्व चौथी शती भारत में एक महान् दूरदर्शी कूटनीतिज्ञ आचार्य कौटिल्य का आविर्भाव हुआ था जिन्होंने अपने अर्थशास्त्र में बाजारों का सुन्दर विधान किया था। इसी प्रकार १४वीं शती में एक कट्टर एवं कुशल प्रशासक अलाउद्दीन खिलजी के शासन काल में सेना की सुदृढ़ता, शान्ति, तथा सुव्यवस्था आदि के निमित्त, मूल्य एवं बाजारों के नियंत्रण की महत्ता को समझा गया था और उसे शासन-व्यवस्था में प्रमुख स्थान दिया गया था। इस विषय में इन कुशल राजनीतिज्ञों ने क्या क्या सिद्धान्त अपनाये थे और किस प्रकार की व्यवस्था को अंगीकार किया था? यह प्रश्न उठना प्रस्तुत प्रसंग में स्वाभाविक ही है।

कौटिल्य ने वित्त एवं उद्योगों के संबंध में स्पष्ट निर्देश देते हुए उनका विभाजन तीन भागों में किया है। उनका कथन है कि राज्य में ऐसे उद्योग हों जिन पर राज्य का अस्तित्व निर्भर हो। उनका संगठन एवं संचालन राज्य स्वयं करे। इन उद्योगों की समस्त पूँजी, श्रम एवं प्रबंध राज्य का हो। अतः कौटिल्य, राज्य के महत्त्वपूर्ण उद्योगों पर राज्य के प्रत्यक्ष स्वामित्व के समर्थक हैं। इस क्षेत्र में उन्होंने लौह, खान (आकर) तथा कृषि को रखा। नागरिकों की निजी संपत्ति का निषेध किया। इन महत्वपूर्ण उद्योगों को छोड़ शेष उद्योगों में उन्होंने नागरिकों को निजी संपत्ति रखने की मान्यता दी। व्यक्ति अपनी पूंजी, श्रम, एवं प्रबंध के द्वारा इनका संचालन कर सकता था। मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण की नीति का उन्होंने विरोध किया। वे उत्पादन, वितरण एवं उपभोग के क्षेत्र में राज्य नियंत्रण के पोषक रहे। उन्होंने इन व्यवस्थाओं को जो विस्तृत विवरण दिया वह आज उपलब्ध है। यहाँ हमें केवल देखना है कि बाजार एवं मूल्य के संबंध में उनकी नीति क्या थी।

इस नीति के संबंध में अन्य दूसरी व्यवस्थाओं के समान ही कौटिल्य ने अध्यक्षों की व्यवस्था की है। प्रत्येक विभाग के लिए अध्यक्षों का विधान किया है जो अपने उद्योगों का निरीक्षण एवं संचालन करते हैं। इन्होंने कोष की समृद्धि को मूल माना है। कोष के समृद्ध होने पर ही कोई औद्योगिक कार्य एवं व्यवस्था संभव है। अतः इन्होंन प्रत्येक क्षेत्र में सरकारी नियंत्रण आवश्यक माना है। कौटिल्य ने अपनी नगर व्यवस्था में मूल्य एवं बाजारों के प्रबंध पर बृहत् प्रकाश डाला है। इस क्षेत्र में प्रबंध संपादन समितियों एवं अध्यक्षों जैसे सीताध्यक्ष, पण्याध्यक्ष, पौतवाध्यक्ष, कुप्याध्यक्ष, शुल्काध्यक्ष आदि के माध्यम से करने का विधान किया है। इन समस्त अध्यक्षों के कार्यों का विवरण भी उन्होंने दिया है। इनकी नियुक्तियाँ मुख्यतः बाजारों के नियंत्रण, निरीक्षण, वस्तुओं एवं मापक यंत्रों की जाँच के लिए की जाती थीं। कौटिल्य का पण्याध्यक्ष मूल्यों का निर्धारण, बाजारों का नियंत्रण, व्यापारिक वस्तुओं का निरीक्षण करता था, जिससे सड़ा गला व मिलावटी सामान न बेचा जाए। अच्छी एवं खराब वस्तुएँ अलग-अलग रखी जाती थीं। उनका विक्रय भी अलग-अलग किया जाता था। वह देशी विदेशी दोनों व्यापारों का निरीक्षक तथा संचालक होता था। पण्याध्यक्ष के संबंध में कौटिल्य का कथन है—

"स्थलजलजानां नाना विधानां पण्यानां स्थलपथवारि पथोपयातानां सारफलवयोन्तरं प्रिया प्रियतां च विभात्।

तथा विक्षेप संक्षेप क्रय विक्रय प्रयोगाकालान्……………"

अर्थात् जल एवं स्थल में उत्पन्न एवं इन मार्गो से आने वाली प्रत्येक वस्तु के मूल्य में तारतम्य तथा कौन-सी वस्तु जनप्रिय है एवं कौन-सी अप्रिय इसका भली प्रकार ज्ञान पण्याध्यक्ष को रखना चाहिए। इसी प्रकार जनता के हित का ध्यान रखना, विभिन्न स्थानों में राज्य उत्पादित स्वतंत्र वस्तुओं के विक्रय की व्यवस्था करना, राज्य नियंत्रित वस्तु को एक स्थान पर ही बेचना, नित्य काम में आने वाली वस्तुओं पर से समस्त प्रतिबंध हटाना आदि अनेक कर्त्तव्य हैं जिनका पालन पण्याध्यक्ष के लिए आवश्यक है। इसी प्रकार विदेशी व्यापार, के नियंत्रण, संचालन में भी इसे सचेत रहना चाहिए, ऐसा विधान है।

सीताध्यक्ष सरकार की ओर से कृषि की देख-रेख करता, कुप्याध्यक्ष बन संबंधी व्यवस्थाएँ देखता तथा लकड़ी की सुन्दरतम वस्तुओं के निर्माण तथा विक्रय का प्रबंध करता। शुल्काध्यक्ष चुंगी की वसूली करता, व्यापारियों एवं उनके माल की पूरी जाँच करता तथा उसका व्यौरा रखता था। पौतवाध्यक्ष मापक यंत्रों का निरीक्षक था। न केवल जाँच करना वरन् मापक यंत्रों के निर्माण की व्यवस्था करना भी इसी का कार्य था। सोने, चाँदी जैसी वस्तुओं के तौल के लिए पृथक् तराजू एवं बाट होते थे। इनकी प्रतिदिन जाँच की जाती थी जिससे किसी को कम वस्तु प्राप्त न हो। इस प्रकार तस्कर व्यापार एवं चोर बजारी न होती थी।

कर्मचारियों को योग्यता के आधार पर नियुक्त किया जाता था उन्हें पूर्ण निष्ठावान रखने के प्रयास किए गए थे। कर्तव्य की अवहेलना पर उन्हें दण्ड दिया जाता था। गुप्तचरों के माध्यम से पूर्ण जानकारी एकत्र की जाती थी। तौल में कम या खराब वस्तु के विक्रय करने पर अथवा झूठ बोलने पर या अच्छे माल को छिपाने के प्रयास करने पर व्यापारियों को भी कठोर दण्ड दिया जाता था। कौटिल्य का कथन है कि—

> "अमुद्राणामत्ययो देयद्विगुणः। कूटमुद्राषामष्टगुणो दण्डः।
> भिन्न मुद्राणामत्ययो घटिकास्थाने स्थानम्॥"

अर्थात्—

जो व्यापारी मुद्राविहीन सामान लाएँ उन्हें देय शुल्क की अपेक्षा दूना दण्ड दिया जाए, जो व्यापारी जाली मुद्रा द्वारा मुद्रित करके पण्य लाएँ उसे अठगुना, एवं जिन व्यापारियों ने मुद्रा पाकर भी उन्हें खो दिया हो या नष्ट कर दिया हो उन्हें अन्यान्य व्यापारियों के समक्ष तीन घड़ी तक रुकने का दण्ड देना चाहिए।

इस प्रकार आने वाले विदेशी एवं अन्तर्देशीय माल की पूरी जाँच की जाती थी प्रमाणपत्र और लाइसेंस भी देखे जाते थे। इसी प्रकार यदि व्यापारी झूठ बोलें और अपने माल के संबंध में समुचित जानकारी न दें तो उन्हें दण्डित करने का विधान था।

> अतः शुल्कभयात्पण्य प्रमाणं मूल्यं वा हीनं बुववस्तदतिरिक्तं राजा हरेत्। शुल्क मष्ट गुणं वा दद्यात्। तदेत निविष्ट पण्यस्य भाण्डस्यहीन प्रतिवर्ण केनर्घापकर्षंठो सारभाण्डस्य फल्गुभाण्डेन प्रतिच्छादने च कुर्यात्।"

अर्थात्—

यदि अधिक शुल्क (चुंगी) लगने के भय से कोई व्यापारी माल का वजन या दाम कम करके बताए तो उस के कहे मूल्य से जितना भी अधिक दाम मिले वह सब राजा ले ले एवं झूठ बोलने के लिए व्यापारी से आठ गुना शुल्क ले। जो व्यापारी उत्तम माल को छिपाने के लिए घटिया प्रतिवर्णक (नमूना) दिखाए एवं मूल्य कम बताए अथवा अच्छा माल खराब माल से ढँक दे तो भी उससे आठ गुना दण्ड वसूल करे। जिस प्रकार व्यापारियों की पूरी जाँच, माल का खुला निरीक्षण एवं दण्ड की व्यवस्था थी उसी प्रकार कर्मचारियों के लिए भी कठोर दण्ड विधान था। इन प्रयासों के फलस्वरूप पूर्ण व्यवस्था की स्थापना हुई। बेईमानी, भ्रष्टाचार, तस्कर व्यापार बन्द हो गए। दण्ड के भाव से मूल्य नियंत्रित

एवं उचित होते थे और जनता को कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ता था। बहुमूल्य वस्तुओं के संबंध में भी ऐसी ही व्यवस्था थी। इससे बाजारों में नियम निष्ठा ने प्रवेश कर लिया।

कौटिल्य के सदृश ही अलाउद्दीन खिलजी ने भी बाजारों एवं मूल्यों की सुन्दर व्यवस्था की थी। राज्य में करों की वसूली तत्परता से की जाती एवं आय वृद्धि पर समुचित ध्यान दिया जाता था। आर्थिक समृद्धि ही सुख शांति की आधार शिला है, इस सिद्धान्त में पूरा विश्वास था। अतः अच्छी वस्तुओं की प्राप्ति भी सुलभता से हो सके इसकी आवश्यकता समझी जाती थी। अतः सुल्तान ने बाजारों को नियंत्रित किया तथा मूल्य निर्धारित किए। जीवन की विविध सामग्रियों को सस्ता बनाने के लिए आवश्यक था कि अनाज सस्ता हो। इस संबंध में प्रमुखतः चार नियम किए गए थे। प्रथमतः मूल्य का राज्य द्वारा निर्धारण, दूसरे सुल्तान द्वारा अत्यधिक मात्रा में अनाज का एकत्रीकरण, तीसरे मण्डी के विश्वास पात्र कर्मचारियों को अधिकार संपन्न बनाना, और चौथे यह कि प्रत्येक प्रदेश में पृथक् व्यापारिक रजिस्टर रखना। इन नियमों के कारण अनाज की समस्या हल होने लगी। सरकारी गोदामों में पर्याप्त अनाज एकत्र रहता। जब भी आवश्यकता पड़ती उसका उपयोग किया जाता जिससे बाजार के मूल्यों में परिवर्तन नहीं होते थे। बाजार संबंधी सारी सूचना सुल्तान के पास नित्य प्रति पहुँचती थी।

इसके साथ ही प्रमुख वस्तुओं के बाजारों की पृथक्-पृथक् व्यवस्थाएँ थी। इसमें माप तौल की वस्तुओं की प्रतिदिन जाँच की जाती थी। गुप्तचरों की नियुक्तियाँ की जाती जो सारी सूचना सुल्तान को देते थे। इस प्रकार दीवान ए रियासत, शहना बरीद, मुन्हैय्या, नामक कर्मचारियों की सहायता से नियंत्रण व्यवस्था चालू रही।

इसके अतिरिक्त सुल्तान ने सभी वस्तुओं पर राज्य नियंत्रण स्थापित किया। विद्रोह अशान्ति, एवं चोरबाजारी रोकने के लिए व्यापारी तीन भागों में बाँटे गए—

१—बाहर से माल लाकर बेचने वाले,

२—दुकानों द्वारा माल को जनता के हाथों बेचने वाले,

३—फुटकर अथवा थोक व्यापारी।

सुल्तान ने प्रथम दो प्रकार के व्यापारियों की सूची तैयार कराई। उन्हें राज्य की ओर से अनुमति पत्र दिए तथा उनसे प्रतिज्ञा पत्र लिए जिसमें आवश्यक परिमाण में सामान लाने एवं उसे निर्धारित मूल्य पर बेंचने की प्रतिज्ञा रहती थी। उन्हें परिवार सहित नगर में रहने के आदेश दिए गए। यह चेतावनी दी कि उनके व्यक्तिगत या सा हिक कार्यों से किसी भी प्रकार की गड़बड़ी होने की स्थिति में, न केवल उन्हें, वरन् उनके परिवार को भी दण्ड दिए जाएँगे। फलतः बाजारों में सामान की कमी न हुई। दलाल निष्कासित किए गए। छिपकर दलाली करने वालों को कठोर दण्ड दिए जाते थे। बहुमूल्य वस्तुओं पर सरकारी नियंत्रण रखा गया था। उच्चकोटि का रेशम, जरी विलास सामग्री आदि जो कीमती एवं कामयाब होती थी उन्हें प्राप्त करने के लिए दीवान ए रियासत (बाजारों के अध्यक्ष) के पास आवेदन पत्र भेजने पड़ते थे। इसमें वस्तु के

खरीदने का प्रयोजन स्पष्टतः लिखना होता था। वस्तु के विक्रय से पूर्व यह जाँच कर ली जाती थी कि उक्त वस्तु के खरीदने का मूल कारण क्या है। इसी प्रकार तस्कर व्यापार रोकने के कार्य भी किए गए थे।

अकाल आदि के समय भी समुचित व्यवस्था थी। माप-तौल की जाँच के लिए कर्मचारी नियुक्त थे जो देखते थे कि किसी को भी कम वस्तु तथा खराब माल न मिले। निर्धारित मूल्यों की सूची बरीद, गहना, मुन्हैय्या को दी जाती वे उसी के आधार पर निरीक्षण करते थे।

इस व्यवस्था के स्थायित्व के लिए सुल्तान ने कठोरता वर्ती। ईमानदार एवं ऐसे कठोर व्यक्तियों की नियुक्तियाँ की जो दण्ड देने में हिचकते नहीं थे; जैसे याकूब नाजिर अत्यंत कठोर था वह बेईमानी करनेवालों एवं कम तोलने वालों के शरीर से दुगुना माँस कटवा लेता था। इसी प्रकार सुल्तान गुलाम बालकों को वस्तुएँ खरीदने के लिए भेजता एवं उनकी लाई वस्तु की तथा उनके मूल्य की जाँच करता था। कोई भी वस्तु तौल में कम होने पर संबंधित व्यापारी के शरीर से दुगुना माँस काट लिया जाता। इस कठोरता के कारण बेईमानी का नामोनिशान मिट गया।

इस नीति की सफलता के पीछे और भी कई कारण थे। समय-समय पर व्यापारियों को सहयोग दिया जाता था। यदि किसी भी व्यवसायी को विक्रय मूल्य के कारण घाटा होता तो उसे सुल्तान पूरा करता था। हर वस्तु सरकार के माध्यम से ही खरीदी जा सकती थी। इसकी व्यवस्था पूर्ण सतर्कता से की जाती थी। पूँजी के एकीकरण को समाप्त कर दिया गया था। इस प्रकार केन्द्र की तत्परता तथा कर्मचारियों की निष्ठा के कारण सुल्तान को पूर्ण सफलता मिली।

इन उपर्युक्त विवरणों को देखकर यह प्रश्न उठता है कि गणतंत्रीय आधुनिक भारत में इनकी उपयोगिता क्या है? निश्चय ही एकतंत्रीय राज्यतंत्र में इन्हें लागू किया गया था। तथापि इसमें से कुछ सिद्धान्त अब भी प्रयोग में लाए जा सकते हैं। कौटिल्य का मनुष्य शोषण रोकने का सिद्धान्त व्यवहृत करने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं जान पड़ती। तस्कर व्यापारियों को कठोर आर्थिक दण्ड देने एवं उनके सार्वजनिक अपमान की व्यवस्था भी अपनाई जा सकती है। इसी प्रकार योग्य तथा सत्य-निष्ठ कर्मचारियों की नियुक्ति करके, तथा भ्रष्टाचारियों को दण्ड देकर बाजारों एवं कर्मचारियों पर नियंत्रण रखा जा सकता है। अलाउद्दीन की व्यवस्था भी अनुपयोगी नहीं। कठोरता से करों की वसूली, अनाज को सस्ता बनाए रखने के प्रयास, विक्रय पर सरकारी नियंत्रण, सरकार द्वारा प्रयेक वस्तु का मूल्य निर्धारण, सरकार के स्वामित्व एवं सरकार के माध्यम से विक्रय की व्यवस्थाएँ ये अवश्य ही अपनाई जा सकती हैं। संक्षेपतः गणतंत्रीय देश में ऐसी कोई भी व्यवस्था ग्राह्य है जिससे जन साधारण का लाभ हो और राष्ट्र को स्थिरता मिल सके।

वर्णरत्नाकर

डा० शिवनाथ शर्मा पाण्डेय
शोध-सहायक, हिन्दी का ऐतिहासिक व्याकरण विभाग

'वर्ण-रत्नाकर' मैथिली भाषा की प्राचीनतम रचना है। इसका रचनाकाल चतुर्दश शताब्दी का पूर्वार्द्ध भाग है। प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता कवि शेखराचार्य ज्योतिरीश्वर ठक्कुर मध्यकालीन संस्कृत साहित्य के सुप्रसिद्ध रचनाकार हैं। इनकी दो संस्कृत रचनाएँ हैं—एक 'धूर्त-संग्रह' और दूसरा 'पंचसायक'। इसके अतिरिक्त एक तीसरी रचना 'रंग-शेखर' का भी पता चलता है[1]। इस पुस्तक की चर्चा यत्र-तत्र संस्कृत साहित्य में भी मिलती है। 'पंच सायक' नामक रचना में कामदेव के पाँच वाणों का वर्णन है, जो श्लोक-वद्ध है। ग्रन्थारंभ में कामदेव की प्रार्थना करने के अनन्तर ग्रन्थकार अपना परिचय तथा ग्रन्थ के प्रकृत विषय की चर्चा करता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में स्त्रियों के विभिन्न प्रकार, बंध-वर्णन तथा नायिकाओं के विभिन्न भेदों का विस्तृत निरूपण किया गया है। प्रस्तुत रचना बहुत बड़ी नहीं है। इसका प्रकाशन भी कई वार हो चुका है। निम्नलिखित श्लोक द्वारा प्रस्तुत रचना समाप्त होती है :

"यावच्चन्द्रकला किरीटहृदये शैलात्मजा तिष्ठति
यावद् वक्षसि माधवस्य सकला सानन्दमादिश्यति।
यावत् कामकला विवर्तचटुला क्षोणीतले सर्वदा
तावत् श्री कविशेखरस्य कृतिना तावत्पदे दीयताम्[2]।"

'धूर्त-संग्रह' काफी प्रसिद्ध रचना है। इसके द्वारा हम ग्रन्थकार की तिथि के विषय में निश्चित जानकारी प्राप्त करते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में मिलने वाले श्लोकों तथा गद्यखण्डों से पता चलता है कि ज्योतिरीश्वर के पिता का नाम धीरेश्वर तथा पितामह का नाम रामेश्वर था। ये वेद के विख्यात विद्वान तथा दर्शन के ख्यातनामा पण्डित थे। ये बहुत सी भाषाओं के जानकार थे। इन सबके अतिरिक्त ये अच्छे संगीतज्ञ भी थे। ये कर्णाटक के राजा हरिसिंह देव के राज्य दरबार में विद्यमान थे। महामहोपाध्याय पण्डित हरप्रसाद शास्त्री ने प्रस्तुत ग्रन्थ की जो पांडुलिपि नेपाल-राज्य की लाइब्रेरी से प्राप्त की है, उसमें उक्त राजा का नाम 'हरसिंह' मिलता है। 'हरसिंह देव' जिन्होंने चौदहवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश भाग में शासन किया था, हमारे ग्रन्थकार के आश्रयदाता थे। हरसिंह देव की लड़ाई दिल्ली के सुल्तान गयासुद्दीन तुगलक के साथ १३२०-२४ में हुई थी, जो मिथिला की ओर से होता हुआ बंगाल पहुँचा था। जियाउद्दीन बरनी ने जो 'तारीखे

---

[1] Journal of the Asiatic Society of Bengal 1915. Artical written by Shri Man Mohan Chakravarti p. 414, Foot-Note quoted by Dr. S. K. Chatterjee in his Introducton of 'Varna Ratnakar'. P. XIV, Calcutta edition, 1940.

[2] Quoted by Dr. S. K, Chatterjee in his same Introduction.

फीरोजशाही' का रचयिता है, इस बात का संकेत किया है कि जब सुल्तान बंगाल की ओर जा रहे थे उस समय तिरहुत के राजाओं ने उनका काफी स्वागत किया था। 'फरिश्त:' के अनुसार गयासुद्दीन तुगलक और तिरहुत के राजा के बीच लड़ाई हुई थी, और राजा हार जाने के बाद जंगलों की ओर भाग गया था। सुल्तान ने जंगलों में भी राजा का पीछा किया और उन्हें तथा उनके परिवार को पकड़कर कैद कर लिया। इस प्रकार मुस्लिम तवारीखों में मिली सूचनाओं में परस्पर मेल नहीं बैठता। हिन्दू लेखक चन्द्रशेखर ठक्कुर और ज्योतिरीश्वर के अनुसार मिथिला के राजा तथा दिल्ली के सुल्तान के बीच भयंकर लड़ाई हुई थी। इससे यह तो स्पष्ट ही है कि इस लड़ाई से मिथिला के राजा को काफी क्षति पहुँची थी। अन्त में वे नेपाल की तराई की ओर भाग गए थे। मिथिला में एक प्राचीन श्लोक मिलता है,[1] जिससे उक्त घटना पर प्रकाश पड़ता है। उक्त श्लोक में १२४५ शक का उल्लेख किया गया है, जो १३२३ ई० के आस पास पहुँचता है। यही समय मोटे तौर पर मुस्लिम ऐतिहासिकों द्वारा भी समर्थित है, जिन्होंने गयासुद्दीन तुगलक द्वारा मिथिला पर की गई चढ़ाई का समय १३२४ ई० के आस पास स्वीकार किया है। मुसलमानों के पतन के बाद ही हरसिंह देव ने अपने राज्य को पुनः प्राप्त किया। ज्योतिरीश्वर के 'धूर्त संग्रह' तथा चन्द्रेश्वर के 'दान रत्नाकर' में युद्ध की चर्चा मिलती है। ये दोनों ग्रन्थ राजा के विजयोपलक्ष में ही निर्मित हुए हैं।

वह समय, जब कि ज्योतिरीश्वर विद्यमान थे, संस्कृत साहित्य के विकास की दृष्टि से अधिक समृद्ध था। मिथिला में उस समय अनेक संस्कृत ग्रंथों की रचना हुई। चन्द्रेश्वर ने अनेक स्मृति-ग्रंथों की रचना की; जिनमें "कृत्य रत्नाकर" "दान रत्नाकर" "विवाद" "व्यवहार" "शुद्धि" "गृहस्थ" तथा "पूजा रत्नाकर" का नाम उल्लेख्य है।

मुसलमान राजाओं के आक्रमण के बाद मिथिला का सामान्य जीवन शांन्ति एव आह्लादपूर्ण हो गया था, जिससे विद्वत्समाज नूतन ग्रंथ-प्रणयन में दत्तचित्त था। स्मृति ग्रंथों की रचना की दृष्टि से भी चतुर्दश शती का अपना पृथक् महत्व है। ज्योतिरीश्वर के बाद दो प्रसिद्ध कवि हुए—एक विद्यापति और दूसरे बंगाल के चण्डीदास।

वर्णरत्नाकर का प्रकृत विषय

प्रस्तुत ग्रंथ में ऐसे अनेक शब्दों की तालिका दी गई है, जिसका उपयोग कवि लोग काव्य-रचना करते समय करते हैं। प्रस्तुत रचना गद्य में है। कुल सात अध्याय उपलब्ध हैं। संभवत: आठ अध्याय थे। अध्यायों को कल्लोल संज्ञा से अभिहित किया गया है। कल्लोल का शाब्दिक अर्थ है—"लहरें" जो समुद्र में उठा करती हैं। "वर्णों"—शब्दों के

---

[1] वाणाब्धि-बाहु-शशि-सम्मित-शाकवर्षे
पौषस्य शुक्लदशमी-क्षितिसूनु-वारे।
त्यक्त्वा स्व-पटन-पुरीं हरिसिंह देवो (हरसिंहदेवो ?)
दुर्दैव-देशित-पथे गिरिमाविवेश।

Quoted by Dr. S. K. Chatterjee in has Introduction of Varna Ratnakar.

"रत्नाकर"–समुद्र–में लहरों की कल्पना उचित ही है। प्रत्येक तालिका के प्रारंभ और अंत होने का ढंग एक ही है[1]। इन क़ल्लोलों के पृथक्-पृथक् नाम हैं। प्रत्येक कल्लोल के अन्त में ग्रंथ का नाम "वर्ण-रत्नाकर" ही दिया गया है[2]। महामहोपाध्याय पं० हर-प्रसाद शास्त्री ने इसे "वर्णन-रत्नाकर" कहकर सम्बोधित किया है। तालिकाओं के अंत में मिलने वाले 'वर्णना' शब्द से प्रस्तुत नाम की संभावना की जा सकती है। "वर्ण" से 'वर्णन' का अर्थ संभवत: किया जा सकता है। किन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है। यह शब्द एक विशेष अर्थ में मध्यकालीन संस्कृत साहित्य में प्रयुक्त होता था। 'वर्ण' का अर्थ है—'गीत-क्रम'। किसी गीत अथवा कविता को क्रमपूर्वक संजोकर रखना 'वर्ण' का एक अर्थ है। प्रस्तुत रचना में ऐसे अनेक शब्दों को क्रम से सजाकर रखा गया है, जिनका प्रयोग काव्य-रचना करते समय किया जाता है। अतएव 'वर्ण' का 'गीतक्रम' वाला अर्थ लेना अधिक समीचीन होगा।

ग्रंथकार कहीं भी कोई वर्णन नहीं करता, बल्कि सम्बन्धित विषय के लिए प्रयुक्त होने वाले अनेक नामों को गिना जाता है। इनमें से बहुत से नामों को उसने संस्कृत ग्रंथों से ग्रहण किया है—यथा १८ पुराणो के नाम, ४९ वायु के नाम, १२ आदित्य के नाम, युद्ध में प्रयुक्त होने वाले ३६ प्रकार के अस्त्र, नृत्य की विभिन्न भंगिमाओं के नाम आदि। इनके अतिरिक्त ऐसे भी बहुत से नाम हैं, जो तत्कालीन लोकभाषाओं में प्रचलित थे। उदाहरण के लिए—द्यूतक्रीड़ा की विभिन्न चालों के नाम, घड़ियालों के विभिन्न प्रकार, वृक्षों और पुष्पों के नाम आदि। इनमें लेखक की व्यक्तिगत शोध-बुद्धि का पता चलता है।

ऐसी संग्रह-पुस्तकें अन्य स्थानों पर भी पाई जाती हैं। डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी का कथन[3] है कि बंगाल के आसपास के प्रदेशों में कत्थकों की ऐसी छोटी-छोटी पुस्तकें हैं, जिनकीं विषय वस्तु और शैली की तुलना "वर्ण-रत्नाकर" से की जा सकती है। इन कत्थकों ने अपनी पुस्तकों में शिव, लक्ष्मी, विष्णु तथा कृष्ण आदि देवताओं का तो वर्णन किया ही है, साथ ही नगर-वर्णन, युद्धस्थल वर्णन, प्रात:, मध्याह्न, रात्रि आदि के वर्णन भी उसमें मिलते हैं। देवताओं के वर्णनों को छोड़कर शेष वर्णन "वर्ण-रत्नाकर" में भी उसी शैली में किये गये हैं। उल्लेख्य है कि उपर्युक्त बंगाली रचनाएँ बाद की हैं, जबकि "वर्ण-रत्नाकर" की रचना चौदहवीं शती में ही हो चुकी थी। यह अवश्य है कि दोनों की प्रकृति एक ही है।

एक निश्चित नियम बनाकर वर्णनात्मक गद्यखण्ड तैयार करने की यह परंपरा प्राचीनकाल में भी मिलती है। जैन धर्मग्रंथों में ऐसे गद्य खण्ड पाए जाते हैं। अर्द्ध

---

[1] "अथ··················वर्णना"—वर्ण-रत्नाकरः।

[2] "इति कविशेखराचार्य श्री ज्योतिरीश्वर विरचित वर्णरत्नाकरे नगर वर्णनो नाम प्रथमः कल्लोलः।"—वर्ण-रत्नाकरः

[3] Dr. S. K. Chatterjee : 'Introduction' :
Varna Ratnakar P. XXIII, Calcutta Edition, 1940.

मागधी सूत्रों के ऐसे वर्णनात्मक अनुच्छेदों को 'वण्णा' (वर्णक) कहकर अभिहित किया गया है। संस्कृत टीकाओं में जहाँ ऐसे 'वर्णक' आए हैं; वहाँ उन्हें निम्नलिखित रूप में रखा गया है :

"सम्प्रत्य अस्या नगयां वर्णकम आह—यावच्छब्द कर्णाट औपपातिक ग्रंथ प्रसिद्ध परिग्रहः[१]।"—रायपसेणीय सुत्त। संस्कृत के गद्य-ग्रन्थ-यथा-बाणभट्ट की 'कादम्बरी' तथा 'हर्ष चरित्र' और धनपाल की 'तिलकमंजरी'—इन वर्णनात्मक अनुच्छेदों के उपजीव्य हैं।

'वर्णरत्नाकर' में सात कल्लोलों के नाम हैं—(१) नगर वर्णन, (२) नायिका वर्णन, (३) आस्थान वर्णन, (४) ऋतु-वर्णन, (५) प्रयानक-वर्णन, (६) भट्टादि वर्णन, (७) श्मशान-वर्णन। पूर्ण ग्रंथ अप्राप्य होने से अष्टम कल्लोल के नाम का पता नहीं है। प्रारंभ के कई पृष्ठों के अनुपलब्ध होने से प्रथम कल्लोल में हमें बहुत कम वर्णन प्राप्त होते हैं। इसमें निम्न-वर्गीय जातियों की नामावली दी गई है। प्रस्तुत कल्लोल में ऐसे भी शब्द मिलते हैं, जिनका प्रयोग तत्कालीन मैथिली लोक भाषा में होता था। बहुत से शब्दों के अर्थ का पता लगाना भी कठिन है।

द्वितीय कल्लोल नायक वर्णन से प्रारंभ होता है। नायक को अष्ट उपसिद्धियों, अष्ट प्रकृत सिद्धियों तथा अष्ट महासिद्धियों का ज्ञाता, ३६ प्रकार के युद्धीय अस्त्रों के प्रयोग में निपुण, ८४ प्रकार की राजनीतियों में पारंगत, तथा हस्ति एवं अश्वविद्या का जानकार होना चाहिये। उसमें प्रजा को अपने वश में करने के लिए दया-दाक्षिण्यादि उदात्त गुणों का होना आवश्यक है। तदन्तर नायिका वर्णन प्रारम्भ होता है। नायिकाओं की व्यक्तिगत सुन्दरता, उनके मानसिक एवं आध्यात्मिक गुणों की चर्चा तथा उनके आभूषणों आदि का नामोल्लेख भी विस्तार के साथ किया गया है। नायिकाओं की सुन्दरता के लिए अनेक सुन्दर उपमाएँ दी गई हैं[२]। नायिकाओं की अंतरंग सखियों का वर्णन करते हुए उनकी चार जातियाँ बतलाई गई हैं—श्यामा, चित्रिणी, मोहिनी और भद्रा। तदनन्तर नायिकाओं के हास्य का वर्णन करते हुए अनेक श्वेत वस्तुओं से उसकी उपमा दी गई हैं। यथा—कुमुद, कुन्द, कदम्ब, कास, मास, कैलास, कर्पूर, पीयूष आदि[३]। वह हास दक्षिणानिल से आन्दोलित क्षीर समुद्र की तरंग लहरी के सदृश है[४]। उसका प्रभाव युवकजनों पर क्या पड़ता है, इसका भी वर्णन किया गया है।

---

[१] Quoted by Dr. S. K. Chatterjee in his same Intropuction Page XXIV.

[२] "जनि कामदेव संसार जिनि आयल तकरि पताका। जनि एकर रूप देषकें इन्द्र सहस्राक्ष भेलाह। व्रह्मात्रे चतुर्मुख कएहलु। जनि एहि आलिंगए लागि एक कृष्ण चतुर्भुज भए गेलाह।"

—वर्ण-रत्नाकर पृ० १८ क०

[३] 'कुमुद कुन्द कदम्ब कास मास कैलास कर्प्पूर पीयूषक कानि (कान्ति)'

—वर्ण-रत्नाकर पृ० २१ क०

[४] क्षीर समुद्रक दक्षिणानिले चालल तरंग सन क लहरी अइसन।

—वर्ण-रत्नाकर पृ० २१ क०

तृतीय कल्लोल में सर्वप्रथम राजगृह का वर्णन है। उसमें रहने वाले अधिकारियों तथा राज दरबार में उपस्थित होने वाले व्यक्तियों की चर्चा करने के बाद राजा की दिनचर्या का क्रमशः वर्णन किया गया है। राजा किस प्रकार दरबार से उठने के बाद कसरत, तदनन्तर स्नान करता है? स्नान के लिए कहाँ-कहाँ से पवित्र जल एकत्रित किए जाते हैं? स्नान करने के बाद वह किस प्रकार पूजन एवं उसके बाद भोजन करता है, इसका विस्तृत वर्णन किया गया है। भोज्य वस्तुओं में कौन-कौन सी वस्तुएँ राजा को खाने के लिए दी जाती हैं? इसका विस्तृत वर्णन है। यहाँ पर शाकाहारी भोजन की चर्चा की गई है अन्यत्र 'धूर्त-संग्रह' नामक ग्रंथ में लेखक ने मत्स्य-मांस से संवलित भोजन का वर्णन किया गया है[१]। भोजन करने के अनन्तर राजा सोने जाता है। उस समय शयन-गृह, वहाँ के उपकरणों तथा परिजनों द्वारा की जाने वाली राजा की सेवा आदि का वर्णन विस्तार से किया गया है। राजा प्रातःकाल उठता है। तदनन्तर वर्णनों की भरमार आ जाती है। प्रभात-वर्णन, मध्याह्न-वणन, संध्या-वर्णन, रात्रि-वर्णन, अंधकार वर्णन एवं चन्द्रमा आदि के वर्णन किए गए हैं।

चतुर्थ कल्लोल का प्रारंभ 'ऋतुवर्णन' से होता है। वाद में ६४ कलाएँ, १६ महादान, १८ प्रकार के रत्न, ३२ प्रकार की उपमणियाँ, ३० प्रकार के वस्त्र, तथा १४ प्रकार के महीन वस्त्रों की तालिका दी गई है। अभिषेक का वर्णन करते हुए उसमें प्रयुक्त होने वाली वस्तुओं की विस्तृत सूची दी हुई है। अनेक प्रकार के वस्त्र-गृहों :तम्बुओं: के वर्णन, ज्योतिर्विद-वर्णन, द्यूत-वर्णन, वेश्या-वर्णन तथा कुट्टनी-वर्णन भी मिलता है। चतुर्थ कल्लोल का अंतिम वर्ण्य-विषय कामावस्था वर्णन है, जिसके अन्तर्गत १० प्रकार की दशाएँ, कामदेव के ५ बाण, ८ प्रकार की सात्त्विक दशाएँ, ४ प्रकार के कोमलालिंगन, ७ प्रकार के कष्ठिनालिंगन, १० प्रकार के चुम्बन, १० प्रकार के स्थान-चुम्बन, ५ प्रकार के नखविन्यास, ५ प्रकार के दशन-विन्यास, ३ प्रकार के केशाकर्षण तथा अनेक प्रकार के आसनों एवं बंधों का विस्तृत वर्णन किया गया है।

पंचम कल्लोल में अनेक फुटकर विषय वाणत हैं। सर्वप्रथम 'प्रयानक-वर्णन' है, जिसमें राजा का युद्धस्थल के लिए प्रस्थान वर्णित है। 'खेट वर्णन' के अन्तर्गत ८ प्रकार के हाथी, २४ प्रकार के घोड़े, १० प्रकार के शिकारी कुत्ते, धावक, सिपाही तथा घुड़सवारों आदि की नामावली दी हुई है। 'वन-वर्णन' के अन्तर्गत शिकार खेलने योग्य वन का वर्णन अत्यन्त प्रभावपूर्ण शैली में किया गया है, जहाँ कोल, किरात पुलिंद आदि जातियाँ रहती हैं[२]।

---

[१] "मांस माषपटोलतक्रवडिका वास्तूक शाकं वटः
संजीवन्यथ मत्स्यमुद्गविदलप्रायः प्रकारोत्कारः।
स्वादिष्टं च पयोघृतं दधिनवं रम्भाफलं शर्करा
संक्षेपादिति साध्यता सुवदने भिक्षा मदीया द्रुतम्।"
धूर्त्तसंग्रह ऐक्ट १

[२] कोच किरात कोल्ह भिल्लू बस पुलिंद……ये म्लेच्छ जाति ताक निवास स्थान।
भीषणता रमणीयता दुइ दशावनक–देषु। वर्ण-रत्नाकर—पृ० ५० ख

वन को भीषणता एवं रमणीयता का आश्रयस्थल बतलाया गया है[1]। 'उपवन-वर्णन' के अन्तर्गत अनेक प्रकार के वृक्षों, पौधों, फल एवं फूलों का वर्णन किया गया है। तदनन्तर सरोवर, पर्वत तथा ऋष्याश्रम का अत्यन्त स्वाभाविक वर्णन मिलता है।

षष्ठ कल्लोल में सर्वप्रथम 'भाट-वर्णन' है। भाट को संस्कृत, प्राकृत एवं काव्य-शास्त्र का अच्छा ज्ञाता होना चाहिए। मल्लयुद्ध वर्णन के प्रसंग में अनेक ऐसे लोक भाषा के शब्दों का प्रयोग किया गया है, जो पहलवानों की विभिन्न दावों के लिए उस समय प्रचलित थे। आगे चलकर विद्यावन्त अथवा कलावन्त का वर्णन है। इसी प्रकार में रागों के नाम, गान की श्रुतियाँ, ७ प्रकार के गायन दोष तथा १४ प्रकार के गीतदोषों की नामावली उपस्थित की गई है। 'नृत्य-वर्णन' के अंतर्गत पात्रनृत्य और प्रेरणानृत्य का वर्णन मिलता है। नृत्य के प्रसंग में १२ प्रकार के मुरजवाद्य, ताल, रस, व्यभिचारिभाव तथा सात्विक भावों आदि की चर्चा की गई है, अंत में २७ प्रकार की वीणाओं के नाम गिनाए गए हैं।

सप्तम कल्लोक श्मशान-वर्णन से प्रारम्भ होता है। इसके अंतर्गत ८ प्रकार के भैरव, ८ प्रकार की शक्तियाँ, ६४ योगिनियों के नाम, तथा १२ प्रकार के वेतालों का परिचय नामोल्लेख पूर्वक दिया गया है। वेतालों की आँखों का वर्णन करते हुए बताया गया है कि उनकी आँखें जलते हुए दीपक के समान थीं। उनके केश ऐसे थे, मानों पर्वत पर आग लग गई हो[2]। कापालिकों तथा राक्षसियों की भीषणता का वर्णन करने में लेखक को सफलता मिली है। श्मशान-वर्णन में भयानक रस का सुंदर परिपाक हुआ है[3]। आगे मरुस्थल वर्णन, समुद्र-वर्णन, तीर्थ-वर्णन, नदियों के नाम, ऋषि-वर्णन तथा पर्वत-वर्णन आदि मिलते हैं। ८४ सिद्धों की जो नामावली 'वर्णरत्नाकर' में मिलती है वह अपूर्ण है। इनमें उन योगियों के नाम हैं, जो पूर्वी भारत में फैली हुई बौद्धों की महायान शाखा के अंतर्गत थे। तदनन्तर दशावतारों के नाम, शिव की ८ मूर्तियाँ, ११ रुद्र, १० विश्वेदेव, १५ मनु, १२ प्रकार के साध्य, ४९ वायु, १२ आदित्य, ८ दिग्गज, १८ पुराग, ८ दिक्पाल तथा उपपुराणों आदि की नामावली दी गई है। राजपुत्र-कुल वर्णन के अंतर्गत ऐसे क्षत्रियवंश की नामावली मिलती है, जिनमें बहुत से आज भी पाए जाते हैं - यथा-यादव, पमार, वैसवार, चौहान, चंदेल आदि। कुछ नगरों के नाम भी दिए गए हैं। आगे चलकर

--वर्णरत्नाकर पृ० ६५ ख

[1] "शवलकुलघुताग्निष्टवन्दी वितानं मृगमहिषवराह-व्यूह संचार घोरमा सुचलित तरुशाषारूढ़वाचालकीलं मदयतिवनमेतन्मासं मानवानाम्।

वर्णरत्ना०—पृ० ५२ क०

[2] 'कंसारिक भाल पजरल अइसन मुह, ओवारी दीप लेसल अइसन आँषि, पर्वत दावानल लागल अइसन केश।' वर्णारत्नाकर—६२ ख०

[3] 'वैंतालोत्तालवक्ताविटविकटरटद्घोरदंष्ट्राकरालं
प्रभ्रष्टोल्कास्फुलिंग प्रकटशषवसास्वादमाद्यत्परेतम्।
श्रस्तान्त्रव्यग्रजिह्वाकुलमुखकुहराव्यक्तगोमायुरोलं
दृष्टं रौद्रं श्मशानं जनयति न मयं कस्य चित्ते निशायाम'

देशवर्णन, वैद्यवर्णन, वहित्र वर्णन, राज्य-वर्णन, विवाह-वर्णन, द्वादश-पुत्र वर्णन, अष्ट नायिकाओं के नाम, वाणिक् पुत्र-वर्णन, चीर-वर्णन, दुर्ग-वर्णन, नौका-वर्णन, बोहित वर्णन आदि मिलते हैं। इस प्रकार प्रस्तुत ग्रंथ समाप्त होता है।

उपर्युक्त वर्णनों में हम मध्यकालीन भारतीय जीवन की झलक प्राप्त करते हैं। प्रस्तुत पुस्तक द्वारा हमें उस समय की सामाजिक तथा सांस्कृतिक स्थिति का ज्ञान होता है। 'वर्णरत्नाकर' की रचना शुद्ध हिन्दू वातावरण में हुई थी। प्रस्तुत पुस्तक का महत्त्व इस दृष्टि से भी है कि लेखक ने भाषा कवियों के मार्ग निर्देशन के लिए एक ऐसा संग्रह ग्रन्थ तैयार कर दिया, जिससे वे काव्य-प्रणयन में इसका उपयोग कर सकें। कवि का जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अधिकार पूर्वक प्रवेश था। वे केवल सोमपान करने वाले ऋत्विक् ही नहीं थे, बल्कि जीवन के प्रति उनका सरस दृष्टिकोण था। 'पंचसायक' द्वारा इस बात की पुष्टि होती है। नगरों का वर्णन करते हुए लेखक हमारे सम्मुख मध्यकालीन भारतीय नगरों का चित्र उपस्थित करता है। नायक-नायिकाओं का स्वरूप निरूपण करते हुए वह बतलाता है कि उनके व्यक्तिगत जीवन में कौन-कौन सी आनन्ददायिनी वस्तुएँ हैं। राजाओं की दिनचर्या बतलाते हुए कवि हमारे सम्मुख उस समय के राजाओं के दैनिक कार्यकलाप का सच्चा चित्र खींचता है। इन वर्णनों द्वारा हम कवि की सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति का परिचय प्राप्त करते हैं। लेखक की स्वभावमधुरा मैथिलीभाषा अपना एक पृथक महत्व रखती है। प्रातः, मध्याह्न, सायं एवं रात्रि वर्णनों के छोटे-छोटे हृदयग्राही चित्र हमें लेखक की कवित्व प्रतिभा का ज्ञान कराते हैं। इन सबके अतिरिक्त प्रत्येक वर्णनों में कवि की बौद्धिक सद्भावना दृष्टिगत होती है। इनकी उपमाएँ स्वाभाविक हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में हम ऐसी उक्तियों को देखते हैं, जिनमें मध्यकालीन भारतीय साहित्य में आकर थोड़ा अन्तर पड़ गया था। द्यूतक्रीड़ा आदि का स्वाभाविक वर्णन लेखक की तद्विषयक जानकारी को सूचित करता है। इससे यह भी पता चलता है कि लेखक को उन विशेष खेलों में प्रचलित अनेक पारिभाषिक शब्दों का ज्ञान था। लेखक १४ वीं शताब्दी के हिन्दू राज्य दरबार का सुन्दर चित्र खींचता है। नगरों का तो प्रभावशाली वर्णन कवि ने किया ही है, किन्तु ग्रंन्थ की पूरी पाण्डुलिपि न मिलने के कारण यह नहीं पता चलता कि कवि उसी प्रकार ग्रामीण जीवन का वर्णन करने में भी समर्थ था। 'धूर्तसंग्रह' में कवि एक स्थल पर समृद्ध किसान के घर का चित्र उपस्थित करता है[1], जिसे देखकर कवि के तद्विषयक सामर्थ्य का भी ज्ञान हो जाता है। जिन धर्मों का संकेत कवि ने किया है वे उस समय हिन्दू-समाज में प्रचलित थे। प्रसंगवश कवि ने बौद्धों की भी चर्चा की है। इसका कारण यह है कि १४ वीं शती तक पूर्वी भारत में बौद्ध-धर्म पूर्णरूप से समाप्त नहीं हुआ था, और न तो उसकी आचार-व्यवस्था ही हिन्दू धर्म-प्रथाओं द्वारा अपने में समाहित कर ली गई थी। योगियों का सम्प्रदाय प्रबल था, जो शैव मत की

---

[1] 'भअवं' पेक्ख पेक्ख विहिदसमअवज्जण मुण्ड सरिच्छ वहुअर महिसी खम्भ सोहन्त चउस्सालं, इदां तदां संचरंत-वालगोवच्छ सोहिदं पीणत्तुंगत्थणालसपरिक्खलन्तमन्दसंउार रमणिज्जावास परिसर संचरंत चेडिआसमूह कस्सवि महाधणस्स वाणअउणं विलोईआदि।'—

धूर्त्तसंग्रह—प्रथमअंक।

योग-साधनाओं से मिलता जुलता था। उसमे बौद्ध तांत्रिकों की कुछ परम्परा भी वर्तमान थी। द्युतस्थान का जो वर्णन कवि ने किया है, वह 'मृच्छकटिक' में वर्णित द्यूतस्थल वर्णन से मिलता जुलता है। ज्योतिरीश्वर ने द्यूतस्थान के लिए 'टेंटसार'–'टेंटशाला' शब्द का प्रयोग किया है। कहीं-कहीं 'टेंटकराल' शब्द का भी प्रयोग देखा गया है। राजशेखर ने अपने 'कर्पूर मंजरी' नाटक में इस शब्द का प्रयोग स्त्रीलिंग में–टेंटाकराला-रूप में किया है। बहुत सी वस्तुओं के नाम 'वर्णरत्नाकर' में उसी रूप में मिलते हैं, जिस रूप में वे संस्कृत साहित्य में पाए जाते हैं। इन सब कारणों से प्रस्तुत पुस्तक का अत्यधिक महत्व है। प्रस्तुत ग्रन्थ द्वारा मध्यकालीन उत्तरी भारत की सांस्कृतिक-स्थिति जानने में सहायता मिलती है। 'वर्णरत्नाकर' की रचना प्रान्तीय भाषा में हुई है, जिसमें अनेक संस्कृत शब्दों के तद्भव और प्राकृत रूप विद्यमान हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ का भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से महत्त्व होने के साथ ही एक और भी महत्त्व है–हिन्दू-सस्कृति के अनुसंधित्सुओं के लिए भी उसका उपयोगी होना। पूर्वी भारत में प्राचीन भारतीय आर्य भाषा काल की ऐसी कोई कृति नहीं मिलती, जो उस काल की भाषागत विशेषताओं पर प्रकाश डाल सके। इस दृष्टि से प्राचीन मैथिलीरचना 'वर्णरत्नाकर' का सर्वाधिक महत्त्व है।

नौकरशाही और भारत

सुरेन्द्र प्रसाद नारायण सिंह 'सुरेश'
शोध स्नातक, राजनीति शास्त्र विभाग

जब से राज्य ने संगठन की ओर अपने पग बढ़ाने प्रारम्भ किए तभी से न्याय, प्रशासन, एवं सुरक्षा-व्यवस्थाओं को अधिकाधिक कार्यकुशल, त्रुटिहीन एवं व्यवस्थित बनाने की समस्या भी मानव-मस्तिष्क में चक्कर काटती देखी जा सकती है। भारत में स्मृतियों की परम्परा, कौटिल्य के "अर्थशास्त्र" की रचना एवं यूनान में अफलातून व सुकरात जैसे विचारकों का चिन्तन इसी अपेक्षा का प्रतिनिधित्व करता है। परन्तु मध्ययुग से पूर्व के ऐसे समस्त प्रयासों का सम्बन्ध मुख्यतया शीर्षस्थ व्यवस्था पद्धति के नियमन से था। इसका कारण यह था कि मानव-जीवन के सामान्य एवं आधारभूत स्तरों में राज्य-सत्ता का गहराई तक प्रवेश अभी संभव नहीं हो सका था। मनुष्य की नैसर्गिक अवस्था की कतिपय स्वायत्तताएँ अभी भी शेष थीं। वैज्ञानिक संचार साधनों का अभाव इस स्वायतता को बनाए रखने में काफी सीमा तक सहायक था।

इस काल के पश्चात् सामंतवादी व्यवस्था का विकास होने लगा। बड़े-बड़े साम्राज्यों की स्थापना के प्रयास किए जाने लगे। प्रत्येक शक्तिशाली शासक विश्व-विजय के प्रति आकर्षण अनुभव करने लगा। परन्तु ऐसे साम्राज्य केवल शस्त्र-बल पर आधारित शासन व्यवस्था द्वारा ही स्थायित्व प्राप्त कर सकते थे। ऐसे साम्राज्यों की शासन व्यवस्था को क्रियान्वित करने का सहजतम मार्ग यही था कि सर्वोच्च विजेता के प्रति निष्ठावान सैनिक अधिकारियों की एक ऐसी श्रृंखला का निर्माण किया जाता, जो स्थायी सैनिकों के समर्थन से अपन कार्यों का संचालन-सम्पादन करते। इस प्रकार नवीन व्यवस्था के अन्तर्गत 'कायोत्तरदायित्व' तथा 'श्रम-विभाजन' के सिद्धान्तों का व्यवहार पूर्वकाल की अपेक्षा कहीं अधिक स्पष्टता के साथ होने लगा। वस्तुतः ये ही तत्त्व कालान्तर में राष्ट्रीय राज्यों के विकास क्रम में आधुनिक नौकरशाही व्यवस्था के विकास के मूलतत्त्व बने।

इस रूप में सामंतवादी सभ्यता एवं तत्सम्बन्धी सामाजिक व्यवस्था की स्वाभाविक उपज के रूप में नौकरशाही (राज्यशक्ति में एक विशेष संगठन के रूप में) भले ही आधुनिक सभ्यता की मौलिक उपपत्ति न समझी जाय,[१] किन्तु आज इस शब्द से हमारा जो भी अभिप्राय रहता है, उसका अपने पूर्ववर्ती अर्थ, सिद्धान्तों, कार्य प्रणालियों, एवं संगठन से कोई सादृश्य नहीं। अतीत और वर्तमान के इन अर्थों में पारस्परिक भेद उतना ही स्पष्ट है जितना कि पूर्वकालिक राज्य एवं उसकी सरकार का आधुनिक राज्य एवं सरकार के ढाँचे से। आधुनिक नौकरशाही व्यवस्था का सूत्रपात सर्वप्रथम पश्चिम के आधुनिकतम राष्ट्रों में हुआ है।[२] वर्तमान प्रणाली वस्तुतः प्राविधिक-समाज (Technocratic-Society) के प्रकाशन की एक अपनी प्राविधिक (Technological) व्यवस्था है।

स्वतन्त्र व्यापार नीति के विरुद्ध सबके लिए समान रूप से श्रेष्ठ आर्थिक-सामाजिक जीवन स्तर की प्राप्ति की महत्वाकांक्षा ने, आधुनिक सभ्यता के अत्यन्त प्रारम्भ में ही व्यक्ति-

वादी मान्यताओं पर प्रहार किए। फलतः जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में राज्य हस्तक्षेप की आवश्यकता तथा औचित्य को उदारता के साथ स्वीकार किया जाने लगा। मनुष्य समाज से सभी प्रकार की आर्थिक सामाजिक असमानताओं के विनाश के लिए समाजवादी सिद्धान्तों का प्रवर्तन हुआ और लोक-कल्याणकारी राज्य ने औद्योगिक सभ्यता के अन्तर्गत अस्तित्व ग्रहण किया। यह राज्य व्यवहारतः सही अर्थों में 'जनता का, जनता के लिए, जनता द्वारा संचालित सरकार' के माध्यम से ही सम्भव था। एक ऐसा ही राज्य इन नवीन मूल्यों की प्राप्ति में व्यवहारतः सफल हो सकता था—जिसका आधार जनता के आत्म-निर्णय सम्बन्धी सिद्धान्त को सफल बनाया जाता।

इन नवीन वैचारिक उपलब्धियों ने 'धर्माश्रित-राज्यों के ढाँचे को भी एक नूतन रूप-रेखा प्रदान की। उन्होंने जनहित के बहुमुखी क्रियाकलापों का एक अतिरिक्त भार राज्य पर डाल दिया और राज्य-कार्यों तथा उसके कार्यकारी संगठन एवं राज्यनीति को उलझनपूर्ण बना दिया। औद्योगीकरण की प्रक्रिया अलग से ही 'सामयिक समीचीनता' एवं 'प्रासंगिकता' की आवश्यकता उत्पन्न कर रही थी। अतः पश्चिम के उन्नतिशील राष्ट्रों में सम्पूर्ण सम्बद्ध वातावरण की ही प्रजातांत्रिक सिद्धान्तों के अन्तर्गत पुर्नविवेचना की गयी। प्रशिया, फ्रांस, एवं इंगलैंड जैसे राष्ट्रों में इस प्रजातांत्रिक शासन-संयन्त्र का विकास किया गया।[३]

इन सभी परिवर्तनों का परिणाम इन देशों में लोकप्रिय परन्तु द्वैधात्मक नौकरशाही के रूप में सामने आया। इसका कारण १७ वीं १८ वीं एवं १९ वीं शताब्दी के राज्य-कर्मचारियों की काफी बड़ी संख्या का निर्वाचित रूप था[४] (क्योंकि इनका हित-स्वार्थ नियुक्त कर्मचारियों के हितस्वार्थों से एक सर्वथा पृथक रूप रखता था।)

आधुनिक नौकरशाही को इस 'अत्यधिक उपयुक्त वाह्य उपकरण का पूरक' (Most favorable combination of external operatus) और 'आधुनिक राज्य के क्रियाकलाप सम्बन्धी आवश्यकताओं का सर्वाधिक समीचीन विकल्प' के रूप में सहज ही स्वीकार किया जा सकता है।[५] नौकरशाही जिस रूप में कि वह आज कार्य करती दिखायी देती है, आधुनिक सामाजिक ढर्रे की समस्त विशेषताओं को 'राज्य शक्ति के सर्वोच्च विकसित अवयव' एवं साधन के रूप में प्रतिनिधित्व करने में समर्थ है।

आधुनिक नौकरशाही का विकासक्रम 'संविधान वाद' के युग से होकर गुजरा है जिसमें हमारे द्वारा अत्यन्त उदारतापूर्वक 'सम्प्रभुता' एवं 'शक्ति पृथक्करण' जैसे सिद्धान्तों का प्रयोग किया गया था।[६] फलतः आधुनिक नौकरशाही पर न केवल इन सिद्धान्तों का प्रभाव ही स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है वरन् आर्थिक नियोजन पद्धति को भी (जिसका हम हाल से ही प्रयोग करने लगे हैं) नौकरशाही व्यवस्था में एक नवीन अध्याय का सूत्रपात करते हुए देखा जा सकता है।

मूलतः आधुनिक नौकरशाही को अपने प्रत्येक क्षेत्र में, न केवल 'स्वतन्त्रता, समानता एवं भ्रातृत्व' जैसे प्रजातंत्रात्मक सिद्धान्तों का ही प्रतिनिधित्व एवं उन्हें अभिव्यक्त करते नहीं देखा जा सकता है बल्कि उसे समान रूप से, राज्य नीति में इनके 'तत्काल व्यवहृत किए जाने' की अनिवार्य अपेक्षा पर भी बल देते अनुभव किया जा सकता है। नौकरशाही हमें

वस्तुतः एक ऐसी जटिल एवं उलझनपूर्ण राज्य संयन्त्र का भान कराती है जो अपने विभिन्न स्तरीय अवयवों के द्वारा एक केन्द्रीय नियन्त्रण के अन्तर्गत कार्य करती है। 'सुदक्षों को नौकरशाही से सम्बद्ध स्थितियों में व्यापक भूमिका अभिनीत करनी होती है।' इस कारण प्रायः इसे विशेषज्ञों की एक ऐसी निरंकुश शासन प्रणाली के रूप में ग्रहण किया जाता है जिसका सम्वन्ध अनेक उपप्रणालियों से होता है।[७]

नौकरशाही भिन्न-भिन्न कार्यों एवं उत्तरदायित्वों के निर्वहन हेतु अनेक संस्थानों के माध्यम से क्रियाशील रहती है। एक ओर तो वह आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक सूचनाओं का (ऊपर से लेकर निचले स्तर तक) संग्रह करती है, दूसरी ओर वह इनकी विवेचना करते हुए कार्य सम्बन्धी नीतियों, मार्गों, माध्यमों एवं मूल्यों का भी निर्धारण करती है। इसके अतिरिक्त अपने से सम्बद्ध गुण-दोषों की व्यापक विवेचना एवं पर्यवेक्षण करते हुए प्राप्त निष्कर्षों का अनुगमन करना भी उसकी विशेषता होती है। संक्षेप में, नौकरशाही बहुलांश में अपनी नीतियों का नियन्त्रण, उनका निश्चय और समाज सेवा के विभिन्न कर्तव्यों का सम्पादन सभी कुछ स्वयं करती है।[८]

इस पृष्ठभूमि में विवेचना करने पर नौकरशाही के सदस्य वे कहे जा सकते हैं जो पेशेवर रूप में अपनी सेवाओं के वदले कुछ प्राप्त करते हुए राज्य शक्ति के इस संयन्त्र से अपनी विशेषज्ञता, विशेष मेधा, विशिष्ट कार्यकुशलता, आवश्यक शिक्षण-प्रशिक्षण आदि के नाते (जैसा राज्य निर्धारित करे) सम्वद्ध हो। उनके विषय में यह आशा की जाती हो कि वे अपने निश्चित अधिकारों एवं उपकरणों के सहारे (जिसे राज्य ने उनके निश्चित कर्तव्यों के पालक हेतु सुलभ कर रखा हो) निश्चित नियमों के अन्तर्गत ही अपने समस्त क्रिया-कलापों का संचालन करेंगे। उनकी ऐसी 'विशिष्टता' ही सामाजिक जीवन क्षेत्र में उन्हें सामान्य व्यक्ति की अपेक्षा "समाज सेवा से संलग्न अधिक शक्तिवान एवं एकाग्र व्यक्ति" की स्थिति-प्रदान करती है।

सामान्यतः ये "बुद्धिमान-अपरिपक्व", लोकसेवक 'प्रशासन के वास्तविक वैज्ञानिक' के रूप में देखे जाते हैं। परन्तु जवकि प्रजातांत्रिक सिद्धान्तों की आस्था-परिधि के अन्तर्गत इन्हें 'समाज सेवा के अवैकल्पिक एवं स्वाभाविक शासन कर्ताओं' के रूप में ग्रहण किया जाता है, मानसंवाद के अन्तर्गत उन्हें 'सर्वहारा हितों के विभ्रान्त अग्रदूत' के रूप में ग्रहण किए जाने की प्रवृत्ति दिखायी गयी है (क्योंकि वे सर्वहारा-क्रांति का नेतृत्व करने के स्थान पर वे पूंजीवादी स्वार्थों को पूरा करने का कार्य सम्पादित करते हैं)[९]।

वास्तविकता तो यह है कि विभिन्न भूखंडों की राजनैतिक व्यवस्थाओं एवं उनकी शासन-व्यवस्था के संचालन सिद्धान्तों के आपसी भेदों के कारण नौकरशाही भी अपने स्वरूप, प्रकृति, तथा लक्ष्य में विभिन्न देशों में अलग-अलग ढंग की दिखाई देती है। यह लोक सेवकों की भिन्न भिन्न कोटियों में भी दिखायी देता है। संक्षेप में हम लोक-सेवकों का विभाजन निम्न कोटियों में कर सकते हैं:—

(१) नियुक्त (Appointed) (२) निर्वाचित (Elected)
(३) स्थायी (Permanent) (४) अस्थायी (Temporary)

(५) प्राविधिक विशेषज्ञ (Technocratic expert)

(६) सामान्यवर्गीय (Generalist) (७) निष्पक्ष (Neutral)

(८) दल विशेष से सम्वद्ध (Party personnel)

परन्तु इसी विभाजन के आधार पर हम किसी दिशेष व्यवस्था वाले देश में इनकी एक विशेष कोटि के अस्तित्व का प्रमाण नहीं दे सकते। क्योंकि व्यवहार में ये सभी सिद्धान्त (जिनके आधार पर ऐसा वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है) परस्पर इतने अधिक सम्मिश्रित हो गए हैं कि ऐसा निर्धारण सम्भव नहीं।

विश्व में वस्तुतः आज दो बहुप्रचलित परन्तु परस्पर विरोधी विचार धाराएँ, प्रजातंत्र एवं साम्यवाद, विशेष रूप से ग्राह्य हैं[१०]। फलतः अध्ययन की सुविधा के लिए नौकरशाही को भी इनसे सम्वद्ध दो पृथक रूपों में विभाजित करके देखना ही विशेष रूप से उचित होगा। इस रूप में, साम्यवादी देशों की नौकरशाही (तथाकथित 'जनवादी' प्रजातन्त्रों की) एवं प्रजातंत्रीय व्यवस्था की नौकरशाही (तथाकथित 'स्वतंत्र जगत' की) दो विशिष्ट कोटियाँ हमारे सामने आती हैं।

परन्तु इस पृथक्ककरण का यह अर्थ लेना कि इन दोनों प्रकार के नौकरशाही संगठनों में परस्पर समानता मूलक विशेषताएँ हैं ही नहीं, सम्भवतः हमारी भूल होगी। नौकरशाही से सम्बद्ध समग्र तथ्यों की विवेचना करने पर, हम इस सन्दर्भ में निम्नलिखित सामान्य विशेषताओं का संक्षिप्त रूप में उल्लेख कर सकते हैं :—

(१) विभागीयता तथा शक्ति एवं उत्तरदायित्वों का विभाजन, (२) निरीक्षण की प्रक्रिया (उच्चतर का निम्नतर पर) (३) श्रेणीबद्धता, (४) व्यक्ति स्वातंत्र्य का अपहरण (५) समाज का शासक एवं शासितों के दो वर्गों में विभाजन, (६) सुधारों द्वारा अनवरत विकासशील एवं व्यापक होने वाला संगठन (७) आलोचना की पात्री (आन्तरिक अथवा वाह्य अथवा दोनों), (८) प्रशिक्षण का महत्व (९) प्रशासन को विवेकपूर्ण वनाने का सतत व्याप्त आग्रह (१०) विभिन्न इकाइयों के मध्य पारस्परिक निर्भरता (११) इसका किसी भी प्रकार का विस्तार या विकास राष्ट्रीय विकास के गुण एवं मात्रा का प्रतिनिधित्व करता है।

नौकरशाही की उसमें व्याप्त भ्रष्टाचार (जो या तो 'अत्यधिक अधिकार या अत्यधिक कर्तव्यमात्र' का स्वाभाविक परिणाम होता है) के कारण प्रायः ही आलोचना की जाती है[११]। लाल-फीताशाही, निरंकुशता, स्वेच्छाचारिता, यांत्रिकता आदि दुर्गुणों के अस्तित्व का भी प्रायः आलोचकों द्वारा संकेत मिला है। शासन सम्बन्धी इन दुर्गुणों के अतिरिक्त अन्य व्याप्त बुराइयों के लिए भी नौकरशाही की आलोचना की जाती है। परन्तु, राज्य-प्रबन्ध के क्षेत्र में हमारे सामने नौकरशाही के अतिरिक्त ऐसा कोई अन्य विकल्प अबतक विकसित नहीं हो सका है जो 'जनता के आत्म निर्णय' एवं 'प्राविधिक कुशलता' दोनों ही का समान रूप से प्रतिनिधित्व करता हो। फलतः समस्त दुर्बलताओं के बावजूद नौकरशाही की स्वीकृति ही हमारे सामने एक मात्र विकल्प है।

जैसा कि हमने देखा, प्रजातांत्रिक विचारधारा का पक्ष नौकरशाही को सामाजिक राजनैतिक विकास की सहज स्वाभाविक उपलब्धि मानने का दृष्टिकोण रखता है। फलत: वह इसके विनाश की बात न सोचकर इसे अधिकाधिक सक्षम एवं कार्यकुशल बनाने, परिष्कृत तथा विकसित करने की भावना को प्रधानता देता है। परन्तु इसके विपरीत साम्यवादी पक्ष नौकरशाही को 'सर्वहारा-राज्य का एक स्वाभाविक लक्षण' मानने को प्रस्तुत नहीं। यद्यपि साम्यवाद संक्रमणकालीन राज्य व्यवस्था के अन्तर्गत इस सम्भावना को स्वीकार करता है कि "नौकरशाही जीवित ही नहीं रहेगी बल्कि उसके कार्यक्षेत्र एवं उत्तरदायित्वों की वृद्धि भी हो सकती है" फिर भी वह अन्तत: 'राज्य तिरोहित हो जाएगा' की कल्पना के साथ नौकरशाही के अन्त को भी अवश्यम्भावी मान लेता है[१२]।

उदार-प्रजातांत्रिक ब्रिटिश ढर्रे की नौकरशाही व्यवस्था को मुख्यत: ऐसे 'सामान्य-विशेषज्ञों, से संगठित पाते हैं जिनको 'प्राविधिक-श्रेष्ठता' से युक्त माना जाता है। खुली एवं स्वतंत्र-प्रतिस्पर्धा, श्रेष्ठता क्रम की उच्चता, अनिवार्य योग्यता, राजनैतिक विश्वासों की निष्पक्षता आदि गुणों को अभिव्यक्त करने वाली इस प्रकार की नौकरशाही के विपरीत साम्यवादी ढर्रे की नौकरशाही को उसके अधिकतम क्षेत्रों में प्राय: ऐसे व्यक्तियों से संगठित देखा जा सकता है जो 'दल के कार्यक्रम' एवं 'राष्ट्रीय नेतृत्व' के प्रति पूरे तौर पर आस्थावान होते हैं[१३]। यही कारण है कि साम्यवादी देशों की नौकरशाही के सदस्यों को प्राय: साम्यवादी दल के बहुमूल्य उपकरण या 'दृढ़ अनुयायियों के नाम से सम्बोधित किया जाता है[१४] साम्यवादी देशों में नौकरशाही के महत्वपूर्ण पदों को प्राप्त करने की प्रमुख योग्यता व्यक्ति विशेष द्वारा दल के लिए की गयी 'निष्ठापूर्णमूकसेवा' होती है। पदों की प्राप्ति इस प्रकार वहाँ एक प्रकार से 'दलीय पुरस्कार' का रूप ग्रहण कर लेती है।

प्रजातांत्रिक ढंग की ऐसी नौकरशाही व्यवस्था के विपरीत जो धर्म का समादर करते हुए सरकार द्वारा निर्धारित नीतियों को उसी के द्वारा निर्दिष्ट मार्गों के जरिए पूरा करती है, सर्वहारावाद से संबद्ध नौकरशाही केवल 'दल निर्दिष्ट नीतियों की सुई, को यनकेन प्रकारेण 'समाज की एक रक्त शिरा में प्रवृष्ट करा देने, का कार्य करती है वरन् वह धार्मिक विश्वासों के निर्मूलनार्थ भी स्वत: क्रियाशील रहती हैं। प्रजातांत्रिक ढंग की नौकरशाही शासक दल या शासक वर्ग के प्रति जन सामान्य में निष्ठा एवं विश्वास पैदा करने जैसे किसी अतिरिक्त उत्तरदायित्व का भार नहीं वहन करती। परन्तु साम्यवादी ढंग की नौकरशाही के साथ ऐसे उत्तरदायित्वों' का अनिवार्यत: सहज सम्बन्ध है[१४]।

प्रजातंत्रवादी व्यवस्था के अन्तर्गत नौकरशाही का प्रत्येक सदस्य अपने विभाग एवं अपने से श्रेष्ठ अधिकारी के प्रति 'प्रारम्भिक रूप से' उत्तरदायी माना जाता है। परन्तु साम्यवादी ढंग की नौकरशाही व्यवस्था से इसका कोई सादृश्य नहीं। दल ही साम्यवादी देशों में नौकरशाही के सदस्यों पर भी वास्तविक नियंत्रक-शक्ति का उपभोग करता है क्योंकि—साम्यवादियों के लिए दल के कार्यों से अधिक महत्व एवं रुचि का कोई अन्य विषय हो ही नहीं सकता[१५]। फलत: 'दल' साम्यवादी देशों में एक ऐसी नौकरशाही का निर्माण करता है जो वस्तुत: "मान्यवरों" का संगठन बन जाता है, इंगलैंड के समान 'सामान्य विशेषज्ञ व्यक्तियों का संगठन' नहीं[१७]।

प्रजातांत्रिक ढाँचे में सरकार नौकरशाही के 'छुटभैयों' की नियुक्ति, उन्नति, स्थानान्तरण आदि विषयों में न्यूनतम हस्तक्षेप करती है। ये विषय वहाँ 'विभागीय-विषय' समझे जाते हैं। परन्तु सर्वहारा तंत्र में विभाग और अधिकारी नहीं बल्कि 'दल के विभिन्न संगठनों' को ही इन विषयों पर वास्तविक शक्ति प्राप्त रहती है। वर्ग-विशेष का हित साधन सर्वहारातंत्रीय नौकरशाही का 'आदर्श' होता है, 'सामाजिक व्यक्ति' एवं 'सम्पूर्ण-समाज' के विभिन्न वर्गों का हित साधन नहीं (जैसा कि प्रजातंत्रात्मक ढंग की नौकरशाही के विषय में कहा जाता है) प्रजातांत्रिक ढाँचे में नौकरशाही का प्रत्येक सदस्य विभिन्न मानवीय-संस्थाओं एवं अपने आर्थिक हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यवसाय सम्बन्धी संगठनों से अपने को सम्बद्ध कर लेने में स्वतंत्र माना जाता है। उसे अपने लिए अधिक-सुविधाओं की माँग रखने और हड़ताल तक कर सकने में समर्थं माना जाता है। उसे सरकार एवं उच्चाधिकारियों तक अपने आर्थिक हितों की मांगों को उपस्थित करने, उसका प्रतिनिधित्व करने, आदि की छूट रहती है। वह इन्हें प्राप्त करने के लिए न्यायालय के समक्ष उपस्थित हो सकता है। परन्तु इन समस्त तथ्यों का जनवादी प्रजातंत्रों में इसीप्रकार का समानता-मूल अस्तित्व नहीं।

प्रशिक्षण के क्षेत्र में भी इन दोनों प्रकार की नौकरशाही व्यवस्थाओं में परस्पर मौलिक-भेदों के दर्शन होते हैं। प्रजातंत्र में नौकरशाही के सदस्यों के प्रशिक्षण का मूलोद्देश्य 'कर्तव्यों के श्रेष्ठ पालन सम्बन्धी आवश्यक एवं प्रमुख उद्देश्यों से सदस्य को परिचित करा देना' और कार्य सम्बन्धी प्रक्रियाओं, नियमों, सामान्यज्ञान और तकनीक आदि का सम्यक ज्ञान करा देना मात्र होता है। इसके विपरीत, साम्यवादी व्यवस्थाओं के अन्तर्गत नौकरशाही के सदस्यों को अपने देश में व्यवहृत समाजवादी सिद्धान्तों—व्यवहारों की समस्त विशेषताओं एवं उद्देश्यों में ही दक्ष नहीं बनाया जाता वरन् 'मार्क्सवाद—लेलिनवाद' में पारंगत होने का 'अतिरिक्त-उत्तरदायित्व' डाल दिया जाता है। यही नहीं, उन्हें प्रायः अपने शासन तंत्र की विशिष्ट शब्दावली एवं उसके उपयुक्त 'प्रचार तरीकों' में भी दक्ष बनाने की चेष्टा की जाती है[१८]।

प्रजातंत्रीय व्यवस्था वाले देशों में नौकरशाही के सदस्यों को एक प्रकार की 'स्थायी-सुरक्षा' प्राप्त होती है, उनकी उन्नति का अवसर अधिक स्पष्ट रहता है[१९]। परन्तु 'सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की अन्तर्निहित प्रजातंत्रीय व्यवस्था' में, जब भी कभी शासक वर्ग में परिवर्तन होता है, पूरे संगठन में आपादमस्तक 'शुद्धिकरण' की प्रक्रिया अनिवार्य हो जाती है। यही कारण है कि समाज के विकासक्रम की एकनिश्चित रूपरेखा पर गहरा विश्वास रखने वाले साम्यवादियों के ऐसे 'ऐतिहासिक रूप से अनिर्दृष्ट सत्ता परिवर्तनों' के क्रम में नौकरशाही के सदस्यों की सेवाएँ भी नवीन नेतृत्व वर्ग की 'रुचि' का विषय बन जाती हैं।

प्रजातंत्रीय पद्धति की नौकरशाही के सदस्यों की सेवाएँ वस्तुतः उसके एवं राज्य के बीच एक प्रकार के 'करार' पर आश्रित होती हैं। दल विशेष द्वारा प्रदत्त अधिकार ही समस्त निर्णायक शक्तियों के स्वामी नहीं होते हैं। संविधानतः सदस्य किसी भी रूप में जब भी स्वीकृत किए गए शर्तों से विपरीत परिस्थितियों में डाला जाता है अथवा जब भी कभी उसके मौलिक

अधिकारों के क्षेत्र में छेड़ा जाता है, वह न्यायालयों की शरण लेने को स्वतंत्र रहता है। 'संविधान—संरक्षक' के समक्ष जाने के इस अधिकार के चलते प्रजातांत्रिक देशों की नौकरशाही में इसी कारण 'वैधानिकता के दृष्टिकोण की प्रधानता का भान होता है, जबकि साम्यवादी देशों में 'व्यावहारिक औचित्य सम्बन्धी भावना' का ही प्रावान्य दिखायी देता है।

साम्यवादी देशों की 'दृष्टिवान न्यायपालिका' का मुख्य "उद्देश्य श्रमिकों के वास्तविक हितों को व्यावहारिक रूप से संरक्षण प्रदान करना" होता है[२०]। फलतः प्रजातंत्रीय व्यवस्था की 'आखों पर पट्टी बाँधकर न्याय कार्य सम्पन्न करने वाली न्यायपालिका से सम्बद्ध नौकरशाही के सदस्यों की सादृश्य मूलक स्थितियाँ साम्यवादी देशों की नौकरशाही के सदस्यों को प्राप्त नहीं। क्योंकि प्रथम में संवेदनशीलता का गुण ही प्रधानतया रहता है और निष्पक्ष, समानता ही जिसके कार्यों का संचालन तत्व होता है। जब कि, शासन-यंत्र की आन्तरिक नीतियों के प्रति अपनी वास्तविक निष्ठा सिद्ध कर, विधि निर्धारित मार्ग से दूर जाकर भी एक साम्यवादी नौकरशाही का सदस्य न्यायालयों से सराहना प्राप्त कर सकता है। परंतु प्रजातंत्रीय व्यवस्था से सम्बद्ध लोक-सेवक को अपने न्यायालयों से ऐसे आचरणों के लिए सदैव भर्त्सनाएँ ही प्राप्त होगीं।

उदारवादी प्रजातंत्रों के पक्ष से संबंधित प्रत्येक देश की नौकरशाही व्यवस्था में कतिपय ऐसे तत्व देखे जा सकते हैं जो उस देश की अपनी संवैधानिक व्यवस्था, आर्थिक, राजनैतिक, भौगोलिक तथा मानसिक विशिष्टताओं की उपज होते हैं। सूक्ष्म विचार के द्वारा इन तत्वों को सहज ही पृथक् किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, ब्रिटिश ढाँचे पर ही अमेरिकी प्रशासन विकसित एवं संगठित हुआ है परन्तु आज वहाँ 'पदों की लूट' के व्यवहृत सिद्धान्त के अन्तर्गत बहुत से शीर्षस्थ सरकारी कर्मचारियों की नियुक्ति 'दलीय-निष्पक्षता' के सिद्धान्त को आधार मान कर नहीं की जाती। वहाँ का राष्ट्रपति अपने कार्यकाल की अवधि के अनुरूप अपने 'विशेषज्ञ—सहयोगियों' एवं 'विश्वासपात्रों' की नियुक्तियाँ स्वयं करता है। इसका परिणाम यह होता है कि 'अपरोक्ष अधिकारों के श्रेष्ठतम स्वामी' अमेरिका के राष्ट्रपति को अपने नीतियों को कार्यरूप में परिणत करने की अभूतपूर्व सुविधाएँ सहज ही प्राप्त हो जाती हैं। शीर्षस्थ प्रशासन एवं नीति निर्धारण की प्रक्रिया में राष्ट्रपति 'तटस्थ उदासीन विशेषज्ञों' से घिरा असहाय व्यक्ति न होकर एक ही राजनैतिक दृष्टिकोण के समर्थक 'दलीय-व्यक्तियों' के एक ऐसे 'अनौपचारिक संघटन' का 'स्वामी' हो जाता है जो न केवल एक टोली के रूप में कार्य करता है वरन् 'प्रशासन के लिए निर्धारित नीतियों' को साम्यवादी दल के 'अतीव उत्साही कार्यकर्ताओं' के समान ही लागू, संरक्षित, एवं समयानुकूल रूप से व्याख्यायित करने को भी प्रस्तुत रहता है।

इसके विपरीत, स्वीटजरलैंड जैसे देशों में सरकारी कार्य—संयन्त्र (अपने गठन एवं क्रियाकलाप के प्रत्येक क्षेत्र में बहुत से दलों के प्रतिनिधियों द्वारा संगठित सरकार के निर्देशन में कार्य करने की विवशता के कारण) राजनैतिक-समझौतों के सिद्धान्त को आधार मानकर अपनी तटस्थता एवं निष्पक्षता को बनाए रखने का प्रयास करता है। ऐसे स्कैन्डेनेवियन देशों के विपरीत जहाँ जनता के हाथों निहित प्रत्यक्ष प्रजातंत्र के अधिकार नौकरशाही को सशक्त बहुमत की रुचियों के अनुकूल चलने को अप्रत्यक्षतः बाध्य सा कर

देते हैं। जब कि फ़्रांस में लोकसेवा संगठन का बहुलांश अपने कार्योत्तरदायित्व के क्षेत्र में सामान्य न्यायिक संहिता से नियंत्रित न होकर एक पृथक् "प्रशासकीय-संहिता" एवं "प्रशासकीय न्यायालयों" से नियंत्रित होता है। इसके फलस्वरूप वहाँ 'विभागीय-उत्तरदायित्व' की भावना किसी भी अन्य देश की अपेक्षा अधिक विकसित देखी जा सकती है। इसी प्रकार जहाँ भारतीय संघ एवं राज्यों के लोकसेवा संगठनों में, अल्प वर्गों एवं पिछड़े वर्गों को विशेष संरक्षण एवं सुविधाओं का लाभ उठाते देखते हैं, वहीं दक्षिण अफ्रिका में बहुमत की रचना करनेवाले 'मूल-निवासियों'. को भी नौकरशाही की सदस्यता के क्षेत्र में अधिकाधिक सम्भव रूप से वंचित रखने का प्रयास क्रियाशील है। पृथक्कतावाद के सिद्धान्त ही वहाँ के कार्यकारी-संयत्र के संगठन एवं संचालन के 'निर्धारक-सिद्धान्तों' का कार्य करते हैं।

(भाग—२)

भारतीय नौकरशाही के कतिपय विशेष पक्ष

भारत के कमोवेश भाग पर लगभग दो शताब्दियों तक इंगलैंड का औपनिवेशिक शासन रहा। इस शासन से भारत को अपनी शासन-व्यवस्था के भावी विकास के लिए कतिपय सुविधाएँ भी प्राप्त हुई। भारत को ब्रिटिश पद्धति की 'प्रजातंत्रात्मक-राजनैतिक ढांचा' एवं उसी के अनुकूल ढंग की नौकरशाही व्यवस्था को विकसित करने का सुयोग प्राप्त है। भारत में व्यवहृत इस प्रकार की नौकरशाही व्यवस्था का यद्यपि उसके 'स्वर्णयुग' में प्रचलित व्यवस्था से (जिसकी सदस्यता का सम्बन्ध कतिपय श्रेष्ठ जातियों तथा सम्राट् के रक्त-वंश सम्बन्धियों से होता था) धर्म, फिरके, राज्यनिष्ठा, कुलीनता एवं रक्त संबंध आदि को प्रधानता देने वाली मुगलकालीन व्यवस्था से यद्यपि कोई सम्बन्ध नहीं है, कोई लगाव नहीं है, फिर भी वर्तमान व्यवस्था का तीन शताब्दियों के विकास क्रम में इस नवीन व्यवस्था की जड़ें इतनी गहरी जम गयीं हैं, कि उसकी मूलभित्ति पर किसी सर्वथा नवीन व्यवस्था के खड़े किए जाने की संभावना ही नहीं।

परन्तु हमने इंगलैंड के विपरीत अपने संविधान को 'समाजवादिता' का एक अनोखा पुट देने की कोशिश की है। शासकदल ने 'समाजवादी ढंग के समाज' की रचना को अपना लक्ष्य घोषित कर इसे व्यावहारिक रूप देने का प्रयास भी शुरू कर दिया है। इसी के साथ हमने व्यावहारिक क्षेत्र में 'नियोजित अर्थ व्यवस्था' की एक मिश्रित प्रवृत्ति की उपयोगिता भी स्वीकार कर ली है। व्यवस्था में इंगलैंड का और आदर्श तथा सिद्धान्तों में रूस का नैकट्य इस कारण भारत के नौकरशाही संगठन के क्रियाकलापों में कतिपय अत्यन्त सूक्ष्म गुत्थियों तथा एक प्रकार के 'आन्तरिक विरोधाभास' को उत्पन्न करने में समर्थ देखा जा सकता है।

इस प्रकार की गुत्थियों एवं विरोधाभासों का अनुभव हम भारतीयों के लिए अनजाना तथ्य नहीं। भारत के अनेकमूर्धन्य नेताओं, राजनीतिज्ञों, विद्वानों तथा सामाजिक कार्यकर्ताओं द्वारा इसका भलीभाँति अनुभव किया गया है। यहाँ तक कि गाँधी भी ब्रिटिश पद्धति की इस नौकरशाही की कटु आलोचना करने से नहीं चूके हैं। परन्तु किसी व्यावहारिक विकल्प के अभाव में, ग्रामीण स्वायत्तता के प्रति अपने विशेष आग्रह एवं

समन्वयवादी दृष्टिकोण के कारण उन्होंने भारतीय नौकरशाही के क्रमिक सुधार की अपेक्षा पर बल देने के अतिरिक्त कोई प्रभावकारी 'रचनात्मक नुस्खा' देने में सम्भवतः सफलता नहीं प्राप्त की।[२२] गाँधी का मुख्य वैचारिक विरोध वर्तमान नौकरशाही के श्रेणीबद्ध संगठन स्वरूप से ही था। वे "लोक-सेवकों" को सामाजिक हितों का 'अमानती' बना देना चाहते थे।[२३]

इसी प्रकार गाँधी के 'कार्योत्तराधिकारी' संत बिनोवा ने भी उन्हीं के समान नौकरशाही के दोष का अनुभव करते हुए एक ऐसी सीधी-सादी व्यवस्था के विकास की इच्छा व्यक्त की है जो 'न्यूनतम धन और अल्पतम समय' का व्यय करते हुए भी अधिकतम-प्रभावकारी जनसेवा में समर्थ हो।[२४] उनकी दृष्टि में भारत के आदर्श ग्रामराज की व्यवस्था के लिए ऐसी नौकरशाही व्यवस्था आदर्श नही हो सकती है जिसका संचालन सीधे जनमत के द्वारा सम्भव न हो और जिसका सर्वोपरि आदर्श जनता के ज्ञान को पूर्ण बनाना हो।[२५] सर्वोदयी नेता जयप्रकाश नारायण भी इसी प्रकार, कम से कम निम्नस्तरीय कार्यकारी संगठनों को 'अवैतनिक समाज सेवकों' से संगठित करने का विचार रखते हैं।[२६]

भारतीय नौकरशाही में सुधार की बात केवल इसी कारण नहीं होती है कि गाँधी के विचारों का हमारे सोचने समझने के दृष्टिकोण पर गहरा प्रभाव है, अथवा भारतीय राजनीति पर उसकी गहरी छाप है, बल्कि अपने विकास क्रम में तत्सम्बन्धी प्राप्त आए दिनों के अनुभवों ने भी इस दिशा में हमें सोचने के लिए बाध्य कर रक्खा है।

हम भारतीय आज अपने देश को औद्योगीकृत करने के प्रयास में जुटे हुए हैं। परन्तु इसके लिए हमने अपने को केवल प्रजातांत्रिक सिद्धान्तों और प्रजातांत्रिक मार्गों से ही बाँध रक्खा है। इस संदर्भ में हमारी नौकरशाही को एक अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका अदा करनी है। वस्तुतः उसे ही समाजवाद को भारत में व्यावहारिक नेतृत्व प्रदान करना है, क्योंकि वे लोग 'शक्ति के वास्तविक स्वामियों' को ही अपना नेता स्वीकार करने तथा उनका अनुकरण करने की प्रवृत्ति रखते हैं।[२७]

हमने ब्रिटिश पद्धति की ऐसी नौकरशाही व्यवस्था को अंगीकृत किया है जिसकी कार्यकुशलता का बहुत कुछ श्रेय वहाँ के राजनैतिक रूप से जागरूक जन समुदाय को है। यह सर्वथा स्वाभाविक है कि भारतीय नौकरशाही को भारत में उतनी सफलता नहीं मिल सकती क्योंकि इसे आज भारत की ८० प्रतिशत गाँवों में रहने वाली जनता के लिए कार्य करना है। भारतीय नौकरशाही की सफलता के पूर्वकालिक इतिहास को आज के लिए आदर्श उदाहरण नहीं माना जा सकता। ब्रिटिश शासन के अन्तगत नौकरशाही का एकमात्र उद्देश्य साम्राज्यवादी-शासन के आर्थिक-राजनैतिक हितों को सुरक्षा एवं स्थायित्व प्रदान करना था, जबकि आज उसे भारत में प्रजातंत्र को विकसित करते हुए जनता में नौकरशाही के नियंत्रण एवं संचालक की क्षमता उत्पन्न करना है। भारत को वास्तविक रूप में एक राष्ट्र का रूप देना है।[२८]

इन्हीं कारणों से आज हमारे सामने नौकरशाही को नवीन प्रजातंत्रात्मक संस्थाओं एवं जीवन मूल्यों के अनुकूल बनाने की समस्या गम्भीर रूप से हैं। उसके द्वारा जनता को नेतृत्व-शक्ति प्रदान करने की समस्या ही हमारे लिए प्रधान महत्व का विषय है।

अतः हमें अपनी नौकरशाही के अनेक दोषों का परिमार्जन करना ही पड़ेगा। निरंकुशता की प्रवृत्ति रखने वाली नौकरशाही के पुराने सदस्यों की मनोवृत्ति, आदतें, एवं कार्य पद्धति का नवीन लोकसेवकों की मनोवृत्तियों, आदतों एवं कार्य-पद्धति से कोई मेल नहीं बैठता[२८]। इसके कारण पुराने एवं नये लोक-सेवकों के बीच एक अव्यक्त संघर्ष क्रियाशील है। कुछ ऐसा ही संघर्ष रूस एवं चीन में साम्यवादी शासनतंत्र की स्थापना के पश्चात् उत्पन्न हुआ था[२९]। परन्तु समाजवादी उद्देश्यों का भविष्य सुनिश्चित करने के लिए उन देशों में क्रान्तिकारी उपाय एवं उपकरण अपनाये गए। वहाँ साम्यवाद में प्रशिक्षित नवीन कर्मचारियों को पुराने कर्मचारियों के ऊपर स्थापित किया गया। परन्तु हम अपने प्रजातांत्रिक ढांचे में ऐसे उपायों को व्यापक रूप से अपना सकने में समर्थ नहीं। फलतः क्रमिक रूप से भारतीय नौकरशाही का भारत की आवश्यकताओं, रुचियों एवं सुविधाओं के अनुकूल 'भारतीय करण' करने के सिवा हमारे सामने और कोई विकल्प नहीं रह जाता।

हमारा राष्ट्र प्रजातंत्र एवं समाजवाद के अपने प्रयोगों के कारण इन दोनों प्रकार की व्यवस्थाओं के बीच में स्थित है। अतः हमें अपनी नौकरशाही में किसी भी प्रकार के सुधार अपनाने से पूर्व इन दोनों व्यवस्थाओं की मूलभूत आवश्यकताओं को ध्यान में रखना होगा। न केवल उचित व्यक्तियों की नियुक्ति हो"[३०] (जैसा कि प्रजातंत्रीय नौकरशाही व्यवस्था में देखा जाता है) वरन् हमें इस बात का भी ध्यान रखना होगा कि उन्हें इस प्रकार प्रशिक्षित किया जाय कि वे जन-सामान्य को सरकार के अनवरत पनपते रूप के विभिन्न क्रियाकलापों की ओर आकर्षित करने, एवं निचले स्तरों से अनेक प्रकार के आदर्श नियंत्रण व्यवस्थाओं को विकसित करने में समर्थ हो[३१]। (जैसा कि समाजवादी प्रजातंत्रों में करने का प्रयास किया जाता है) केवल ऐसे ही मिश्रित विकल्पों से भारत में विकेन्द्रीकरण एवं सामुदायिक विकास योजनाओं जैसे कार्यक्रमों से सम्वद्ध समाजवादी स्वप्नों के पूरे होने की आशा की जा सकती है। इस प्रकार के मिश्रित मूल्यों के आधार पर परिमार्जित भारतीय नौकरशाही ही अधिक उपयुक्त एवं प्रभावकारी तरीके से भारतीय जनता में समाजवाद के प्रति उद्वेलन पैदा कर सकेगी।

वर्तमान समय में हम 'ऐच्छिक सहकारिता' 'एवं ऐच्छिक सामूहिकता' को प्रत्येक प्रकार से प्रोत्साहित करने का दृष्टिकोण रखते हैं। ये तथ्य साम्यवादी देशों में ऐसी उपलब्धियों का रूप ग्रहण कर चुके हैं जिन्हें बाध्यतामूलक रूप देकर प्राप्त किया गया। साम्यवादी 'दल' ने इन देशों में ऐसी उपलब्धियों की प्राप्ति के क्रम में अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका अभिनीत की। हमारे यहाँ अनेकों दलों वाली राजनैतिक व्यवस्था के अन्तर्गत यह काम सम्पूर्ण रूप से नौकरशाही को ही सम्पन्न करना है[३२]। परन्तु 'ऐच्छिकता' के समन्वय से उसका ऐसा उत्तरदायित्व साम्यवादी देशों की तुलना में अत्यधिक कठिन कार्य बन जाता है। हमारी नौकरशाही को स्थानीय-नेतृत्व के उचित पात्रों को खोजकर सामने तो लाना ही है, उन्हें प्रशिक्षित एवं अनुभवशील भी बनाना है—क्योंकि नए उत्तरदायित्वों के अनुरूप प्रशिक्षित एवं अनुभवी नेतृत्व की कमी हमारे विकास का सबसे बड़ा अवरोध बन गयी है[३३]।

आज अन्य सभी विकासशील देशों की भाँति आर्थिक–राजनैतिक परिवर्तनों की गति भारत में भी अत्यन्त तीव्र है[३४]। अपने क्रियाकलापों को अधिकाधिक प्रभावशाली एवं उपयुक्त बनाए रखने के लिए हमारी नौकरशाही को भी दिन प्रतिदिन के बदलते वातावरण के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित किए रखना अनिवार्य है। उसे इसकी पूर्ति के लिए ऐसे साधनों एवं 'प्राविधिकता' का विकास करना है—जो न केवल उसे इस बदलते वातावरण के उपयुक्त बनाए रक्खे, बल्कि जनसामान्य एवं उनके नेतृत्व वर्ग को भी उनकी वास्तविक आवश्यकताओं के अनुरूप तथा स्वयं नौकरशाही की आवश्यकताओं के अनुरूप परिवर्तित करता रहें।

हमारे देश में वातावरण जनित एवं सांस्कृतिक भेदों के कारण समस्याओं का स्वरूप भिन्नतामूलक या बहुत हद तक स्थानीयतामूलक होता है, जबकि हम संविधान में एक रूप आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, एवं न्यायिक-पद्धति की स्थापना का संकल्प ले चुके हैं। हमारे यहाँ राज्यों एवं केन्द्र के कार्याधिकार क्षेत्र पृथक्-पृथक् हैं। इन उलझनपूर्ण व्यवस्थाओं के अन्तर्गत हमारी नौकरशाही के उत्तरदायित्वों की पूर्ति के क्रम में भी दुरुहता उत्पन्न हो जाती है। इन सबके निवारणार्थ हमारी नौकरशाही को अपना मार्ग स्वयं बनाना होगा। उसे अपने अनुभवों को अपने-क्रिया कलापों का आधार बनाना पड़ेगा। परन्तु किसी भी प्रकार के भावी विकास कार्यक्रम को निर्धारित करने से पूर्व उसे निम्नांकित आलोचनाओं को सदैव ही ध्यान में रखना होगा :

१—भारतीय नौकरशाही में एकरूपता एवं सहयोग के तथ्यों का (उसके विभिन्न अवयवों के बीच) अभाव है। इसी प्रकार से, उसके विभिन्न अवयवों के पारस्परिक अधिकार एवं उत्तरदायित्व क्षेत्र भी स्पष्ट नहीं।

२—इसमें न केवल राज्य एवं केन्द्रीय संगठनों में ही 'स्तर-भेद' है, वरन् सम्पूर्ण संगठन में पिछड़े वर्ग के सदस्यों एवं अन्य सामान्य सदस्यों के योग्यता-स्तरों में भी परस्पर भेद देखा जा सकता है।

३—इस संगठन में लोक-सेवकों को वैज्ञानिक रूप से 'कार्य—विशेषज्ञता' प्राप्त करने की कोई समुचित सुविधा प्राप्त नहीं।

४—लोक-सेवक के व्यक्तित्व को समुचित रूप से विकसित करने में इसकी प्रशिक्षण पद्धति सर्वथा अशक्त है।

५—प्रायः सम्पूर्ण संगठन पर ऊपर से नीचे तक वर्गवादिता, जातिवाद, प्रान्तीयतावाद, भाषावाद, रक्त-वंशानुवाद, नस्लवाद तथा संकीर्ण-धार्मिकता के अनिष्टकर्मी तथ्यों का कुप्रभाव पड़ता रहता है। इनके कारण हमारा सम्पूर्ण नौकरशाही संगठन सामाजिक मूल्यों के आदर्शरूप को अभिव्यक्त करने में असमर्थ हो गया है। समाज की वास्तविक हित-साधना के निमित्त वह पंगु हो गया है।

६—सम्पूर्ण संगठन ही सदस्यों की नियुक्ति, स्थानान्तरण एवं उन्नति आदि के मामलों में अनियमितता, अनैतिकता एवं भ्रष्टाचार के तत्त्वों से ओत-प्रोत दिखायी देता है। सदस्य प्रायः 'कुर्सी' पर बैठे-बैठे ही कार्य करने के आदी रहते हैं। इन सब से

संगठन के प्रति जन-सामान्य में न तो सहयोग की भावना होती है और न विश्वास ही ।

७—हमारी नौकरशाही में न तो कार्यों के सही परिणामों का परिज्ञान कर लेने की क्षमता है और न जनहित के लिए कोई नया काम अपनी ओर से प्रारम्भ करने का साहस ही । इस प्रकार यह समस्याओं के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने की क्षमता विकसित नहीं कर पायी है । अपने ही कर्तव्यों के प्रति उसमें एक प्रकार की उदासीनता हो चली है, कल्पनाशीलता का सर्वथा अभाव हो गया है। उसमें उस आन्तरिक-शक्ति का सर्वथा अभाव हो गया है जिसके माध्यम से वह 'अनापेक्षित राजनैतिक दबाव' से अपने को सुरक्षित रखते हुए कार्यों का संचालन सही दिशा में कर सके ।

८—हमारी नौकरशाही के सदस्य प्राय: राजनीतिक सत्ताप्राप्त विभिन्न व्यक्तियों के साथ पृथक् रूप में व्यवहार करते हैं । यह व्यवहार भिन्नता उनके साथ भी होती है जो सामाजिक रूप से सम्पन्न हैं, अथवा जो सत्ता के विरोध में हैं या, जिनके पास 'प्रभावित' करने की कोई सामाजिक शक्ति नहीं है । फलत: हमारी नौकरशाही समाज के वास्तविक हितों की ओर समाज को गतिमान कर सकने में असफल होती जा रही है ।

९—'व्यावहारिकता' को सुरक्षित बनाने के लिए 'अति-वैधानिकता' से बचना आवश्यक होता है । हमारी नौकरशाही में इस शक्ति एवं दृष्टिकोण का अभाव सा है। निजी संगठन व्यवस्थाओं की तुलना में सरकारी प्रशासन की श्रेष्ठता सिद्ध करने में इसे भारी असफलताओं का सामना करना पड़ रहा है । सम्भवत: भारत के समाजवादी दिशा में प्रगति का यह सबसे बड़ा व्यवधान बन गया है ।

१०—हमारी नौकरशाही अपने कार्यक्षेत्र में अधिकतर 'समय एवं धन के 'अनावश्यक अपव्यय' की चिन्ता नहीं करती (इसे भारत जैसे गरीब देश के लिए सबसे प्रथम महत्व का प्रश्न होना चाहिए ।) फलत: इसके विभाग या तो व्यय के निर्धारित भेदों का दुरुपयोग करते हैं, अथवा उसे बिना उचित रूप से खर्च किए ही सरकारी खजाने को वापस कर देते हैं ।

११—हमारी नौकरशाही में अपने ही गुण दोषों की निष्पक्ष विवेचना करने की शक्ति का सर्वथा अभाव है । फलत: वह नवीन वैकल्पिक मार्गों की तलाश में भी असमर्थ हो चली है । वह प्राय: ही अपने दोषों को ढकने के लिए 'झूठे-प्रतिवेदनों' का सहारा लेती है । जनता एवं सरकार को भ्रम में डालती है । बहुत सीमा तक ऐसे दोष केवल इस कारण विकसित हो रहे हैं कि उसमें वास्तविक तथ्यों एवं आंकड़ों का संग्रह करने, उनका समुचित रूप से विश्लेषण करने, आदि के लिए साधन, रुचि एवं अनुभव नहीं है ।

१२ – देश के विकास कार्यक्रमों को सफल बनाने तथा अन्तर्राष्ट्रीय-राजनीति में देश की प्रतिष्ठा बनाए रखने के लिए 'प्रचार की कला' का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक होता

है। ऐसी कला को देश की आवश्यकताओं एवं देश के सुलभ साधनों के अनुरूप भी होना चाहिए। हमारी नौकरशाही इस प्रकार की 'कला' से देश एवं विदेश-सभी स्थानों में, अपरिचित दिखायी देती है। इसी प्रकार उसके 'बहुधन्धी विशेषज्ञ' कभी भी 'पेशे में सुदक्ष' व्यक्तियों के मूल्यवान परामर्शों की परवाह नहीं करते।

१३—सम्पूर्ण नौकरशाही में ऊपर से नीचे तक एक प्रकार की अव्यवस्था व्याप्त होने लगी है। हमारी नौकरशाही के सदस्यों का अपने कर्तव्यों की गरिमा से अपरिचित होना, अपने स्वार्थों को प्रधानता देना, और अपने अधिकारियों के प्रति अविश्वास रखना आदि तो हैं ही इस अव्यवस्था के मूल कारण के साथ मुकदमें बाजी की प्रवृत्ति एवं पीठपीछे प्राप्त 'बड़ी शक्ति द्वारा अभय दान' आदि को भी इस सन्दर्भ में उसी भाँति लिया जा सकता है। प्रत्येक क्षेत्र में, समान रूप से उलझनों तथा 'हथकंडों' का बोलबाला है।

१४—आज भी हमारी नौकरशाही अपने संगठन के विभिन्न क्षेत्रों में एक 'टोली' के रूप में कार्य सम्पादित करने के दृष्टिकोण का विकास नहीं कर पायी है। इसका प्रधान कारण है आत्म-चेतना एवं "सामूहिकता" की प्रवृत्तियों का अभाव।

१५—परस्पर सहानुभूति, सहयोग एवं 'एक दूसरे की वास्तविकताओं को समझ' आदि का अभाव नौकरशाही के विभिन्न अंगों एवं विभिन्न स्तर के कर्मचारियों के ही बीच नहीं है, बल्कि जन सामान्य एवं नौकरशाही के सदस्यों के पारस्परिक सम्वन्ध क्षेत्रों में भी इन तत्त्वों की समान प्रधानता है।

१६—भारत की वर्तमान नौकरशाही में एक प्रकार की हीनता की भावना दिनोदिन घर करती जा रही है। परोक्ष रूप में, अपनी दुर्बलताओं का भान एवं हमारे द्वारा आए दिन कीजाने वाली अत्यधिक कटु आलोचनाएँ आदि इसका कारण हो सकती हैं। फलतः आज इसमें स्वस्थ एवं रचनात्मक आलोचनाओं पर भी (चाहे वह आन्तरिक संगठन से प्रस्तुत हो या वाह्य सामाजिक क्षेत्र से) ध्यान न देने, उनका सामना न करने, आदि की प्रवृत्ति घर करती जा रही है। इससे वह नवीन आवश्यकताओं का ज्ञान प्राप्त करते हुए भी उनके अनुरूप अपने को ढालने में सर्वथा असमर्थ बन गयी है। अपनी विभिन्न प्रकार की सुस्तियों एवं दुर्बलताओं के बीच या तो वह निर्धारित नीतियों को व्यवहार के क्षेत्र में पूर्णतः विकृत बना देती है अथवा पुराने ढर्रे की ही बार-बार पुनरावृत्ति करती रहती है।

१७—नौकरशाही को भारत में जहाँ स्वायत्त संस्थाओं से सम्बिन्धित किया गया है, वहाँ इसका उद्देश्य उन संस्थाओं को अनुभवी विशेषज्ञों के सहयोग एवं परामर्श से लाभान्वित करना मात्र है। परन्तु व्यवहार में नौकरशाही के सदस्य ही इनके नियंत्रण का प्रयास करते हुए प्रजातंत्र के विकास में बाधक हो रहे हैं।

१८—हमारी नौकरशाही का एक सबसे बड़ा दोष यह भी है कि वह समाज के सभी अंगों का आनुपातिक एवं आदर्श प्रतिनिधित्व नहीं करती—क्योंकि इसके सदस्य नागरिक समुदाय या 'सरकारी सेवाओं के परम्परागत रूप से अनुभव रखने वाले परिवारों'

से आते हैं। इन्हें देश के वास्तविक कार्यक्षेत्र गाँवों की समस्याओं के सही रूप से कोई परिचय नहीं होता। अतः नौकरशाही के सदस्यों के समस्त क्रियाकलापों में एक प्रकार की अवास्तविकता एवं कृत्रिमता सदैव ही विद्यमान रहती है।

भारतीय नौकरशाही के लिए प्रस्तुत इन आलोचनात्मक तथ्यों की ऐसी सूची को और भी विस्तृत किया जा सकता है। परन्तु सम्भवतः ऐसा प्रयास एक अतिशयोक्ति ही होगा। सम्भव है उपरोक्त पंक्तियों में ही प्रस्तुत की गयी आलोचनाएँ नौकरशाही का निकट से, एवं आधिकारिक अध्ययन करनेवाले विद्वानों को अतिरंजित प्रतीत हो। परन्तु किसी भी रूप में हम उन्हें सर्वथा सारहीन समझ लेने की भूल नहीं कर सकते। यदि उनमें कुछ तथ्य है तो उसके विकास के कुछ कारण होंगे ही। राजनीति का कोई भी विद्यार्थी सहज ही इस तथ्य को स्वीकार कर लेने को प्रस्तुत हो जाएगा कि बिना इन मूल कारणों का उचित उपचार किए, भारत की नौकरशाही के दोषों का उचित परिष्कार सम्भव नहीं। प्रस्तुत लेख के लेखक को मुख्य रूप से इस सन्दर्भ में निम्नांकित विचारणीय तथ्यों के दर्शन हुए हैं जिनमें सत्यासत्य का कितना अंश है उसको निर्णय एवं विचार के लिए प्रबुद्ध पाठको, भारतीय राजनीति एवं समाज की समस्याओं मे रुचि रखने वाले विद्वानों के अधिकार क्षेत्र में—प्रश्न के रूप में उपस्थित किया जाता है। परन्तु उसके पूर्व उस परिवेश की ओर भी ध्यान आकर्षित किया जाता है जिसके अन्तर्गत भारत की नौकरशाही में विभिन्न दोषों का जन्म एवं विकास हुआ है।

सदियों की पराधीनता के अनिवार्य परिणामों के रूप में उत्पन्न नैतिक पतन, दास्य भावना, अशिक्षा, अज्ञान, विपन्नता एवं पृथक्कतावादी मनोवृत्तियों की पृष्ठ भूमि से आने वाला भारत का प्रत्येक 'लोक-सेवक' न तो अपने चरित्र तथा आचरण को ही इनके प्रभावों से मुक्त कर पाता है, और न तो वह इससे बचते हुए अपने 'शुद्ध-आचरण' के लिए ही कोई सही मार्ग ढूँढ़ पाता है—यद्यपि भारत की शिक्षण संस्थाओं से निकलने वाले प्रत्येक नवयुवक की मानवीय आदर्शों के प्रति प्रारम्भ में उतनी ही उत्कट आस्था रहती है जितनी की किसी भी स्वतंत्र प्रजातंत्रवादी देश के नवयुवकों में होनी चाहिए। परन्तु, जहाँ अन्य देशों का नवयुवक उन आस्थाओं के अनुकूल अवसर एवं वातावरण प्राप्त कर ऐसी विशेषताओं के अनवरत विकास में समर्थ होता है, भारतीय नवयुवक को परिस्थितियों के आगे अपने आत्म समर्पण को बाध्य होना पड़ता है। संक्षेप में, हमारे यहाँ एक मछली तालाब को गंदा नहीं कर रही है वरन् समूचा तालाब ही मछलियों को गंदा कर रहा है।

हमने अपने राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान 'स्वायत्तता' के बड़े ही मनोहर चित्र उपस्थित करने की प्रवृत्ति दिखायी है। ब्रिटिश संसदीय शासन व्यवस्था से अपने निकट-सम्पर्कों का लाभ उठाकर हमने अपने देश में लगभग उसी ढंग की प्रशासनिक तथा राजनैतिक व्यवहार-प्रणाली की स्थापना करने का प्रयास किया। परन्तु, आजतक 'साम्राज्य सेवा' में संलग्न भारतीय नौकरशाही को 'लोक सेवा' के अनुरूप ढालने के सम्भावित मार्ग क्या हो सकते हैं? इस पर विचार करना सम्भवतः हम भूल ही गए। स्वतंत्रता जन्य भारतीय वातावरण एवं समस्याओं को ध्यान में रखते हुए हम इस बात की कल्पना नहीं

कर सके कि भारतीय नौकरशाही का आदर्शतम सम्भव स्वरूप क्या हो सकाता है ? मैं यहाँ 'यूटोपिया' की बात नहीं कहता, वरन्, ठोस और रचनात्मक रूप से विचार करने सम्बन्धी प्रयास की बात कर रहा हूँ। इसका सबसे प्रामाणिक उदाहरण ब्रिटिश उपनिवेशवादी शासन के अन्तर्गत व्यवहृत होने वाले भारतीय प्रशासनिक सेवाओं से सम्बन्धित प्रशिक्षण-पाठ्यक्रमों की आधुनिक लोक-सेवाओं के प्रशिक्षण पाठयक्रमों की तुलना से सहज ही प्राप्त किया जा सकता है। यदि इस तथ्य को हम नजरंदाज कर भी दें तो भी हम इस तथ्य पर ध्यान देने के लिए विवश होंगे कि ब्रिटिश शासन पद्धति में स्वायत्तता का रूप अत्यन्त नियंत्रित रहा है। परन्तु आज, भारत के प्रत्येक नागरिक की राजनैतिक जागरूकता (जिस की आशा की जाती है) किसी व्यक्ति-विशेष या गुट-विशेष के हाथों स्थायी रूप से शक्ति-केन्द्रीकरण की सम्भावनाओं की विरोधी है। 'जागरूक-जनमत' की आलोचनाएँ नौकरशाही को जहाँ एक ओर सही दिशा में कार्य करने को विवश कर सकती हैं वहीं उसे अनावश्यक आलोचनाओं एवं दबावों से संरक्षण भी प्रदान कर सकती है। इंगलैंड में स्थिति यही है। परन्तु वहाँ न्यायिक सर्वोपरिता का सिद्धान्त व्यवहृत न होकर संसदीय सम्प्रभुता का सिद्धांत व्यवहृत होता है। वहाँ संघात्मक नहीं बल्कि एकात्मक व्यवस्था का व्यवहार होता है। वहाँ 'कतिपय कार्यों एवं पदों के लिए स्त्रियों की उपयुक्तता' की मान्यता घर कर चुकी है। (सौभाग्य से वहाँ इसके उपयुक्त स्त्री समुदाय भी है) परन्तु भारत में (सद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों ही दृष्टियों से) इनका अभाव सा है। ब्रिटिश पद्धति पर आधारित नौकरशाही को अंगीकृत करते हुए हम यह भूल गए हैं कि वहाँ न तो सामाजिक दृष्टि से कोई पिछड़ा वर्ग ही है और न तो उसके लिए किसी विशेष प्रकार के 'संवैधानिक-संरक्षण' की व्यवस्था ही। ऐसी दशा में, हमारी अपनी नौकरशाही में दोष की मात्रा का अधिक होना ही स्वाभाविक है। हम इस तथ्य का अनुभव करने को विवश हैं कि कोरे जनमत से ही काम नहीं चल सकता। हमें सम्पूर्ण ढाँचे में ही आपाद परिवर्त्तनों के लिए प्रस्तुत होना पड़ेगा। अन्य तथ्य भी इसी आवश्यकता का पृष्ठ पोषण करते हैं। उदाहरण के लिए--संघात्मक व्यवस्था को ढाँचे-समानता मात्र के आधार पर ही हम अमेरिका की ओर या किसी अन्य संघात्मक व्यवस्था के प्रशासनिक संगठन की ओर विशेष आकर्षण का अनुभव नहीं कर पाते। एक ओर तो उनकी और हमारी समस्याओं और आदर्शों में ही कोई मौलिक समानता सम्भव नहीं है तो दूसरी ओर उनका राजनैतिक ढाँचा भी शतप्रतिशत हमारा नहीं हो सकता। हमारे राज्य अधिकांशतः भाषावार रूप में 'गठित' है। उनको संयुक्त राज्य अमेरिका के संघ में 'सम्मिलित' होने वाले राज्यों की भाँति ही प्रशासनिक स्वायत्तता प्राप्त नहीं। हमारा राष्ट्रपति 'आए दिन के राजनैतिक व्यवहार क्षेत्र में' सम्पूर्ण राष्ट्र की इच्छाओं एवं आवश्यकताओं को दलगत--राजनीति के दलदल में फंसी 'संसद' की इच्छाओं के विपरीत क्रियाशील कर पाने में उस रूप में समर्थ नहीं, जैसा कि अमेरिका का। इन समस्त तथ्यों की विवेचना करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि 'कहीं के ईट कहीं के रोड़े से भवन निर्माण' की भारतीय प्रवृत्ति के सबसे दुखद परिणाम हमारी नौकरशाही के साथ अनजाने ही आकर सम्बन्धित हो गए हैं।

इसी क्रम में हमारे द्वारा इस बात पर भी ध्यान दिया जाना आवश्यक है कि

अनुकरण का प्रवाह सर्वदा शीर्ष से आधार की ओर होता है, आधार से शीर्ष की ओर नहीं। अतः हमारी नौकरशाही में व्याप्त बुराइयों की जडों को भी केन्द्र एवं राज्यों के शीर्षस्थ ढाँचे एवं उसके नेतृत्व वर्ग (नियुक्त एवं निर्वाचित दोनों ही प्रकार के) से सम्बन्धित होना चाहिए।

इसी के साथ हम देख सकते हैं कि समाज को हजारों साल से बाँधकर एक निश्चित दिशा की ओर चलाते रहने वाले जीवन मूल्यों का आज द्रुत तिरोहण तो हो रहा है, परन्तु उनके स्थान पर नवीन शक्तियों की समाज में दृढ़ रूप से स्थापना नहीं हो सकी है। संक्रान्ति एवं विकास क्रम की शुरुआत के इस काल में प्रत्येक व्यक्ति आर्थिक रूप से अधिकाधिक सम्पन्न होने की उत्कट कामना रखने लगा है। परन्तु नियन्त्रण की उपरोक्त दुर्बलता ने उसमें अनैतिकता के विकसित होने की ही सुविधाएँ उपस्थित की है। परिस्थितियों एवं सामाजिक वातावरण ने इसमें अतिरिक्त रूप से हाथ बँटाया है। फलतः, नौकरशाही को भी आकंठ भ्रष्ट बना देने के ऐसे सुयोग आ जुटे हैं, जिनका निराकरण बिना आमूल-चूल सामाजिक परिवर्तनों के अपनाए किसी भी रूप में सम्भव नहीं।

यदि हम विकल्प की ओर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं तो हमें इसके सिवा अन्य कोई मार्ग दिखाई नहीं देता कि भारतीय नौकरशाही का तत्काल एवं अनिवार्य रूप से 'भारतीयकरण' किया जाय। परन्तु भारतीयकरण की इस प्रक्रिया में कार्यक्रम, पद्धति, आदर्श तथा ढाँचे एवं उनकी संरचना पर भारत की आर्थिक सामाजिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों तथा आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए स्वयं भारतीय नौकरशाही को ही विचार करना है। यही व्यावहारिकता का तकाजा है। उसे अपनी कार्यक्षमता, प्रभावकारिता, उपादेयता, एवं उर्वरता को विकसित करने के हर सम्भव प्रयत्न स्वतः करने होंगे, क्योंकि भारत के वर्तमान बिखरे एवं अस्पष्ट ढाँचे को, उसके अर्ध-सामंती अर्थव्यवस्था को, अत्याधुनिक समाजवादी एवं प्रजातांत्रिक रूप प्रदान करने के लक्ष्य का कार्यकारी पक्ष उसी के उत्तरदायित्व की वस्तु है। अर्थात् उसे ही भारत की 'भावी सामाजिक क्रान्ति' का 'वास्तविक अग्रदूत' बनना है। देश का नेतृत्व वर्ग या विद्वत वर्ग उसे केवल दिशा संकेत मात्र ही प्रदान कर सकता है। इसी रूप में सामान्य सुझावों के अन्तर्गत राजनीति के किसी भी विद्यार्थी द्वारा सामान्य विचार के लिए निम्नांकित तथ्य प्रस्तुत किए जा सकते हैं—

नौकरशाही यथाशीघ्र आमूल चूल परिवर्तनों के स्वागत की प्रवृत्ति विकसित करे और उसका यथाशीघ्र 'अराजनैतिकरण' हो। उसके सदस्यों के प्रशिक्षण की एक ऐसी पद्धति को यथाशीघ्र विकसित करने का प्रयास किया जाय जिसका आधार अन्य देशों के तत्सम्बन्धी व्यवस्थाओं का ज्ञान न होकर भारतीय प्रशासनिक एवं कार्य सम्बन्धी अनुभव हों। इस क्रम में केन्द्रीय, राज्य एवं विभागीय स्तर पर ऐसे निरीक्षण निकायों की तत्काल स्थापना की जाय जो न केवल निष्पक्ष हो, वरन् उन्हें तत्काल अनुशासन सम्बन्धी कार्यवाही करने का भी अधिकार प्राप्त रहे। इनके निर्णयों की सुनवाई सामान्य न्यायिक प्रक्रियाओं के अन्तर्गत न होकर एक सीधी-सादी द्रुतगामी प्रक्रिया के अन्तर्गत अर्ध-न्यायिक निकायों द्वारा की जाय। यथासम्भव इस बात की व्यवस्था हो कि नौकरशाही के किसी भी सदस्य पर किसी विशेष कार्यभार को आरोपित करने से पूर्व उसकी वैयक्तिक क्षमता, वैयक्तिक

समस्याओं एवं रुचियों का पूरा-पूरा ध्यान रक्खा जाय। उसे नए उत्तरदायित्व के अनुकूल अग्रिम-प्रशिक्षण द्वारा कार्यभार वहन करने के पूर्ण उपयुक्त बनाने का प्रयास किया जाय। साथ ही, छोटे कर्मचारियों को उनके विशिष्ट भौगोलिक क्षेत्रों की स्थानीय समस्याओं के अनुकूल रूप में ही प्रशिक्षित किया जाय। विद्वानों एवं मेधावी शोध कार्यकर्ताओं तथा अनुभवी लोक-सेवकों के समन्वय से एक ऐसा निकाय स्थापित किया जाय जो नौकरशाही से सम्बन्धित समस्त समस्याओं का निर्धारित रूप से अध्ययन करता रहे। देश में विभिन्न प्रकार के लोक सेवकों के लिए 'पूरक-प्रशिक्षणों' की तत्काल और व्यापक व्यवस्था की जाय। ऐसे पुराने लोक-सेवकों से, जिन्होंने पुरानी ब्रिटिश पद्धति के अन्तर्गत पद ग्रहण किया हैं विशेष रूप से पुर्नप्रशिक्षण प्रदान करते हुए नवीन परिस्थितियों में कार्य करने को उपयुक्त बनाने का प्रयास किया जाय। उनकी कार्य सम्बन्धी समस्याओं, अनुभवों एवं अनुभूतियों का मूल्यवान आँकड़ों के रूप में संग्रह करने का प्रयास किया जाय। देश में अपनी नौकरशाही के विषय में किसी भी समस्या को लेकर किए जाने वाले शोधकार्य को आर्थिक सहायता द्वारा प्रोत्साहन प्रदान किया जाय। जाँच आयोगों का स्वरूप पूर्णतया गैर सरकारी हो। यदि सरकारी जाँच आयोग क्रियाशील भी हो तो उनकी सदस्यता विरोधी दलों के सदस्यों तक ही सीमित रक्खी जाय। पिछड़े वर्गों के विशेष संरक्षण सम्बन्धी समस्त व्यवस्थाओं को अविलम्ब समाप्त कर दिया जाय या कम से कम क्षेत्रीय आवास या आर्थिक पिछड़ेपन जैसे तर्क पूर्ण कारणों को इनका आधार बना दिया जाय। उच्चस्तरीय सेवाओं से सम्बन्धित उम्मीदवारों के चयन की वर्त्तमान पद्धति को और भी 'परीक्षणात्मक' स्वरूप प्रदान किया जाय।

उद्धरण उल्लेख

[१] "इन्साइक्लोपीडिया आफ दी शोसल साइन्सेज," खण्ड ३, पृ० ७०।

[२] गार्थ, एच० एच० एवं मिल्स, सी० डब्ल्यू०—"फ्राम मैक्स वेवर: एसे इन शोसियोलाजी," पृ० १९६।

[३] वही, पृ० २२४। एवं मार्क्स, फिट्ज मार्सटाइन (सं) "एलिमेण्ट्स आफ पब्लिक एडमिनीस्ट्रेशन," पृ० ५५।

[४] वही, पृ० ११।

[५] गार्थ, एच० एच० आदि, वही, पृ० २१६।

[६] वही, पृ० ११।

[७] कृपया देखिए "इन० सा० आफ सो० सा०" वही, पृ० ७२।

[८] कृपया देखिए डा० एच० सी० रेगर्स द्वारा "दी मैंकेनिक्स आफ ब्यूरोक्रेसी:ऐन एसे इन शोसल सावरेन्टीज़" शीर्षक के अन्तर्गत प्रस्तुत किया गया लेख जो दिनांक ११ दिसम्बर १९६५ को गांधियन इन्स्टीठ्यूट, राजघाट, वाराणसी में "विकासशील राष्ट्रों में नौकरशाही" पर होने वाली विचारगोष्ठी के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया गया।

[९] "फन्डामेन्टल्स ऑफ मार्क्सिज्म-लेनिनिज्म" (मैनुअल: सेकन्ड रिवाइज्ड एडीशन) पृ० २८९।

[१०] कृपया देखिए, बरवे, एस० जी० "विथ मैलिस टुवाड्र्स नन," पृ० १७३। एवं डीन —'वेरा माइकेल्स, न्यू पेटर्न्स आफ डेमोक्रेसी इन इण्डिया," पृ० ७।

[११] हक्सले, आल्डस—"एन्डस् ऐन्ड मीन्स," पृ० १९।

[१२] "फन्डामेन्टल्स," वही, पृ० ५२९।

[१३] "दी रोड टू कम्युनिज्म," पृ० १४१.।

[१४] वही, पृ० ३०९।

[१५] वही, पृ० १४५।

[१६] वही, पृ० १४१।

[१७] गुन्थर, जान इन साइड "एशिया टुडे," पृ० २३७।

[१८] रोस्तोव, डब्ल्यू० डब्ल्यू०—"दी प्रासपेक्ट फार कम्यूनिस्ट चाइना," पृ० १४२।

[१९] गार्थ, एच० एच० आदि—वही, पृ० २०२।

[२०] सोवियत संघ आज और कल, पृ० ७९-८०।

[२१] वार्ड, वारबरा-"इन्डिया ऐंन्ड दी वेस्ट," पृ० १०८। तथा ग्रीफथ्स, परसीवल: "माडर्न एन्डिया," पृ० ४१।

[२२] यंग इण्डिया (पत्रिका) जनवरी २१, १९२६, पृ० ३१।

[२३] कृपलानी, जे० वी० (सं) "आल मैन आर ब्रदर्स," पृ० १८३।

[२४] विनोवा भावे—"स्वराज शास्त्र," पृ० ४६-४७।

[२५] वही, पृ० ४८।

[२६] उपरोक्त गोष्ठी में जयप्रकाश का समापन वक्तव्य (१३-१२-६५)।

[२७] जिन्किन, मारिस—"डेवलपमेन्ट फार फ्री एशिया," पृ० ७६।

[२८] वोल्स, चेस्टर—"दी प्रागरेस एन्ड प्रामिसेस आफ इन्डिया, १९६५" नामीफ़ोरम के पृ० ६।

[२९] डीन, वेरा भाइकेल्स—"दी नेचर आफ दी मान वेस्टर्न वर्ल्ड," पृ० २१६-१-२१७।

[३०] देखें रोस्चोव, डब्ल्यू० डब्ल्यू०—वही, पृ० १४२-१४३। एवं शोसलियाकोव, ए० एवं तासलिएव, श०—"हाउ सोशलिज्म केम टू सेन्ट्रल एशिया," पृ० ६०।

[३१] जिन्किन, मारिस: वही, पृ० ७६।

[३२] "फन्डामेन्टल्स," वही, पृ० ५२९।

आजमगढ़ जिले की बोली में व्यवहृत प्रमुख धातु और क्रियापद

डॉ० महेन्द्रनाथ दुबे
सह-संपादक 'प्रज्ञा'

§१. **क्रियापाद** वाक्य के विधेय अंश होते हैं। इनसे किसी की स्थिति का बोध होता है। विधेय होने के कारण वाक्य में क्रियापद की प्रधानता होती है। क्रियापद के मूल **धातु** हैं। धातुओं में ही विभिन्न प्रत्ययों का योग कर क्रियापद बनाए जाते हैं। इन्हीं धातुओं में कुछ विशेष प्रत्ययों का योग कर **क्रियार्थकसंज्ञाएँ** बनाई जाती हैं। आजमगढ़ जिले की बोली में धातु से क्रियार्थकसंज्ञा बनाने के लिए दो प्रत्यय प्रचलित हैं (१) {–ल–} तथा (२) {–ब}। इनमें से {–ल} प्रत्यय का व्यवहार अधिकतर पूर्वी एवं मध्यवर्ती अंचलों में तथा {–ब} प्रत्यय का व्यवहार पश्चिमी अंचल में अधिक होता है। अतएव एक ही धातु से बने क्रियार्थकसंज्ञा के दो रूप इस जिले में प्रचलित हैं। यथा—'पढ़्' से पूर्वी एवं मध्यवर्ती अंचल में 'पढ़ल्' तथा पश्चिमी अंचल में 'पढ़ब्' रूप चलता है। कुछ स्वरान्त धातुओं में प्रत्यय योग के पूर्व धातुओं के अनन्तर 'य' अथवा 'व' **श्रुतियों** का अथवा **सम्प्रसारण** से 'इ' या 'उ' का योग होता है। यथा—गावल्, पीयल्, मूवल्, धोवल्, अथवा –गाइब्, पीयब्, मूइब्, धोउब् आदि।

§१.१. धातुओं के प्रमुख दो भेद हैं—

(१) **मूलधातु** (प्राइमरी रूट्स)
(२) **व्युत्पन्न धातु** (डेरीवेटिव रूट्स)

आधुनिक आर्य भाषाओं, हिन्दी तथा उसकी अन्य बोलियों की भाँति आजमगढ़ जिले की बोली के अधिकांश मूलधातु अपभ्रंश, प्राकृत एवं पालि की परम्परा से संस्कृत धातुओं से संबंधित हैं। इसके अधिकांश मूलधातु संस्कृत मूलधातुओं तथा गणविकरणविशिष्ट रूपांशों से विकसित हुए हैं। संस्कृत के कुछ उपसर्गयुक्त अथवा संयुक्तधातु भी मूलधातु के रूप में निबद्ध हो गए हैं।

संस्कृत के अतिरिक्त इस जिले की बोली में द्रविण भाषाओं एवं अन्य विदेशी स्रोतों (अरबी-फारसी) से आए धातु भी प्रचलित हैं। कुछ धातु तो ऐसे भी हैं जिनकी कोई निश्चित व्युत्पत्ति नहीं मिलती, इन्हें हम 'देशी' या 'देशज' की श्रेणी में रख सकते हैं।

§१.२. नीचे **संस्कृत परम्परा** से विकसित कुछ अतिप्रचलित मूलधातुओं का परिचय दिया जा रहा है।

---

* प्रस्तुत निबन्ध पं० करुणापति जी त्रिपाठी (अध्यक्ष और प्राचार्य, शिक्षाशास्त्र विभाग वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय) के निर्देशन में तैयार किया गया है। इसे तैयार करने में हार्नले, ग्रियर्सन, श्री सुनीति कुमार चाटुर्ज्या तथा पं० उदयनारायण तिवारी की कृतियों से विशेष सहायता ली गई है। अतः लेखक इन सभी विद्वानों का अतीव आभारी है।

१—आँक् (सं० अंकन्) आँकना, खींचना, अनुमान लगाना।

२—आँज् (सं०√अंज्) अंजन करना या अंजन लगाना।

३—कउर् (ड़्) सं० कपाल (यज्ञ में आहुति के लिए घड़े के निचले हिस्से सा बना आहुति पात्र) से हिन्दी 'कउड़ा' इसी कउड़ा से संभावित; मद्धिम आँच में पकाना।

४—कट् (सं०√कट्ट अथवा कर्त्तन्>प्रा० कट्टन या कृत्-कृन्तति-कर्त्तइ>कट्टइ) कटना।

५—कमा (सं० कर्मापयति>कम्मवइ>कमावइ) कमाना, काम करके लाभ उठाना।

६—कय् वा कर् (सं√कृ—करोति>प्रा० करइ) करना।

७—कस् (सं०√कर्ष्—कर्षति>प्रा० कसइ) कसना।

८—कह (सं०√कथ्—कथयति>प्रा० कहइ) कहना।

९—काँड़् (सं० कंडन् अथवा देशी) काँड़ना, पाँवों से कुचलना।

१०—काँप् (सं०√कंप्—कम्पति>प्रा० कंपइ-काँपइ) काँपना।

११—काछ् (सं० काक्ष् या देशी) काछना, काछ कर साफ करना, पहनना।

१२—काढ़् (सं०√कर्ष : कृदन्त-कृष्ट : >प्रा० काढ़इ) काढ़ना, पकड़ कर निकालना।

१३ कात् (सं० कृत्>पा० कत्त) कातना।

१४ किन् या कीन् (सं०√क्र>(क्रीणा+ति)>प्रा० किणइ) कीनना, मोल लेना।

१५—कील् (सं० कीलति) कीलना, ठोंक कर बैठाना।

१६—कूट् (सं०√कुट्ट—कुट्टयति>प्रा० कुट्टइ) कूटना।

१७—कूद् (सं०√स्कुंद् या स्कंद्-स्कुंदते> प्रा० कुंदइ) कूदना।

१८—कोड़् (सं०√कुण्ड) कोड़ना, कुदाल से गोड़ना, (हार्नले के अनुसार, कुट्-कोटयते> प्रा० कोडेइ>या कोड़इ)

१९—कोप् (सं०√कुप्—कुप्यति>प्रा० कुप्पइ) कोपना, क्रोध करना।

२०—कोस् सं०√क्रोश—कोशष्) कोसना, धिक्कारना।

२१—खन् (सं०√खन्) खनना, खोदना।

२२—खप् (सं०√क्षप् या 'क्षि' का प्रेरणार्थक; क्षप्यते>प्रा० खप्पइ) खपना।

२३—खर् या खरव् (सं०√क्षर्) गर्म होकर पसीजना।

२४—खाँग् (सं०√खंज् या खंग्) खाँगना, पशुओं का एक विशेष रोग से रोगग्रस्त होना।

२५—खा (सं√खाद्—खादयति>प्रा० खाअइ) खाना, भोजन करना।

२६—खिल् (हार्नले के अनुसार सं० क्रीड्—क्रीड्यते>प्रा० खिड्डइ या खिल्लइ) खिलना।

२७—खींच् (सं०√कृष्—कृक्ष्यति>प्रा० कच्छइ या कंछइ) खींचना।

२८—खुज्झ (सं० (क्रुद्ध>प्रा० कुज्झ [महाप्राणीकरण]) क्रोध करना, रुष्ट होना।

२९—खुल् (सं०√खुड्—खुड्यते>प्रा० खुड्डइ या खुल्लइ) खुलना।

३०—खेल् (सं०√क्रीड्–क्रीडति>प्रा० खेड्डइ या खेल्लइ) खेलना।

३१—खोंट् (सं०√क्षोट्–क्षोटचते>प्रा० खुट्टइ) खोंटना, ऊपरी भाग कुपुटना।

३२—खोज् (सं० क्षुद्यते या देशी ?) खोजना।

३३—खोव् (सं०√क्षिप–क्षिपति>प्रा० खिवइ) खोना, नष्ट होना।

३४—गँठ् (सं०√ग्रंथ-ग्रंथति>प्रा० गंठइ) गँठना, बैठना, खूब पटना।

३५—गढ़् (सं०√घट्–घटते>प्रा० गढ़इ) गढ़ना, रचना।

३६—गरज् (सं०√गर्ज) गरजना।

३७—गल् (सं०√गल्–गलति>प्रा० गलइ) गलना।

३८—गह् (सं०√ग्रह–गृह्णाति>प्रा० गेहइ–गहइ) ग्रहण करना, पकड़ना, सामना करना।

३९—गाँछ् (सं० ग्रंथ) गाँछना, एक दूसरे में बझाना।

४०—गाँथ् (सं० ग्रंथ्) गाँथना, जोड़ना, बाँधना।

४१—गा (गाव्) (सं०√गै–गायति>प्रा० गाअइ) गाना।

४२—गाज् (सं०√गर्ज) गाजना, लम्बी चौड़ी बातें करना, गरजना।

४३—गार् (सं०√गाल्) गारना, निचोड़ना।

४४—गिर् (सं०√गल् या गृ—गिरति>प्रा० गिरइ) गिरना।

४५—गूँज् (सं०√गुञ्ज) गूँजना।

४६—गूँथ् (सं० ग्रन्थ) गूँथना, एक सूत्र में पिरोना।

४७—गूह् (सं०√गुंफ्–गुफति>प्रा० गुहइ) गुहना, गूँथना।

४८—घट् (सं०√घट्ट–घट्टचते>प्रा० घट्टइ) घटना, कम होना।

४९—घस् या घिस् (सं०√घृष्–घर्षति>प्रा० घसइ) घिसना, रगड़ना।

५०—घाल् (सं√घट्ट–घट्टते>प्रा० घड्डइ या घल्लइ) नष्ट करना या पूरा करना।

५१—घींच् (सं०√कर्ष) खींचना।

५२—घुम् या घूम्म (सं०√घूर्ण–घूर्णाति>प्रा० घुम्मइ) घूमना।

५३—घुल् (सं०√घूर्ण–घूर्णाति>प्रा० घुलइ) घुलना।

५४—घेर (सं० ग्रह? : घर–गृह से तुलनीय :) घेरना।

५५—घोंट् (प्रा० घोट्टइ अथवा देशी ?) घोंटना।

५६—घोख् (सं०√घुष्) घोखना, सोचना-विचारना।

५७—घोर (सं०√घुण्–घोलय>प्रा० घोलइ) घोलना, मिलाना।

५८—चबा (सं०√चर्व्–चर्वति>प्रा० चब्बइ, अथवा च्यु–च्यवते>चवइ) चबाना।

५९—चर् (सं०√चर्–चरति>प्रा० चरइ) चरना।

६०—चल् (सं०√चल्–चलति>प्रा० चलइ) चलना ।

६१—चाँप् (सं०√चप्–चप्यते>प्रा० चप्पइ–चंपिज्जइ) चाँपना, दबाना ।

६२--चाभ् (सं०√चर्व्–चर्वति>प्रा० चव्वइ) चाभना, चबाना ।

६३ - चीख् (सं०√चक्ष्) चीखना, स्वाद लेना ।

६४ चीन्ह् (सं० चिह्न) पहचानना ।

६५—चीर (सं० चीर्ण) चीरना ।

६६—चुन् (सं०√चि-चिनोति>प्रा० चुणइ) चुनना, छाँटना ।

६७—चुर् (सं०√चूर्ण) चुरना, गलना ।

६८—चू या चुव् (सं०√च्यव् या च्युत्–च्योतति>प्रा० चोअइ या चुअइ) चूना, छिद्र से टपकना ।

६९—चूम् (सं०√चुम्ब–चुम्बति>प्रा० चुंबइ) चूमना ।

७०—चूस् (सं० चूषण) चूसना ।

७१—चूह् (सं० चूषण) चूहना ।

७२—छँट (सं० छिन्न) छँटना, अलग होना ।

७३—छज् (सं०√सज्ज) सजना, अच्छा लगना ।

७४– छल् (सं०√छल्) छलना, ठगना ।

७५—छा (सं०√छद्–छादयति>प्रा० छाएइ) छाना ।

७६—छिड़् (सं०√छिण्ड–छिण्डति) छिड़ना, आरम्भ होना ।

७७ छिप् (सं०√क्षि–क्षेप्यते>प्रा० छेप्पइ या छिप्पइ) छिपना ।

७८—छींक् (सं० क्षीव् या ध्वनि-अनुकरणात्मक) छींकना ।

७९—छींट् (सं० क्षिप्त) छींटना ।

८०—छीन् (सं० क्षीण) छीनना ।

८१–छील या छोल (प्रा० छोल्लइ अथवा– देशी?) छीलना, छिलका उतारना ।

८२—छू या छूव् (सं०√छुप्–छुपति>प्रा० छुवइ) छूना, स्पर्श करना ।

८३—छूट् (सं०√छुट्—छुट्यते>प्रा० छुट्टइ) छूटना ।

८४—छेद् (सं०√छिद् छेन्द–भेद) छेदना ।

८५ छेर् (सं० क्षरण) छेरना ।

८६ --छेव् (सं०√क्षेप्) छेना, गढ़ते हुए काटना ।

८७—छोड़् (सं०√छुट–छुट्यति>प्रा० छोडेइ अथवा छाडं या छादं) छोड़ना ।

८८—छोप् (सं०√क्षेप्) छोपना या थोपना ।

८९—जट् (सं०√जट्) जटना या ठगना ।
९०—जन् (सं०√जन्–जनयति>प्रा० जंणेइ) जनना, जन्म देना ।
९१—जप् (सं०√जल्प–जल्पति>प्रा० जंपइ) जपना, भजना ।
९२—जम् (सं० यमन या जन्म अथवा नामधातु ?) जमना ।
९३—जर् (सं० ज्वल-ज्वलति>प्रा० जलइ) जलना ।
९४—जा (सं०√या–याति>प्रा० जाअइ) जाना ।
९५—जाग् (सं०√जागृ–जागर्ति>प्रा० जागरइ–जग्गइ) जागना ।
९६—जान् (सं०√ज्ञा–जानाति>प्रा० जाणइ) जानना ।
९७—जीत् (सं०√जि) जीतना ।
९८—जी या जीय् (सं० जीवन–जीवति>प्रा० जीअइ) जीना ।
९९—जुट् (सं०√जुट्–जुट्यते>प्रा० जुट्टइ) जुटना, इकट्ठा होना ।
१००—जूझ् (सं०√युध–युध्यते>प्रा० जुज्झइ) जूझना ।
१०१—जेंव (सं० जेम) भोजन करना ।
१०२—जोख् (सं० जोषण) जोखना ।
१०३—जोड़् (सं०√जुट्–जोटयति>प्रा० जोडेइ) जोड़ना ।
१०४—जोत् (सं०√युज–योजयते) जोतना, काम में लगाना ।
१०५—जोह् (सं०√जुष्) जोहना, प्रतीक्षा करना ।
१०६—झर् (सं√क्षर् अथवा, शद्–शदति>प्रा० झडइ) झड़ना ।
१०७—झाँट् (सं०√झट्–झटयते>प्रा० झंटइ अथवा देशी) झटका देना ।
१०८—झाँस् (सं०√झष्) झाँसना, धोखा देना ।
१०९—झूम् (सं०√झंप) झमना, हिलना ।
११०—झूल् (सं०√दोल्>प्रा० झुल्ल) झूलना ।
१११—टर् (सं०√टल्) टलना, हटना ।
११२—टाँक् (सं०√टंक्) टाँकना, नाथना ।
११३—टाँग् (सं०√टंग्) टाँगना, लटकाना ।
११४—टिक् (सं०√स्था–स्थित अथवा टिक्) टिकना, ठहरना ।
११५—टूट् (सं०√त्रुट्–त्रुटति–त्रुटयति>प्रा० तुट्टइ-टूटइ) टूटना ।
११६—ठग् (सं०√स्थग्–स्थगति>प्रा० ठगइ) ठगना ।
११७—ठट् (सं०√स्था-स्थित) ठटना, खड़ा होना ।
११८—डँस् (सं०√दंश्–दंशति>प्रा० डसइ) डँसना, काटना ।

११९—डर (सं० त्रस्>प्रा० डरइ) डरना।

१२०—डाँक् (सं०√लङ्घ्) डाँकना।

१२१—डाल् या डार् (सं०√दृ–दारयति>प्रा० डारेइ-डारइ) डालना।

१२२—डाह् (सं०√दह्–दाहयति) डाहना, जलाना, दुख देना।

१२३—डोल् (सं०√दुल्–दोलयति>प्रा० डोलेइ) डोलना, हिलना।

१२४—ढँक् (सं० स्थग्–स्थायते>प्रा० ढक्केइ-ढक्कइ) ढँकना।

१२५—ढर् या ढह् (डह ?) ढहना, नीचे गिरना।

१२६—ढुक् (सं० ढौक–ढोकते>प्रा० ढुक्कइ) ढुकना, प्रवेश करना।

१२७—ढूँढ़् (सं० ढुंढ्–ढुण्ढति>प्रा० ढुंढइ) ढूँढ़ना, खोजना।

१२८—ढो या ढोव् (सं√वह्–वोढ़–ओढ़>ढो) ढोना, वहन करना।

१२९—तउल् (सं०√तुल्–तोलयति>प्रा० तोलइ) तौलना।

१३०—तप् या तव्(सं०√तप्–तपति>प्रा० तप्पइ या तवइ) तपना।

१३१—तर् (सं०√तॄ–तरति<प्रा० तरइ) तरना, पार होना।

१३२—तरस् (सं० तर्षण) तरसना।

१३३—ताक् (सं०√तर्क–तर्कयति>प्रा० तक्केइ) ताकना, देखना।

१३४—तान् (सं०√तन्–तानयति>प्रा० ताणेइ–ताणइ) तानना, फैलाना।

१३५—ताव् (सं०√त्रैं, त्रायते>प्रा० ताअ) ताना, ढँकना, रक्षा करना।

१३६—तोप् (सं०√तुप्) तोपना, ढँकना।

१३७—थक् (सं०√स्थग्–प्रा० थक्क) थकना।

१३८—थम्ह् (सं० स्तम्भते>प्रा० थंभइ) थम्हना, सँभलना।

१३९—थाह् (सं√स्था) थाहना, नापना।

१४०—थिर् (सं०√स्था–स्थिर) स्थिर होना, ठहरना।

१४१—थोप् (सं०√स्तूप–स्तूप्यति>प्रा० थुप्पइ) थोपना, गले मढ़ना।

१४२—दब् (सं०√दम्–दमयते>प्रा० दम्मइ>दब्बइ) दबना।

१४३—दर् (सं०√दल्–दलति>प्रा० दलइ–दरइ) दरना, पीसना, कुचलना।

१४४—दाग् (सं०√दह्>दग्ध्) दागना, जलाना।

१४५—दाह् (सं०√दह्–दहेति>प्रा० दहइ,) दाहना, जलाना।

१४६—दाँव् (सं०√दम्) दबाना, मँडाई करना।

१४७—दूह (सं०√दुह्–दोहति>प्रा० दोहइ-दुहइ) दूहना।

१४८—दे, देव या देह्, अथवा दीह् (सं०√दा–दीयते>प्रा० देइ) देना।

१४९—देख् (सं०√दृश्–द्रक्षयति>प्रा० देक्खइ–देखइ) देखना।

१५०—धँस् (सं० ध्वंस्–ध्वंसते>प्रा० धंसइ) धँसना।

१५१—धर् (सं०√धृ–धरति>प्रा० धरइ) धरना, पकड़ना।

१५२—धा, धाव् या धउर् (सं०√धाव्-धावति>प्रा धावइ) दौड़ना।

१५३—धिक् (सं० दग्ध) धिकना, गर्म होना।

१५४—धिरव (सं० धर्षण) धिराना, धमकाना।

१५५—धून् (सं०√धुन या ध्वन्) धूनना।

१५६—धो (सं√धु–धाव–धावति>प्रा० धोअइ–धोवइ) धोना, साफ करना।

१५७—नव् (सं√नम्–नमति>प्रा० नमइ) नमन करना, नीचे झुकना।

१५८—नहा (सं०√स्ना–स्नाति>प्रा० णहाअइ–णहाइ) स्नान करना।

१५९—नाच् (सं०√नृत्-नृत्यति>प्रा० नच्चइ) नाचना।

१६०—नाथ् (सं०√नाथ् : स्वामी वाचक :) नाथना, पशुओं को नाथना।

१६१—नाध् (सं० नद्ध) नाधना, काम में लगाना।

१६२—नाप् (सं० माप्) नाँपना।

१६३—नोंच् (सं०√लुंच–लुंचति>प्रा० णुंचइ–नोच) नोचना, अथवा हार्नले के अनुसार 'नि-कुंच्'–निकंचित>प्रा० निउंचइ) नोचना।

१६४—पक् (सं०√पच्–पक्व) पकना।

१६५—पच् (सं०√पच्–पच्यते>प्रा० पच्चइ) पचना, हजम होना।

१६६—पड़् या पर् (सं०√पत्-पतति>प्रा० पड़इ) पड़ना, सोना, गिरना।

१६७—पढ़् (सं०√पठ्–पठति>प्रा० पढ़इ) पढ़ना।

१६८—परा (सं० पलायते>प्रा० पलाअइ-पलाइ) पराना-भागना।

१६९—पाँग् (सम्भवतः संस्कृत अपांग :ऊपरी अंगः से नामिक रूप, प्रा० पंग) पाँगना, ऊपरी भाग काटना।

१७०—पाथ् (सं० पाथ्) पाथना।

१७१—पार् (सं०√पृ–पारयति>प्रा० पारेइ-पारइ) पारना, सकना।

१७२—पाल् (सं०√पा, पालयति>प्रा० पालेइ-पालइ) पालना।

१७३—पी (सं√पा–पिवति>प्रा० पिअइ) पीना।

१७४—पीट् (सं० पिष्ट>प्रा० पिट्ट अथवा देशी) पीटना।

१७५—पीस् (सं०√पिष्–पिनष्टि>प्रा० पिंसेइ या पीसेइ) पीसना।

१७६—पूछ् (सं०√पृच्छ्–पृच्छति>प्रा० पुच्छइ) पूछना।

१७७—पूज् (सं०√पूज्–पूजति>प्रा० पूजइ) पूजा करना।

१७८—पूर् (सं√पृ, पूरयति>प्रा० पूरइ) पूरना, परस्पर मिलाकर जोड़ना।

१७९—पोस् (सं०√पुष्–पोषति>प्रा० पोसइ) पोसना।

१८०—फँस् (सं०√स्पृश्–स्पृशति>प्रा० फंसइ) फँसना।

१८१—फइल् (सं० स्फिट–स्फेटयति>प्रा० फेडेइ–फेडइ या फेलइ) फैलना, पसरना।

१८२—फट् (चाटुर्ज्या महोदय इसका सम्बन्ध प्रा० भा० आ० के 'स्फाल्ट' रूप से जोड़ते हैं। यह ध्वनिअनुकरणमूलक देशी भी हो सकता है) अथवा स्फट्-स्फट्यते>प्रा० फट्टइ) फटना।

१८३—फर् (सं०√फल्–फलति>प्रा० फलइ) फलना।

१८४—फान् (सं० स्पंद्–स्पंदयति>प्रा० फंदेइ–फंदइ) फाँदना, डाँकना।

१८५—फिर् (सं० पुनः या हिन्दी फिर से) फिरना, लौटना।

१८६—फूट् (सं०√स्फुट–स्फुट्यते>प्रा० फुट्टइ) फूटना।

१८७—फूल् (सं०√स्फुट्–स्फुटति>प्रा० फुट्टइ या फुडइ या फुल्लइ) फूलना।

१८८—बँच् (सं० वंच्-वंचति>प्रा० वंचइ) वँचना, अथवा सं० व्रज–व्रजति>प्रा० वज्जइ) बँचना।

१८९—बक् (सं०√वद्) बकना, बोलना, कहना।

१९०—बज् (सं०√वद्–वाद्यते>प्रा० वज्जइ) बजना।

१९१—बझ् (सं० वन्ध्–वध्यते>प्रा० वज्झइ) बझना।

१९२—बढ़् (सं√वृध्–वर्धते>वड्ढइ) बढ़ना।

१९३—बताव् (सं० वृत्–वर्त्तयति>प्रा० वत्तावेइ) बताना, कहना।

१९४—बद् (सं०√वद्) बदना, कहना, शर्त रखना।

१९५—वध् (सं०√वध्) वध करना, मारना।

१९६—बन् (सं०√वन्–वन्यते>प्रा० वणइ) बनना।

१९७—बर् (सं०√ज्वल्–ज्वलति>प्रा० वलइ) बरना–जलना, (अथवा स० वर्हण या ज्वलन से संवद्ध–) प्रकाशित होना।

१९८—बर् (स०√वृ–वृणोति–वरति>प्रा० बरइ) बरना–वरण करना, चुनना।

१९९—बर् (सं०√वक्त् या वृत–वर्त्त) बरना, एक में मिलाकर पूरना।

२००—बरिस् (सं०√वृष–वर्षति>प्रा० वरिसइ) बरसना, पानी पड़ना।

२०१—बस् (सं०√वस्–वसति>प्रा० वसइ) बसना, निवास करना।

२०२—बह् (सं० वह्–वहति>प्रा० वहइ) बहना।

२०३—बाँच (सं० वाच्>वाचयति) बाँचना (मूल अर्थ कहना) पढ़ना।

२०४—बाँट् (सं०√बंट या वट्-वट्यते>प्रा० वट्टइ) बाँटना, अलग-अलग करना।

२०५—बाट् (सं० वृत्–वर्त्तते>प्रा० वट्टइ–वाटे) होना, रहना ।

२०६—बाल् (सं०√वल्) बालना, चारा काटना ।

२०७—बास् (सं०√वास्–वासयति>प्रा० बासेइ) बासना, सुगंधित करना ।

२०८—बाह् (सं०√वह्) बाहना, गायों को गर्भ धारण कराना ।

२०९—बीन् (सं०√व्री–व्रीणाति>प्रा० वीणइ; बीनना या वृ–वृणाति>प्रा० विणइ) बीनना–बराना ।

२१०—बीन्ह् (सं०√विध्) बींधना, छेदना ।

२११—बुता (सं०√बुध् अथवा हार्नल के मतानुसार उपसर्गयुक्त—वि-आ-वृत-व्यावृत) बुझाना, प्रकाश बुझाना ।

२१२—बूझ् (सं०√बुध-बुध्यते>प्रा० बुज्झइ) बूझना, समझना ।

२१३—बड़् (सं० ब्रूड्-ब्रुडति>प्रा० बुड्डइ) बूड़ना, पानी में डूबना ।

२१४—बेंच् (सं०√व्यच्-व्यचयते>प्रा० वेच्यइ, या हार्नले के मतानुसार उपसर्गयुक्त धातु—वि-अति-इ, व्यत्यय, विनिमय से संबद्ध) बेंचना ।

२१५—बेल् (सं०√वेल) बेलना । रोटी बेलना आदि ।

२१६—बो, बोव् (सं०√वप्-वपति>प्रा० वावइ या वोअइ) बोना ।

२१७—बोल् (सं०√ब्रू-ब्रूते>प्रा० बोल्लइ, अथवा वद्-वदति>प्रा० बोल्लइ) बोलना ।

२१८—भँव् (सं√भ्रम्-भ्रमति>भँवइ) चक्कर लगाना ।

२१९—भख् (सं०√भक्ष्-भक्षयति>प्रा० भक्खइ) भखना, खाना ।

२२०—भग् (सं०√भज्-भजति>प्रा० भजइ) भागना ।

२२१—भर (सं०√भृ-भरति>प्रा० भरइ) भरना ।

२२२—भस् या भँस् (सं०√भ्रंश-भ्रंशते>प्रा० भंसइ) भँसना ।

२२३—भाँज् (सं०√भंज्>प्रा० भंजइ) भाँजना ।

२२४—भा या भाव् (सं०√भा, या भाव, अथवा 'भू' के प्रेरणार्थक रूप 'भावयति' से भी इसका संबंध संभव है ।) भाना, अच्छा लगना ।

२२५—भाख् (सं०√भाष्) कहना, बोलना ।

२२६—भाल् (सं०√भाल्-भालयते>प्रा० भालेइ-भालइ) भालना, देखना-भालना ।

२२७—भुगुत् (सं० भुक्ति) भोगना, सहना, झेलना ।

२२८—भूँक् (सं० बुक्कन, अथवा ध्वनिअनुकरणात्मक देशी) भूँकना, अनावश्यक प्रलाप करना ।

२२९—भूँज् (सं०√भुंज्–भुंनक्ति>प्रा० भुंजइ) भूँजना ।

२३०—भेंज् (सं० व्रजन् या भिद्-भेद्यते) भेंजना ।

२३१—मँढ़् (सं० मंडन्) मढ़ना, सुरक्षित करना ।

२३२—मँच् (सं०√मंच्–मच्यते>प्रा० मच्चइ) मँचना ।

२३३—मँथ (सं०√मथ्–मंथन्) मँथना ।

२३४—मर् या मूव् (सं०√मृ–मृयते) मरना ।

२३५—मल् सं०√मृद्–मृद्नाति>प्रा० मलइ) मलना ।

२३६—मह् (सं०√मथ्–मथति>प्रा० महइ) महना ।

२३७—माँख (सं०√म्रक्ष्>प्रा० मक्खइ) माँखना, बाल का कज काटना, गढ़ना ।

२३८—माँग (सं० मार्ग (मृग) मार्गयति>प्रा० मग्गति) माँगना ।

२३९—माँज् (सं०√मृज्–मार्ज, मार्जयति>मज्जइ) माँजना ।

२४०—माँड़् (सं०√मृद्–मर्दति>प्रा० मड्डइ) माँड़ना ।

२४१—माँत् (सं० मत्त) मातना, मतवाला होना ।

२४२—मार् (सं०√मृ-मारयति>प्रा० मारेइ) मारना, (या डा० चाटुर्ज्या के मतानुसार मृद्-मार्द से संबद्ध) ।

२४३—मिट् (सं०√मृश-मृष्ट्) मिटना ।

२४४—मिल् (सं०√मिल्-मिलति>प्रा० मिलइ) मिलना ।

२४५—मीँज् (सं०√मृज् या मार्ष्टि या मृज्जति>प्रा० मिजइ) मीँजना, मलना ।

२४६—मीँस् (सं०√मृश्-मृशति>प्रा० मिसइ) मीँसना, मलना, दवाना ।

२४७—मूँड़् (सं०√मुंड्-मुंडति>प्रा० मुंडइ) मूँड़ना, ठगना ।

२४८—मून् (सं०√मुद्र-मुद्रण) मूँदना, छिद्र बंद करना ।

२४९—मूव् या मू (सं०√मृ-मरण) मरना ।

२५०—मूस् (सं०√मृस्-मृषति>प्रा० मूसइ) मूसना, चुराना ।

२५१—मोह् (सं०√मुह्-मोह्यति>मोहेइ-मोहइ) मोहना, जी लुभाना ।

२५२—रक्ख् या रख् (सं०√रक्ष्-रक्षति>प्रा० रक्खइ) रखना ।

२५३—रच् (सं√रच्-रच्यते>प्रा० रच्चइ) रचना, बनाना ।

२५४—रट् (सं०√रट् या ध्वनिअनुकरणात्मक देशी) रटना ।

२५५—रन् (सं० रणन्) रगड़ना ।

२५६—रम् (सं०√रम्-रमते>प्रा० रमइ) रमना, भ्रमण करना, अनुरक्त होना ।

२५७—रह् (सं०√रक्ष्-रक्षते>प्रा० रक्खइ) रहना ।

२५८—रिग् (सं० रिगण या देशी ?) रिगना, चिढ़ना ।

२५९—रीझ् (सं०√रंज्-रंजति>प्रा० रंजइ-रीझइ) रीझना, मुग्ध होना ।

२६०—रीन्ह् (सं०√रंध्-रंधयति>प्रा० रंधेइ-रंधइ) रींधना, सिझाना, पकाना ।

२६१—रीस् (सं०√रिष्-रिष्यते>प्रा० रिस्सइ) रिसना, टपकना, कम होना।

२६२—रुक् (सं०√रुध्) रुकना।

२६३—रून्ह् (सं√रुध्-रुणद्धि>रुधइ) रूँधना।

२६४—रूस् (सं०√रूष्-रूष्यति>प्रा० रुस्सइ) रूठना।

२६५—रेंग् (सं०√रिंग्-रिंगति) रेंगना, सरकना।

२६६—रेंड़् (सं०√रइ (धन-संपति अथवा वैभव पूर्ण होना; अथवा देशी) रेँड़्ना, धान के पौधे में बालियाँ आना आरम्भ होना।

२६७—रोप् (सं०√रुप्-रोप्यते>प्रा० रोप्पइ) रोपना, सहारा देना, धान की पौध बैठाना।

२६८—रो, रोव् (सं०√रुद्-रोदति>प्रा० रुवइ) रोना, बिलखना।

२६९—लख् (सं०√लक्ष्-लक्षते>प्रा० लक्खइ) लखना, देखना।

२७०—लग् (सं०√लग्न-लगति>प्रा० लग्गइ) लगना।

२७१—लड़् (सं०√लड्-लडयति>प्रा० लडेइ) लड़ना।

२७२—लस् या लस् (सं०√लस्-लसति>प्रा० लसइ) लसना, चिपकना।

२७४—लाङ्घ् (सं०√लंघ्-लंघ्यते-लंघति>प्रा० लंघइ) लाङ्घना, डाँकना।

२७५—लाद् (सं०√लर्द) लादना।

२७६—लाव् (सं√लव (लौ) या लाइ आग लगाना), लुभ-लौ, प्रेम की लौ लगाना) जलाना।

२७७—लिख् (सं०√लिख-लिखति>प्रा० लिखइ) लिखना।

२७८—लिप् (स०√लिप्-लिप्यते>प्रा० लिप्पइ) लीपना।

२७९—लिह् या लेह् (सं०√लभ्-लभते>प्रा० लहइ) लेना।

२८०—लुक् (सं०√लुप) लुकना-छिपना।

२८१—लूट् (सं०√लुण्ठ, लुंठति>प्रा० लुंठइ) लूटना।

२८२—लोक् (सं०√लोप, अथवा रुन्ध-रोक) लोकना, ऊपर ही ऊपर से ले लेना।

२८३—लोट् (सं०√लुट्-लुट्यति>प्रा० लुट्टइ-लोट्टइ) लोटना।

२८४—लोढ़् (सं०√लु-लुन-लूणन>लोढ़न या लवन अथवा लूनाति से संभव) लोढ़ना, तोड़ना, लाभ करना।

२८५—लोप् (सं० लोप्) लोपना, छिपा देना या नष्ट कर देना।

२८६—सक् (सं०√शक्-शक्यते>प्रा० सक्कइ) सकना, कर पाना।

२८७—सज् (सं० सज्ज) सजना, शृंगार करना।

२८८—सर् (सं०√सृ अथवा शद्-सीदति-सदति>प्रा० सड़इ) सड़ना, नष्ट होना।

२८९—सराह् (सं० श्लाघ्-श्लाघते≫प्रा० सलाहइ) सराहना, बड़ाई करना।

२९०—सह् (सं०√सह्-सहते>प्रा० सहइ) सहना ।

२९१—साध् (सं०√साध्-साधयति>प्रा० साधेइ) साधना, नापना, ठीक करना ।

२९२—सान् (सं० सेचन (१)>सेयन-सान) सानना, मिलाना ।

२९३—साल् (सं०√शूल-शारयति>प्रा० सारेइ-सारइ) सालना, कष्ट देना, ठोंक कर बैठाना यथा खटिया सालल ।

२९४ – सिझ् (सं०√सिध्-सिध्यति>प्रा० सिज्झइ) सीझना, आँच पर पकना ।

२९५—सिरिज् (सं०√सृज् या सर्ज) बनना ।

२९६—सिहा (सं० स्पृह-स्पर्ध>प्रा० सिहइ) सिहाना, तरसना ।

२९७ · सींच् (सं०√सिच्-सिचति>प्रा० सिंचइ) सींचना ।

२९८—सीख् (सं०√शिक्ष्-शिक्षते>प्रा० सिक्खइ) सीखना ।

२९९—सीज् (सं०√स्विद्-स्विटति प्रा० सिज्जइ) सीजना, ओद होना ।

३००—सीय्; सी (सं √सिव्-सीव्यति>प्रा० सिवइ-सिजइ) सीना ।

३०१—सुख् या सूख (सं०√शुष्-शुष्क>प्रा० सुक्खो) सूखना ।

३०२—सुत् या सूत् (सं० स्वप्) सोना ।

३०३—सुन् (सं०√श्रु-श्रुणोति>प्रा० सुणइ) सुनना ।

३०४—सुमिर् (सं० स्मृ-स्मरति>प्रा० सुमिरह) स्मरण करना ।

३०५—सुलुंग् (सं० ज्वल् - 'ग' आगत) सुलुंगना, मन्द-मन्द चलना ।

३०६—सुहा (सं०√सुख्—सुखयति>प्रा० सुहावेइ) सुहाना ।

३०७—सूझ् (सं०√शुध-शुध्यति>प्रा० सुज्झइ) सूझना, दिखाई पड़ना ।

३०८—सेव् (सं०√सेव-सेवते>प्रा० सेवइ) सेवा करना ।

३०९—सोच् (सं०√शुच्-शोच्यते>प्रा० सोच्चइ) सोचना ।

३१०—सोझ् या सोह् (सं०√शुभ्-शोभते>प्रा० सोहइ) सोहना ।

३११—सोह् (सं०√शुध-शुध्यति>प्रा० सोहइ) सोहना, साफ करना, निराई करना ।

३१२—हँस् (सं०√हस्-हसति>प्रा० हसइ) हँसना ।

३१३ – हट् (सं०√भ्रष्ट :१: भट्ट>हट्ट) हटना ।

३१४—हन् (सं√हन्-हन्ति-हनति>प्रा० हणइ) हनना, मारना ।

३१५—हर् (सं०√हृ-हरति>प्रा० हरइ) हरना, चुराना ।

३१६—हरख् (सं०√हृष्-हर्षति>प्रा० हरिसइ) प्रसन्न होना ।

३१७—हाँफ् (संभवतः देशी, या सं० ध्या-ध्यापयति>प्रा० धंपेड़-धंपइ-हंपइ) हाँफना, जल्डी-जल्दी साँस छोड़ना ।

३१८—हिर् (सं०√स्था-स्थिर>प्रा० हिर) हिरना, बैठना ।

३१९—हिल् (सं० $\sqrt{}$ह्वृ-ह्वरति>प्रा० हिरइ) हिलना, डुलना।

३२०—हेर् (सं० आक्षेत् ? प्रा० हेरइ) हेरना, खोजना।

३२१—हो, होव् या होख् (सं० $\sqrt{}$भू-भवति-भवइ>प्रा० हवइ) होना। (होख्-हर्नल के मतानुसार संभवतः—क्ष से संबंधित रूप—भुक्ष (या) भवक्ष>होक्ख) से व्युत्पन्न।

§१.३. उपसर्गयुक्त धातु

१—अँचव् (सं० आ-चम् :आचमन्:) आचमन करना, हाथ धोना।

२—अइँच् (सं० आ-हृत्यः पूर्वकालिक रूप सेः या आ-कृष्य् अथवा आ-कुंच् से संभाव्य) खीचना, तानना।

३—अउट् (सं० आ-वृत्) औटना, गर्म करना,
अथवा हार्नल के मतानुसार सं० अव-कुट्, अवकुठ्यति>ओउट्टइ) अवटना।

४—अउस् (सं० आ-उष्ण अथवा हार्नले के मतानुसार, अप-वस, अपवसति,>प्रा० अववसइ, ओवसइ) अउसना, मद्धिम आँच से गर्म होना।

५—अघा (सं० आ-घ्रा, आघ्राण) तुष्ट होना।

६—अटक् (सं० हठ् से सम्भावित, अथवा अट्ट-कृ>अट्टक्केइ-अट्टकइ या ध्वन्यानुकरणात्मक) अड़ना।

७—अढ़्व् (सं० आ-ज्ञा, अण्णाय>अण्णावयति>अड़ावइ) आज्ञा देना।

८—अहर् (सं० आ-घर्षण) अहरना, काट-छील कर ठीक करना।

९—आख् (सं० आ-क्षि, आक्षय) आखना, आखे से चालकर अन्न को मिट्टी कंकण आदि से पृथक् करना।

१०—आन् (सं० आ-नी, आनयन) -आनना, ले आना।

११—उकच् (सं० उत्-कृत्य पूर्व कालिक से) उकचना, किसी सटी हुई चीज का अलग होना।

१२—उकठ् (सं० अव-काष्ठ्) उकठना, पेड़-पौधों का जड़ छोड़ देना।

१३—उकस् (सं० उत्-कर्ष) गड़ी हुई वस्तु उखड़ना।

१४—उखार (सं० उत्-खनन-उक्खणन अथवा उत्+कर्ष्, उत्कर्षति>उक्कड़इ) उखड़ना।

१५—उग् (सं० उद्-गम्) उगना, उदय होना।

१६—उगिल् (सं० उद्-गिरण, अथवा उद्-गिलन) उगलना, गले से बाहर करना।

१७—उघट् (सं० उद्-घाटन), किसी की गई बात या कर्म का आख्यान करना।

१८—उघार (सं० उद्-घरण) किसी ढँकी हुई चीज को खोल देना।

१९—उचार (सं० उच्चारण या उच्चाटन) उचारना, कहना, किताब पढ़ना।

२०—उचुक् (सं० उच्च-कृ-उक्चकेइ) उचुकना, ऊँचे उठना।

२१—उछड़् (सं० उत्-चलन, उच्छालन) उछड़ना।

२२—उजर् (सं० उत्-जॄ, उज्जरण) उजरना।

२३—उझुक् (सं० उ तथा देशी धातु 'झुक्' के योग से) उझुकना, किसी आघात से ऊपर उठते हुए आगे की ओर झुक जाना।

२४—उठ् (सं० उत्-स्था) उठना।

२५—उड़् (सं० उत्-डी, उड्डीयते प्रा० उड्डेइ) उड़ना।

२६—उढ़र (सं० उत्-हरण, अर्थ विशेष में देशीकरण) किसी का घर से भाग जाना; विशेषकर ऐसी लड़कियों के लिए जो अपने परिवार की इच्छा के विरुद्ध किसी के संग भाग जाती हैं।

२७—उतर् (सं० उत्-तॄ-उत्तरति-उत्तरइ, अथवा अव-तरण-उत्तरण) उतरना, नीचे जाना।

२८—उदह् (सं० उद्-वह्) उदहना, पानी उलीचना।

२९—उघर् (सं० उद्-घरण) उघरना, लपेटी हुई वस्तु का खुलना।

३०—उपज् (सं० उत्-पद्, उत्पद्यते>उपज्जइ) उपजना।

३१—उफन् (सं० उत्-फेन) उफनना।

३२—उफर् (सं० उत्-फलन) उफरना, नष्ट होना।

३३—उबर (सं० उद्-वृ, उद्वारण) उबरना, बँचना।

३४—उबल् (सं० उत्-वल)उबलना, गर्म होना।

३५—उभर् (सं० अव-भृ, उद्भारयति>प्रा० उब्भारइ) उभरना।

३६—उमँग् (सं० उद्-मंग) उमँगना।

३७—उमड़् (सं० उद्-मंडन) उमँड़ना।

३८—उरेह (सं० उत्-रेख अथवा उत्-लेख) खींचना, बनाना।

३९—उलट् (सं० उद्-लुण्ठ, उल्लुंठन) उलटना।

४०—उलिच् (सं० उद्-ली, उल्लुंचन) उलीचना, अंजलि से पानी बाहर फेंकना।

४१—ओइँछ् (सं० उत्-अंच्, अंचन) ओइँछना, देवताओं की मानती करते समय सर के चारो ओर शकुन की चीजों को घुमाना।

४२—ओगर् (सं० उत्-गरण, उग्गरण) टपकना, पानी निकलना।

४३—ओठँघ् (सं० उत्थ-अंग, या उत्-स्तंभ अथवा, अवस्तम्भ) किसी वस्तु के सहारे टिकना।

४४—ओढ़् (सं० उप-वेष्ट ओवंठ्डइ) ओढ़ना, शरीर ढकना।

४५—ओनच् (सं० अव-कुंचन) ओनचना, खींचना-तानना; विशेषकर खाट के ओनचने में।

४६—ओन्हा (सं० अव-नम्, अवनमन) झुकाना।

४७—ओल्ह् (सं० अव-लम्बन अथवा, अव-दोलन) किसी डाल या ऐसी ही अन्य वस्तु को पकड़ कर नीचे लटक जाना ।

४८—ओह् (सं० अव-धरण) ओहना, क्रम भंग करना, छींटना ।

४९—गींज् (सं० अभ्यंग्>भंग>गंज या थंगाज>गांज>गींज) गींजना । बेकार में अधिकाधिक स्पर्श कर किसी चीज को खराब करना ।

५०—चाल् (सं० उत्चालन-उच्चालन-चालन) चालना, अन्न को अनावश्यक खर-कतवार से पृथक् करना ।

५१—निकार् या निकाल् (सं० निष्कर्ष-निष्कायति>प्रा० निक्कासेइ-निक्कासय अथवा निष्कृष्ट>निक्कडइ) निकालना ।

५२—निकास् (सं० निस्-कस-निष्कासयति>प्रा० निक्कासेइ-निक्कासइ) निकालना ।

५३—निखार् (सं० नि-क्षर, निक्षारयति>प्रा० निक्खारेइ-निक्खारइ) निखारना, चिकनाना, अच्छी स्थिति में लाना ।

५४—निथार् (सं० निस्तरण अथवा नि-स्थल>प्रा० नित्थालेइ) निथारना, साफ करना, लगे हुए द्रव आदि का बूँद बूँद उतारना ।

५५—निपट् (सं० निस्-पद, निष्पत्ति>प्रा० निप्पट्टेइ) निष्पादन करना, निपटना ।

५६—निपोर (देशी अथवा सं० निस्-पर्वं, निष्पर्वंण) निपोरना, दैन्य प्रगट करना ।

५७—निबाह् (सं० नि-वह्-निर्वाहयति>प्रा निव्वाहइ) निर्वाह करना, निभाना ।

५८—निरा (सं० निराकरण) निराना, फसल में से अवांछित घासों आदि को निकाल कर अलग करना ।

५९—निरेख् (सं० निर्-ईक्ष, निरीक्षण) निरखना, देखना ।

६०—निहार् (सं० नि-भाल, निभालयति) निहारना, देखना ।

६१—नेवँत् (सं० निमंत्रण) निमंत्रण देना, बुलाना ।

६२—पहँट् (ध्वनि अनुकरणात्मक देशी अथवा प्र-घृष्ट) पहँटना, रौंदना ।

६३—पइठ् या पइस (सं० प्र-विष्ठ>पइठ्ठ अथवा प्र-विश्) प्रवेश करना ।

६४—पकड् (सं० प्रगृहीत अथवा देशी) पकड़ना ।

६५—पखार् (सं० प्रक्षालयति>प्रा० पक्खाड़इ) पखारना, वोना ।

६६—पजव् (सं० प्र०-जव) पजाना, तेज करना, चमकाना ।

६७—पठव् (सं० प्र-स्थापन) पठाना, भेंजना ।

६८—पवार (सं० प्र-वारण) पवारना, फेंकना ।

६९—परक् या परच् (सं० परिचय) परचना, अधिक संपर्क में आ जाना ।

७०—परिख् (सं० परि-ईक्ष, परीक्षते>प्रा० परिक्खइ) परीक्षण करना, जोहना ।

७१—परिछ् (सं० परि-अंच, परिअंचन) परिछना ।

७२—परोस् (सं० परि-विष्, परिवेषण) परोसना, विशेषकर भोजन ।

७३—पसर् (सं० प्र-सृ, प्रसरति>प्रा० पसरइ) पसरना, फैलना ।

७४—पसाव् (सं० प्र-स्रवण) पसाना, गिराना ।

७५—पहिर् (सं० परि-धा, परिधीयते>प्रा० परिधेइ-परिधइ) पहनना ।

७६—पहुँच् (सं० प्र-भू, प्रभवित>प्रा० पहुच्छइ-पहुच्चइ) पहुँचना ।

७७—पा, पाव् (सं० प्र-आप-प्राप्नोति>प्रा० पावेइ) पाना ।

७८—पिघल् (सं० प्र-गलन अथवा अपि-गृ, गिर, गर, अपिगलति>प्रा० पिगलइ) पिघलना ।

७९—पेस् (सं० प्र-विश, प्रेषय) पेसना, घुसेड़ना ।

८० –पोंछ (सं० प्र-उच्छ) पोंछना, साफ करना ।

८१—फब् (सं० प्र-भवन या प्र-भा>पहा-फब्र) फबना, अच्छा लगना ।

८२ - फींच् (सं० अभ्यंचन-भिंचन-फिंचन) फींचना ।

८३—बइठ् (सं० उप-विष्ट) बैठना ।

८४—बइस् (सं० उप-विश्, उपविशति>प्रा० उवविसइ-बइठइ) बैठना ।

८५—विक् (सं० वि-क्री, विक्रीयते>प्रा० विक्केइ-विक्कइ) बिकना ।

८६—बिखर् (सं० वि-कृ 'विकिर';) विखरना

८७ –बिगर् (सं० वि-घट्, विघटते>विगढइ) विगड़ना, क्रोध करना ।

८८—विचर् (सं० वि-चर :विकारः विचरति) बिचरना, मस्त घूमना ।

८९—विचल् (सं० वि-चलन) विचलना, हटना, मुकरना ।

९०—बिछल् (सं० वि-स्तृ-विस्त्रीयते>प्रा० विच्छेइ-विच्छइ) विछलना ।

९१ –बिराव् (सं० वि-रव या विराव>प्रा० विरावेइ-विरावइ) मुँह बिगाड़ना, चिढ़ाना, विराना ।

९२—बिलख् (सं० वि-लक्ष्, विलक्षयति>विलक्खेइ-विलक्खइ) बिलखना ।

९३ –बिसर् (सं० वि-स्मृ-विस्मरति>प्रा० विसरइ) विसरना, भूलना ।

९४—विसाह् या बेसाह् (सं० वि-अव-सी>व्यवसाय) विसाहना, मोल लेना ।

९५—विहर् (सं० वि-हृ, विहरति>प्रा० बिहरइ) बिहरना, विदीर्ण होना ।

९६—बीछ् (सं० वीक्षण) बीछना ।

९७ --बीत् (सं० वि-अति-इँ-व्यतीत) बीतना ।

९८ --बीन् (सं० वृ-वृणाति-वीन) वीनना, बटोरना ।

९९—बुता (सं०वि-आ-वृत, व्यावर्त्तते>प्रा० वावत्तइ या वोत्तइ-बुत्तइ) बुताना या नामधातु वृत्-वृत्त, वृत्तापन, बुतापन; दीया बुझना।

१००—बेलस् (सं० वि-लस, विलसति>प्रा० विलसइ) विलसना, रहना, मौज उड़ाना।

१०१ - बोहार (सं० वि-अव-हृ, व्यवहरण) बोहारना, साफ करना, बनाना, झाड़ना।

१०२—भिन् (सं० अभ्यंग् या अभ्यंजन्) भिनना, फैलकर समा जाना।

१०३—भींज् (सं० अभि-अंज-अभ्यंग्-अभ्यंजते>प्रा० अब्भिज्जइ) भींजना।

१०४—भेंट् (सं० अभि-अट्-अभ्यटति>प्रा० अभ्यट्टइ) भेंटना, मिलना।

१०५—भेंज् (अभि-अंज्-अभ्यंजि, अभ्यज्जते>प्रा० अभ्यिज्जइ) भेंजना, पठाना।

१०६—लउक् (सं० अव-लुक् : अवलोक) देखना।

§ २. व्युत्पन्न धातु

व्युत्पन्न धातुओं के अन्तर्गत निम्नलिखित प्रकार के धातु आते हैं।

§ २.१ णिजंत या प्रेरणार्थक

आजमगढ़ की बोली में क्रियापदों में {–आव्} प्रत्यय जोड़कर णिजन्त या प्रेरणार्थक धातु बनाए जाते हैं। यथा—पढ़्-पढ़ाव्, कह्-कहाव्, सुन्-सुनाव्, आदि।

इसके अतिरिक्त {–वाव्} प्रत्यय का योग करके द्विगुण णिजन्त या प्रेरणार्थक रूप भी बनते हैं। यथा—कर्-करवाव्, जोत्-जोतवाव्।

परन्तु द्विगुण णिजन्त रूप केवल सकर्मक क्रियाओं के ही बनते हैं। अकर्मक क्रियाओं में णिजन्त के {–आव्} प्रत्यय का योग होने पर क्रिया सकर्मक मात्र होकर रह जाती है। अतः उनके णिजन्त रूप बनाने के लिए {–वाव्} प्रत्यय का योग किया जाता है यथा—

चल् (अकर्मक)—चलाव् (सकर्मक) चलवाव् (णिजन्त)

दउर् (अकर्मक) दउराव् (सकर्मक) दउरवाव् (णिजन्त)

§ २.२ नामधातु

नामपदों एवं क्रियामूलक विशेषण पदों में प्रत्ययों का योग करके नामधातु बनाए जाते हैं। नामधातु बनाने की परम्परा प्राचीन है। परन्तु खड़ीबोली, हिन्दी में नामधातुओं की संख्या कम है। तत्सम शब्दों के प्रयोग की ओर अधिक रुझान होने के कारण खड़ीबोली में नामधातु का व्यवहार कम होता है। परन्तु इससे खड़ीबोली में 'करना' क्रिया के रूपों का अधिक व्यवहार होता है जिससे भाषा नीरस हो जाती है। इधर कुछ लेखक खड़ीबोली में भी नामधातु का प्रयोग करने लगे हैं। परिणामस्वरूप 'स्वीकार किया' के स्थान पर 'स्वीकारा' जैसे प्रयोग होने लगे हैं।

'आजमगढ़ की बोली' में नामधातुओं का प्रयोग अधिक होता है। खड़ीबोली में नामधातु का प्रत्यय भी वही (–आ} {प्रा० भा० आ० 'आप्') है। जो प्रेरणा का, परन्तु आजमगढ़ की बोली में नामधातु का प्रत्यय {–इआव्} है। यथा—गारी-गरियाव्, लोटा-लोटियाव्, लात्-लतियाव्, माँटी-मटियाव्, आदि।

§ २.२ (ख) अनुकारध्वनिज धातु

ध्वनि-अनुकरण से विकसित अनुकारध्वनिज धातु भी नामधातु के अन्तर्गत आते हैं : इनके दो प्रमुख भेद हैं :—

(१) **साधारण या मुख्य अनुकरणात्मक** —जिनमें अनुकृति केवल एक बार होती है। यथा—टप्, ठक्, पक्, फूँक् आदि।

(२) **पुनरुक्त या द्वित्व धातु**—जिनमें अनुकृति की आवृति होती है। आवृति भेद से यह भी दो प्रकार के होते हैं।

 (१) **पूर्ण पुनरुक्त** यथा—कटकटा, खचखचा, गमगमा, घड़घड़ा, पटपटा, फचफचा, हरहरा आदि।

 (२) **अपूर्ण पुनरुक्त**—जहाँ पुनरुक्त होने वाला अंश पूर्व अंश की ध्वनियों से कुछ समानता रखने वाला तो होता है परन्तु पूर्णरूपेण समान नहीं होता। यथा—कुलबुला, चिलबिला, गड़बड़ा, हड़बड़ा आदि।

§ २.३ प्रत्यययुक्त धातु

मूलधातु अथवा नामधातु में कुछ विशिष्ट प्रत्ययों के योग से प्रत्यययुक्त धातु बनते हैं। इस प्रकार के प्रत्यययुक्त धातु उस मूलधातु या नामधातु से भिन्न अर्थ का बोध कराते हैं। आजमगढ़ जिले की बोली में प्रत्यययुक्त धातु बनाने के लिए अधिक प्रयुक्त प्रत्यय (१)–क्, (२)–च्, (३)–ट्, (४)–ड़्, (५)–र् और (६)–स् हैं। इनके योग से बने कुछ प्रत्यययुक्त धातुओं के उदाहरण निम्नलिखित हैं।

(१) **{–क्} प्रत्यययुक्त**

करक्, किनिक्, कुहुक्, खटक्, खनक्, गटक्, गपक्, गमक्, घसक्, घुटुक्, घुसुक्, चटक्, चमक्, चहक्, छटक्, छनक्, जमक्, झनक्, टरक्, टिड़ुँक्, ठुमुक्, डहक्, तमक्, थिरिक्, दहक्, परक्, फड़क्, फटक्, बदक्, भचक्, मटक्, मुरुक्, सरक्, हरक् आदि।

(२) **{–च्} प्रत्यययुक्त**

खमच्, ठकक्, डकच् आदि।

(३) **{–ट्} प्रत्यययुक्त**

कुपुट्, चिपिट्, झपट्, डपट्, लपट्, सपट् आदि।

(४) **{–ड़्} प्रत्यययुक्त**

उमड़्, घुमड़्, झगड़्, पकड़्, होंकड़् आदि।

(५) **{–र्} प्रत्यययुक्त**

कचर्, कतर्, खभर्, चभर्, छहर्, झलर्, ढुगुर, भहर्, हहर् आदि।

(६) **[-स्] प्रत्यययुक्त**

खपस्, खमस्, झऊँस्, थउस्, मकस् आदि।

§ ३. संदिन्ध व्युत्पति वाले अथवा देशी धातु

जिन धातुओं की कोई निश्चित व्युत्पत्ति नहीं मिलती, अर्थात् जो न तो मूलधातु जान पड़ते हैं और न व्युत्पन्न उन्हें देशी अथवा संदिग्ध व्युत्पति की धातु कहा जा सकता है।

§ ४. अकर्मक एवं सकर्मक धातु

कर्म के आधार पर अर्थात् किसी धातु के कर्म सहित होने, न होने के भाव के आधार पर धातु के दो अन्य वर्ग भी किए जाते हैं।

(१) अकर्मक और (२) सकर्मक।

जैसा कि पहले सूचित किया जा चुका है अकर्मक धातु में {-आव्} प्रत्यय का योग कर सकर्मक धातु में परिवर्त्तित किया जा सकता है।

§ ५. वाच्य

वाक्य में कर्त्ता, कर्म या भाव, जिस विशेष के विषय में विधान किया जाता है उसके आधार पर (१) कर्तृवाच्य, (२) कर्मवाच्य और (३) भाववाच्य प्रयोग होते हैं। कर्तृवाच्य, अकर्मक तथा सकर्मक दोनों प्रकार की क्रियाओं के साथ प्रयुक्त होता है, परन्तु कर्मवाच्य केवल सकर्मक क्रिया के साथ प्रयुक्त होता है और भाववाच्य केवल अकर्मक क्रियाओं के साथ। आजमगढ़ की बोली में यद्यपि तीनों वाच्यों का प्रयोग होता है पर कर्तृवाच्य के प्रयोग ही अधिक होते हैं।

§ ६. कृदन्तीय रूप अथवा क्रियामूलक विशेषण (participle)

आजमगढ़ की बोली में (१) वर्तमानकालिक कृदन्त {-अत्} प्रत्यय के योग से बनते हैं। इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत-प्राकृत के कृदन्तीय प्रत्यय {-अन्त} से हुई है। (२) अतीतकालिक कृदन्त {-अल्} तथा इसके कर्मवाच्य के रूप {-आइल} या {-आयल} प्रत्यय के योग से बनते हैं।

§ ७. पूर्वकालिक क्रिया

पूर्वकालिक क्रिया के रूप प्रायः {-इ} प्रत्ययान्त होते हैं तथा इनके अनन्तर 'के' परसर्ग आता है। यथा—चलिके, सुनिके, कइके। परन्तु कहीं कहीं यह {-इ} प्रत्यय नहीं भी आता है। यथा—कऽके, सुन के आदि।

§ ८. द्वैत क्रियापद

क्रिया की निरन्तरता अथवा आवृति का बोध कराने के लिए प्रायः क्रियापदों का द्वित्व प्रयोग होता है। क्रिया के द्वित्व प्रयोग में प्रायः क्रियापद {-इ} या {-अत्} प्रत्यय युक्त होते हैं। यथा—कूदि-कूदि, चलत्-चलत् आदि।

§ ९. संयुक्त क्रियापद

संयुक्त क्रियाओं का प्रयोग आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की प्रमुख विशेषता हैं। प्राचीन आर्यभाषा तथा संस्कृत आदि में क्रियाओं के जो अनेक रूप होते थे तथा उपसर्ग आदि

के योग से उनमें और अधिक भावबोध की क्षमता का जो विकास मिलता है वह सब तो आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में नहीं रहा, परन्तु उसकी क्षति-पूर्ति बहुत कुछ क्रियाओं के संयुक्त प्रयोग से हो जाती है।

संयुक्त क्रियापद मुख्य रूप से दो प्रकार के हैं :

(१) नामपदयुक्त (२) क्रियापदयुक्त

(१) नामपदयुक्त -

संयुक्त क्रियापदों में धातु के पूर्व नाम या कृदन्तीयपद अथवा क्रियामूलक विशेषण पद रखे जाते हैं। यथा – कान फूँकल, टेनी मारल, कहत् भयल्, चलय् लगल्, आदि। इस प्रकार के संयुक्त क्रियापद विशिष्ट अर्थों का बोध कराते हैं तथा मुहावरे के रूप में प्रयुक्त होते हैं।

(२) क्रियापदयुक्त—

क्रियापदयुक्त, संयुक्त क्रियापदों के बहुविधि प्रयोग होते हैं। यहाँ तक कि विपरीत अर्थ रखने वाले क्रियापदों के योग से भी संयुक्त क्रियापद बनते हैं जो विशिष्ट अर्थों का बोध कराते हैं। यथा—उठि बइठल, चल्-परल्, लेवे-देहल्, रोवत्-गावत्, चलत्-फिरत्, लूटत्-पाटत् आदि।

काल-रचना

§ १०.१ प्रमुख काल तीन हैं, भूत, वर्तमान और भविष्य। परन्तु क्रिया-व्यापार की पूर्णता-अपूर्णता अथवा सामान्यता, तथा उसके निश्चयार्थ, आज्ञार्थ और संभावनार्थ रूपों के आधार पर कालों की संख्या १६ हो जाती है। रूप-रचना के अनुसार इन कालों के दो प्रमुख वर्ग हैं—(१) मूलकाल अथवा साधारण काल, (२) संयुक्त काल। इनमें हिन्दी तथा उसकी अन्य बोलियों की भाँति आजमगढ़ जिले की बोली में भी संयुक्त काल के रूप वर्तमान-कालिक तथा भूतकालिक कृदन्त रूपों में सहायक क्रिया जोड़कर बनाए जाते हैं।

§ १०.२ इस बोली में उत्तम पुरुष में प्रयुक्त रूप दोनों लिंगों में समान होते हैं। साथ ही 'म' श्रेणी (म, मय्, मों) के रूपों को छोड़ 'हम्' श्रेणी (हम्, हमहन्, हमहन् लोगन्) के रूप दोनों वचनों में भी एक से होते हैं। वस्तुतः इस बोली में उत्तमपुरुष एकवचन में प्रयुक्त "हम" बहुवचन का ही रूप है अतः उसी के अनुसार एकवचन के क्रिया-रूप व्यवहृत होते हैं। मध्यमपुरुष तथा अन्यपुरुष एकवचन के आदरार्थ रूपों के लिए भी बहुवचन के रूपों का ही व्यवहार होता है। लिंगानुसार भेद केवल कृदन्ती कालों में ही होता है। तिङन्त रूप दोनों लिंगों में समान होते हैं।

संयुक्त काल के कृदन्त रूपों में लिंगानुसार भेद किया जाता है। पुल्लिग रूपों में {–इ} प्रत्यय का योग कर स्त्रीलिंग रूप बनाए जाते हैं। संयुक्त काल के कृदन्त रूप सभी पुरुषों एवं वचनों में समान होते हैं, इनमें केवल लिंग-भेद पाया जाता है। परन्तु इनके साथ जोड़ी जाने वाली सहायक क्रियाओं में पुरुषवचन आदि के अनुसार रूप भेद होते हैं।

§ १०.३ सहायक-क्रिया

जैसा कि ऊपर कहा गया है, काल-रचना में सहायक क्रिया का योग महत्वपूर्ण है। आजमगढ़ जिले की बोली में संयुक्त काल के निर्माण में 'ह' या 'हो' सहायक क्रिया के रूपों का व्यवहार अधिक होता है। परन्तु भूतकाल में इसके स्थान पर 'रह्' (रहना) सहायक क्रिया के रूपों का व्यवहार होता है। इसके अतिरिक्त इस जिले की बोली में वर्तमान निश्चयार्थ काल में यत्र-तत्र 'बाट्' सहायक क्रिया का भी व्यवहार किया जाता है। 'बाट्' तथा 'ह' क्रिया के रूपों का स्पष्ट विभाजन नहीं किया जा सकता परन्तु 'बाट्' का व्यवहार अपेक्षाकृत कम होता है। कुछ क्षेत्रों में इसका 'वाड़्' उच्चारण भी होता है।

'ह' के रूपों के साथ मध्यवर्ती एवं पूर्वी अंचलों में अ, आ, ए या ओ का योग होने पर प्रायः 'व' की श्रुति होती है परन्तु पश्चिमी अंचल में स्वरों का स्पष्ट उच्चारण होता है अथवा यदाकदा 'य' श्रुति होती है।

अहंकार मनुष्य का प्रबल शत्रु है

पं० चन्द्रबली त्रिपाठी

मनुष्य के विनाश का सबसे प्रबल कारण है उसका अहंकार। "मैं ही सब कुछ हूँ", "मेरा विचार ही सबसे अच्छा है", "मैं ही सबसे अधिक सुन्दर हूँ", "मैं धनी हूँ", 'मैं पण्डित हूँ, अहंकारादि भावनाओं के कारण संसार में कलह झंझट, युद्ध, महायुद्ध की विभीषिकाएँ उठ खड़ी होती हैं। क्या यह अभिमान सार्थक हो सका है ? नहीं, कदापि नहीं। रावण, दुर्योधन, कंस, हिरणकश्यप, नैपोलियन, सिकन्दर आदि अहंकारियों ने आखिर क्या लाभ उठाया। उन्हें भी हाथ मलते ही इस संसार से बिदा होना पड़ा, फिर आपकी क्या बिसात। आपसे अधिक तो इसी धरती में अनेकों रूपवान्, धनवान, शक्ति और सामर्थ्यवान् विद्यमान हैं फिर यह अहंकार आपका क्या प्रयोजन हल कर सका है। आध्यात्मिक विकास की सबसे बड़ी बाधा मनुष्य के अहंकारपूर्ण विचार ही होते हैं। संसार की क्षणभंगुरता को हमेशा ध्यान में बनाए रखने से ही यह सम्भव है कि मनुष्य इस दुष्प्रवृत्ति से बचा रह सके।

इसी प्रकार मत्सर, ईर्ष्या और डाह का भाव भी मनुष्य के अधःपतन का कारण होता है। मनुष्य अपनी शक्तियों का विकास मानवोचित ढंग से करे तो इससे किसी का अहित नहीं होता, पर जब दूसरों की समृद्धि देखकर लोग ईर्ष्या, द्वेष रखने लगते हैं तो वहीं वैयक्तिक और सामूहिक आन्तरिक पतन प्रारम्भ हो जाता है। मनुष्य का जीवन इसलिए नहीं मिला है। हमें सेवा, सत्कार प्रेम दया, न्याय आदि के विकास के लिए साधन स्वरूप यह शरीर उपलब्ध होता है. इसलिए प्रेम, स्नेह, आत्मीयता सौजन्य, सहिष्णुता और उदारता आदि भावों को विकसित करें तो ठीक है। अहंकार का त्याग कर मनुष्य यदि वैराग्यभावना को स्थापित करे तो वैराग्यभावना में निस्सन्देह बड़ी शक्ति है, बुरे से बुरे संस्कार वैराग्य के बादलों से घुलते देखे गए हैं। कामासक्त तुलसीदास, दुष्ट दुराचारी वाल्मीकि, हिंसक व्याध और अंगुलिमाल जैसे व्यक्तियों के हृदय में जब वैराग्य भावना का प्रवाह उमड़ा तो उनके जीवन की धाराएँ ही बदल गईं। सभी सन्त महात्मा और महान पण्डित बन गए।

अहंकार के प्रतिरोध में उत्पन्न वैराग्य भावनाओं से ईर्ष्या, दुश्चिन्ता और संघर्षपूर्ण विचार समाप्त होते हैं और प्रेम, दया तथा मैत्री भाव जागृत होते हैं इन भावनाओं से अहंकार की उत्तेजना समाप्त हो जाती है।

संसार की किसी वस्तु को पाकर अहंकार न करो, सभी विषयों में एक से एक बढ़कर पड़े हैं। अपने को छोटा मानकर नम्रता और विनय के साथ सबसे समानयुक्त व्यवहार करो। तभी सच्ची राह मिलेगी। जो अहंकार से अन्धे हो रहे हैं वे तो पथभ्रष्ट हैं। सबका हित करो, सबको सुख पहुँचाने का ध्यान रक्खो, फिर तुम्हारा हित और तुम्हारा सुख तो तुम्हारे संगी ही बन जाएँगे।

भारतीय विधान मण्डल में राष्ट्रपति तथा राज्यपाल के अभिभाषण

केदारनाथ अग्रवाल
शोधछात्र, राजनीति विज्ञान विभाग

भारतीय संसद तथा राज्य विधान मण्डल के सदनों की संयुक्त बैठक में क्रमशः राष्ट्रपति तथा राज्यपाल के भाषण, ब्रिटिश संसदीय प्रणाली की देन हैं। ब्रिटिश संसदीय प्रणाली की अन्य विशेषताओं में एक विशेषता विधान मंडल तथा मंत्रिमंडल में अत्यन्त घनिष्ठ संबंध का होना भी है। प्रारम्भ में ब्रिटेन की संसद का स्वरूप लोकप्रिय नहीं था तथा राजा व्यक्तिगत रूप से शासन करता था, इसीलिए संसद की प्रत्येक बैठक राजा के भाषण से प्रारम्भ होती थी। यह व्यावहारिक दृष्टिकोण से अनिवार्य था। सर्वप्रथम जब राजा अपनी इच्छानुसार शासन करता था तब संसद के सदनों की पहली संयुक्त बैठक में उसका भाषण उसकी स्वयम् की इच्छा और आज्ञा को व्यक्त करता था। दलीय अनुशासन, संसदीय बहुमत दल और मंत्रिमण्डल के सम्बन्ध, और 'सहायता और सलाह' के सिद्धांत के विकास ने ब्रिटेन की संसद के स्वरूप में परिवर्तन किए। यह लोकतन्त्रात्मक हुई। इस परिवर्तन के कारण राजा के भाषण के स्वरूप में परिवर्तन हुआ। यह भाषण राजा की व्यक्तिगत इच्छा तथा आज्ञा के बदले, मंत्रिमण्डल की नीति व कार्यक्रमों का परिचायक हो गया। इस भाषण के स्वरूप मे परिवर्तन होने पर भी भाषण देने के स्थल में कोई परिवर्तन न हुआ। राजा सदा की भाँति आज भी लार्ड सभा में ही सिंहासन से भाषण करता है। उसकी अनुपस्थिति में लार्ड सभा के अध्यक्ष लार्ड चान्सलर राजा के प्रतिनिधि की हैसियत से भाषण करते हैं। सदा की भाँति आज भी कामन्स सभा के सदस्य अपने अध्यक्ष के संग लार्ड सभा के बाहर खड़े होकर इस भाषण को सुनते हैं।

हमने अपने संविधान में ब्रिटिश संसदीय प्रणाली को ही अपनाया ह। संविधान के ८७(१)वें तथा १७६(१) वें अनुच्छेदों में यह व्यवस्था की गई है कि प्रतिवर्ष विधान-मण्डल के प्रथम सत्रारम्भ तथा साधारण निर्वाचन के पश्चात् प्रथम सत्रारम्भ पर, राष्ट्रपति तथा राज्यपाल क्रमशः संघीय तथा राज्यों के विधान मण्डल के सदनों की सम्मिलित (जिन राज्यों के विधान मण्डल में केवल एक ही सदन है, उनमें केवल उस सदन की) बैठक में भाषण करेंगे[1]। भारत में इस व्यवस्था को हम राष्ट्रपति तथा राज्यपाल के अभिभाषण के रूप में जानते हैं। इस व्यवस्था के अनुसार मंत्रिमंडल राष्ट्रपति अथवा राज्यपाल के

---

* 'विधान मण्डल' संघीय संसद तथा राज्य विधान मण्डल दोनों के लिए सामूहिक रूप में प्रयुक्त हुआ है।

[1] संविधान में प्रथम संशोधन (१९५१) के पूर्व इन अनुच्छेदों में प्रत्येक सत्रारम्भ पर भाषण की व्यवस्था थी।

माध्यम से विधान मंडल के सम्मुख अपने कार्यक्रमों को उपस्थित करता है और अपनी नीतियों की व्याख्या करता है[1]।

इन भाषणों से विधान मण्डल के यथार्थ स्वरूप का दिग्दर्शन भी होता है। विधान मण्डल वर्तमान संसदीय प्रणाली में देश पर दलीय शासन के एक साधन हो जाते हैं। विधान मण्डल का कार्य मंत्रिमंडल की इच्छानुसार, यथेष्ट विचार-विनिमय के पश्चात् कार्य करना ही है। विधानमण्डल के समय पर मंत्रिमण्ल का सावारणतः नियंत्रण रहता है। सरकारी कार्य, निजी सदस्यों के कार्यों की अपेक्षा विधान मण्डल का अधिक समय लेता है। निजी सदस्य कुछ प्रश्नों[2] पर बिना राष्ट्रपति अथवा राज्यपाल की पूर्व सम्मति के, कोई भी प्रस्ताव विधान मण्डल के सम्मुख उपस्थित भी नहीं कर सकते हैं। वास्तव में ये भाषण विधान मण्डल के उस यथार्थ राजनीतिक स्वरूग को स्पष्ट करते हैं जो दलीय शासन को लोकतंत्रात्मक बनाता है। हमारे संविधान में राष्ट्रपति तथा राज्यपाल क्रमशः संघीय तथा राज्यों के विधान मण्डलों के अंग हैं। राष्ट्रपति तथा राज्यपाल ही औपचारिक रूप में क्रमशः संघ तथा राज्यों के प्रवान शासक हैं, तथा मंत्रिमंडल केवल एक परामर्शदात्री परिषद् है। अतएव विधान मण्डल के सम्मुख शासकीय कार्यक्रम इन्हीं प्रधान शासकों के द्वारा प्रस्तुत करना वांछनीय है। ब्रिटेन तथा अन्य राष्ट्रमण्डलीय देशों में भी प्रधान शासक यथासंभव व्यक्तिगत रूप में ही विधानमण्डल के सम्मुख भाषण करते हैं।

ब्रिटेन की परम्परा को हमने अपने लिखित संविधान का एक अंग बनाया है। परिणामस्वरूप यह भाषण राजनीतिक महत्व के साथ-साथ वैधानिक महत्व भी प्राप्त कर लेता है। वैवानिक महत्व के कारण, एक विचारधारा इस भाषण को राष्ट्रपति तथा राज्यपाल के द्वारा व्यक्तिगत रूग से पढ़े जाने पर अत्यन्त जोर देती है। उसके अनुसार ऐसा न होने पर विधानमण्डल का सत्र पूर्ण वैधानिक न होगा। १९६५ में पश्चिमी बंगाल में राज्यपाल कुमारी पद्मजा नायडू विधान मण्डल के सदनों की संयुक्त बैठक में अपना भाषण बैठक की अव्यवस्था के कारण पूरा न पढ़ पाई, तथा संसद के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक में राष्ट्रपति अपनी आँख की तकलीफ के कारण, अपना भापण स्वतः पूरा न पढ़ सके। इसी तरह भाषा की कठिनाइयों के कारण उत्तर प्रदेश के राज्यपाल भी गतवर्ष विधान-मण्डल के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक में अपना भाषण स्वतः पूरा न पढ़ पाए। इन घटनाओं के कारण यह संदेह व्यक्त किया गया कि ये सत्रारम्भ पूर्ण वैधानिक नहीं थे[3]। इन सन्देहों का यह आधार है कि संविधान के ८ वें तथा १७४ वें अनुच्छेदों के अर्न्तगत किया गया सत्रारम्भ स्वतः में पूर्ण नहीं है।

---

[1] यद्यपि संविधान में ऐसा स्पष्ट उल्लेख नहीं है फिर भी ब्रिटेन की संसदीय प्रणाली के अनुसार जिससे इस व्यवस्था को लिया गया है, इसका यथार्थ महत्व यही है।

[2] वित्त विधेयक, बजट इत्यादि,—देखें संविधान के ११३(३), ११४(२), ११७, २०३(३), २०४(२), २०७ अनुच्छेद।

[3] १९६५ में संसद के प्रथम सत्र के प्रारंभ में लोकसभा के सदस्य श्री हरिविष्णु कामथ ने ऐसी शंका व्यक्त की थी।

प्रारूप संविधान के इन अनुच्छेदों पर संविधान सभा में यह संदेह व्यक्त किया गया था कि इन अनुच्छेदों के द्वारा हम राष्ट्रपति को प्रत्येक सत्र के प्रारम्भ में संदेश देने के लिए बाध्य कर रहे हैं[1]। इसके उत्तर में डा० अम्बेडकर ने यह स्पष्ट किया था कि इन अनुच्छेदों की भाषा ब्रिटेन की संसद की परम्परा से ही प्रभावित हैं, तथा इनका अर्थ वही है जो ब्रिटेन की कामनसभा के संदर्भ में होता है[2]।

इन अनुछेदों के पूर्ण विश्लेषण के लिए हमें विधान मण्डल के सत्रारम्भ सम्बन्धी अन्य संवैधानिक व्यवस्थाओं पर ध्यान देना पड़ेगा। संविधान के ८५ वें तथा १७४ वें अनुच्छेदों में यह व्यवस्था है कि राष्ट्रपति तथा राज्यपाल क्रमशः संघीय तथा राज्यों के विधान मण्डलों के सदनों के सत्र को बुलाएँगे। इन्हीं अनुच्छेदों में यह भी व्यवस्था है कि विधान मण्डल के किसी सदन की दो बैठकों में ६ महीने से अधिक समय का अन्तर नहीं होंगा। इन्हीं अनुच्छेदों के अनुसार राष्ट्रपति तथा राज्यपाल क्रमशः संघीय तथा राज्यों के विधान मण्डलों का सत्रान्त तथा लोक सभा और विधान सभाओं का विघटन भी कर सकते हैं। इन दोनों अनुच्छेदों की विशेषता यह है कि राष्ट्रपति तथा राज्यपाल एक निश्चित अवधि के अन्दर विधान मण्डलों के सत्रारम्भ करने के लिए बाध्य हैं[1]। संसद तथा राज्यों के विधान मण्डलों को इन्हीं अनुच्छेदों के अन्तर्गत सत्रारम्भ के लिए बुलाया जाता है। इन दोनों अनुच्छेदों के अन्तर्गत दिए गए आदेश पूर्ण हैं। इन आदेशों को किन्हीं अन्य औपचारिकताओं के माध्यम से पूर्ण करने की कोई आवश्यकता नहीं होती।

विधान मण्डल के सत्रारम्भ के आदेश के पश्चात् व्यावहारिक रूप से यह अनिवार्य हो जाता है कि शासक विधान मण्डल के सम्मुख उसके निमित्त कार्यक्रम रखे। इसी व्यावहारिक आवश्यकता की पूर्ति संविधान के ८७ (१) वें तथा १७६ (१) वें अनुच्छेदों में की गई है। यह उल्लेखनीय है कि राष्ट्रपति अथवा राज्यपाल अपने राजकीय भाषण में नीतियों की जो व्याख्याएँ करते हैं वे व्याख्याएँ अनिवार्य रूप से अपरिवर्तनीय नहीं होतीं। यह भी स्पष्ट है कि इस राजकीय भाषण में जिन कार्यों के करने का उल्लेख रहता है, उन सभी कार्यों को विधान मण्डल के सम्मुख उसी सत्र में उपस्थित करने के लिए राष्ट्रपति अथवा राज्यपाल बाध्य नहीं हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि संविधान के ८७ वें तथा १७६ वें अनुच्छेदों की व्यवस्था पूर्णतः राजनीतिक है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि इन दोनों अनुच्छेदों में मूलभूत रूप से प्रत्येक सत्रारम्भ पर राजकीय भाषण की व्यवस्था थी, लेकिन संविधान में पहले संशोधन के द्वारा यह व्यवस्था की गई कि साधारण निर्वाचन के पश्चात् विधान मण्डल के सदनों की पहली संयुक्त बैठक में तथा प्रतिवर्ष के प्रथम सत्रारम्भ के अवसर पर राष्ट्रपति अथवा राज्यपाल का भाषण होगा। इस व्यवस्था से भी स्पष्ट

---

[1] संविधान सभा की कार्यवाही (अंक ८ पृष्ठ ११०)

[2] वही, पृष्ठ ५५९।। डा० अम्बेडकर ने कहा था कि उन्होंने इन अनुच्छेदों की भाषा सर गिलबर्ट कैम्पियन द्वारा लिखित, An Introduction to the procedure of The House of Commons (1947, p.107) सेली थी।

रूप में राजनीतिक सुविधा परिलक्षित होती है। साधारण निर्वाचन के पश्चात् राष्ट्रपति तथा राज्यपाल क्रमशः संघीय संसद तथा राज्य विधान मण्डल की सदनों के प्रथम सत्रारम्भ पर नये मंत्रिमण्डल की नीति तथा कार्यक्रमों को स्पष्ट करते हैं। इसी तरह प्रतिवर्ष प्रथम सत्रारम्भ पर मंत्रिमण्डल नये साल के लिए अपनी नीति तथा कार्यक्रमों की व्याख्या करना सुविधाजनक पाता है।

इन अनुच्छेदों के अतिरिक्त ८६ वें तथा १७५ वें अनुच्छेदों के अनुसार क्रमशः राष्ट्रपति तथा राज्यपाल विधान मण्डल के सदनों में भाषण दे सकते हैं, संदेश भेज सकते हैं, एवम् एतदर्थ विधानमण्डल के सदनों की संयुक्त बैठक अनिवार्यतः बुला सकते हैं। यह व्यवस्था संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के संविधान से प्रभावित है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के विधान मण्डल का सत्रारम्भ राष्ट्रपति के भाषण से नहीं होता क्योंकि वहाँ राष्ट्रपति मंत्रिमण्डल तथा विधान मण्डल से सीधे संयुक्त नहीं होता। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के राष्ट्रपति समय-समय पर विधान मण्डल में संदेश तथा भाषण देने के अधिकारी हैं, एवं एतदर्थ विधान मण्डल के सदस्यों की उपस्थिति अनिवार्य है। ८६ वें तथा १७५ व अनुच्छेदों की व्यवस्था, ८७ वें तथा १७६ वें अनुच्छेदों की व्यवस्था के अनुरूप होते हुए भी भिन्न है। ८६ वें तथा १७५ वें अनुच्छेदों की व्यवस्था राजकीय आवश्यकता, राष्ट्रपति तथा राज्यपाल की इच्छा तथा सुविधा पर निर्भर है। यह उल्लेखनीय है कि ८६ वें, १७५ वें तथा ८७ वें, १७६ वें, अनुच्छेदों की व्यवस्थाएँ वैधानिक रूप से भिन्न होते हुए भी विधान मण्डल तथा मंत्रिमण्डल के घनिष्ठ सम्बन्धों को ही स्पष्ट करती हैं। इन व्यवस्थाओं के माध्यम से मंत्रिमण्डल समय-समय पर अपनी नीतियों की व्याख्या विधान मण्डल के सम्मुख करने में समर्थ होता है। ८६ वें तथा १७५ वें अनुच्छेदों की व्यवस्था का उपयोग क्रमशः राष्ट्रपति तथा राज्यपाल अपने व्यक्तिगत विवेक के द्वारा भी कर सकते हैं। यदि राष्ट्रपति तथा राज्यपाल किसी विधेयक पर अपनी स्वीकृति नहीं देना चाहते, अथवा किसी विधेयक को विधान मण्डल के पास पुनर्विचार के लिए भेजना चाहते हैं, अथवा उसमें किसी संशोधन का होना अपेक्षित समझते हैं तो वे संविधान के ८६ वें तथा १७५ वें अनुच्छेदों के अन्तर्गत विधान मण्डल में भाषण दे सकते हैं, अथवा संदेश भेज सकते हैं। ये भाषण तथा संदेश विधान मण्डल के लिए विचारणीय होंगे। यह उल्लेखनीय है कि ८७ वें तथा १७६ वें अनुच्छेदों के अन्तर्गत क्रमशः राष्ट्रपति तथा राज्यपाल द्वारा दिए अभिभाषण पर यदि विधानमण्डल निन्दा प्रस्ताव पास कर दे, तो मंत्रिमण्डल को त्याग-पत्र देना होगा क्योंकि यह अभिभाषण स्पष्टतः मंत्रिमण्डल की नीति तथा कार्यक्रम को ही प्रकट करता है। चतुर्थ साधारण निर्वाचन के पश्चात् उत्तर प्रदेश में गुप्ता मन्त्रिमंडल ने अभिभाषण पर निन्दा प्रस्ताव पास होने पर त्यागपत्र दे दिया था। पंजाब में मुख्य मंत्री गुरनाम सिंह ने इसको अपने लिए राजनीतिक रूप से अपेक्षित नहीं समझा और अभिभाषण पर विधान सभा में विरोधी पक्ष का संशोधन स्वीकार किए जाने पर भी त्याग पत्र नहीं दिया। उन्होंने कहा कि उत्तर प्रदेश में शासक दल से कुछ लोग अलग हो गए थे। पंजाब में ऐसा नहीं हुआ है और विरोधी पक्ष का संशोधन सरकार की मान्य नीति है। अतएव उनके मंत्रिमंडल के लिए त्याग पत्र देना अनिवार्य नहीं है। पंजाब के मुख्य मंत्री का कथन और आचरण

संसदीय लोकतंत्र की स्वस्थ परम्परा के अनुकूल नहीं है। विशेष कर जब एक से अधिक राजनीतिक दलों की संयुक्त सरकार बनती है उस समय दल विशेष की नीति और मंत्रिमंडल की नीति में अन्तर पड़ता है। भाषा संबंधी जो संशोधन विरोधी पक्ष में रखा गया था और जिसे विधान सभा ने पारित किया था उसे संयुक्त मंत्रिमंडल का एक दल जनसंघ नीति रूप में स्वीकार नहीं करता है। अतः अभिभाषण में भाषा संबंधी नीति का उल्लेख न होना केवल एक भूल नहीं है: वास्तव में अभिभाषण ही मंत्रिमंडल की संयुक्त नीति को स्पष्ट करता है। अन्ततः स्वस्थ परम्परा को बनाए रखने के लिए अभिभाषण पर निन्दा प्रस्ताव पारित होने पर मंत्रिमंडल का त्याग पत्र अपेक्षित है। चूँकि मंत्रिमंडल विधान सभा के प्रति उत्तरदायी होता है। अतः विधान परिषद में यदि अभिभाषण पर निन्दा प्रस्ताव प्रारित हो जाए तो मंत्रिमंडल को त्याग पत्र देना राजनीतिक रूप से भी अनिवार्य नहीं है। यह स्थिति ८६ वें तथा १७५ वें अनुच्छेदों के अन्तर्गत दिए हुए भाषण तथा संदेशों की विधान मण्डल द्वारा अस्वीकृति पर नहीं होगी, क्योंकि ये भाषण तथा संदेश अनिवार्यतः मंत्रिमण्डल की नीति तथा कार्यक्रम को स्पष्ट नहीं करते।

संविधान में उल्लिखित इन सभी अवसरों पर राष्ट्रपति अथवा राज्यपाल की व्यक्तिगत उपस्थिति अनिवार्य है, अथवा नहीं, यह विचारणीय है। संवैधानिक व्यवस्थाओं में राष्ट्रपति तथा राज्यपाल के भाषण अथवा संदेश के लिए यह स्पष्ट निर्देश नहीं है कि ये व्यक्तिगत होने ही चाहिए। इसके अतिरिक्त यदि व्यक्तिगत रूप से भाषण को संवैधानिक रूप से अनिवार्य समझा जाए तो इस अनिवार्यता के उल्लंघन को रोकने में न्यायपालिका समर्थ नहीं है, क्योंकि ऐसा उल्लघन प्रक्रिया की अनियमितता है जिसमें न्यायपालिका सविधान के १२२ वें तथा २१२ वें अनुच्छेदों के अन्तर्गत कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकती है[१]। यह भी कहा जा सकता है कि सत्रारम्भ, बैठक नहीं है, अतएव प्रक्रिया की अनियमितता का भी प्रश्न नहीं उठता क्योंकि प्रक्रिया की अनियमितता केवल बैठक में ही हो सकती है। इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि सत्रारम्भ पर विधानमण्डल के पटल पर राष्ट्रपति अथवा राज्यपाल का अभिभाषण रखनामात्र ही अनिवार्य है। इतने से ही संवैधानिक आवश्यकता की पूर्ति हो जाती है।

जैसा पहले कहा जा चुका है, राष्ट्रपति तथा राज्यपाल क्रमशः संघीय तथा राज्यों के विधान मण्डल के एक अंग हैं। ये विधानमण्डल न केवल विधि निर्माण में परामर्श देने के अधिकारी हैं, वरन् सार्वभौमिकता का प्रकटतः (ostensibily) उपभोग करने के भी अधिकारी हैं। इन्हीं के एक अंग राष्ट्रपति तथा राज्यपाल हैं, जो प्रधान शासक हैं। अतः राष्ट्रपति तथा राज्यपाल विधानमण्डल में भाषण, प्रकटतः सार्वभौमिक संस्था के एक एक अंग अन्य अंगों को निर्देशमात्र ही है। इस आधार पर भी यह कहा जा सकता है कि

---

[१] देखिए—सैयद अब्दुल मन्सूर हबीबुल्ला बनाम अध्यक्ष, पश्चिम बंगाल विधान- सभा (C. W. N. १९६४-६५ अंक LXIX नम्बर २२ पृष्ठ ४८४)।

सार्वभौमिक संस्था के एक अंग से अन्य अंगों को संदेश आदि व्यक्तिगत रूप में देना अनिवार्य नहीं है। यदि हम ब्रिटेन की परम्परा को देखें तो इस धारणा की पुष्टि होगी। ब्रिटेन के राजा का ब्रिटेन के विधान मण्डल में उसके सत्रारम्भ पर भाषण व्यक्तिगत रूप में नहीं होता, वरन् सार्वभौमिक संस्था के एक अंग के रूप में होता है[1]। यद्यपि विधानमण्डल के गौरव, उसकी मर्यादा, तथा अवसर की गंभीरता के हेतु, यह अपेक्षित है कि राष्ट्रपति तथा राज्यपाल व्यक्तिगत रूप से ही भाषण करें, तथापि व्यक्तिगत रूप से भाषण करना संवैधानिक अनिवार्यता नहीं है।

---

[1] इग्लैण्ड में सार्वभौमिकता King(queen)-in-parliament में निहित है।

PRINCIPAL H. B. MALKANI

SHRI SITA RAM CHATURVEDI

Principal, Town Degree College, Balia

Matthew Arnold said of Shelly that he was a beautiful and ineffectual angel beating in the void his luminous wings in vain; but Principal H. B. Malknī (Harkishandas Bulchand Malkānī) of the Teachers' Training College, Banaras Hindu University, was a beautiful and effectual angel who fluttered his luminous wings gracefully and usefully in the colourful abundance of human lives dazzling and enlightening all those who happened to share the lustre as his associates, friends or pupils.

Principal Malkānī belonged to the Āmil Sindhi community of Hyderabad (Sind), the city of Manghās (wing-catchers), which now forms part of West Pakistan. He was a recipient of the Dakshinā Fund Scholarship which was awarded to the best student only, when he was studying for his M.A. in English-cum-Persian. After having passed his M.A. of the Bomby University from the D.J. Sind College, Karachi, in 1912 and S.T.C.D. Examination at Bombay in the following year under the well-known educationalist Professor Fraser of the Teachers' Training College, Bombay, he worked as a teacher for some time in the Government High School, Government Normal School and the D.A.V. College, lahore. He also served as Headmaster of a School in the Punjab for some time. He then joined the Central Hindu College of the Banaras Hindu University as an Assistant Professor of English in January, 1918 and belonged to the illustraious trio hailing from Sindh, viz., Kripālnī (Achārya), Chhablānī and Malkānī.

He belonged to the laudable galaxy of Professors of English who graced the Department of English Literature of the Central Hindu College of the Banaras Hindu University: Professors Jai Gopāl Bannerji, J. N. Unwālā, P. Seshādri, Bīreshwar Nāth

Bannerjī, Shyam Narain Lāl, Jiwan Shankar Yajnik, Nāg, B. L. Sahani and all others of like eminence. He was one of the most impressive teachers of English that I ever came across. His extremely charming method of exposition, his clearly articulated and intonated expression, his superb mastery over the English Language and Literature, his sweet, amiable, sympathetic and winning manners, and above all, his ever-smiling and inviting demeanour endeared him to all those who came in close contact with him and were privileged of being taught by him. His pupils did not merely admire him for his extraordinary talents as a teacher but also honoured and loved him for his sweet temperament and sympathetic treatment. And even now, when he has departed from this world for a divine company, his reference anywhere, in any context and in any company brings a shiver of loving memories of his witful humour, spirited and living jokes and innumerable acts of benevolence towards all who often came to seek his assistance and guidance.

He earned such a high repute as a Professor of English that his services were soon transferred to the Teachers' Training College of the Banaras Hindu University as he was an S.T. C.D. also of the Bombay University, and as such, equally and aptly qualified to impart training to the pupil teachers of the Teachers' Training College, specially to those who used to offer Specialisation Courses in the Teaching of English. There, too, he made a mark for himself as a great trainer of teachers and a celebrated educationalist. He had his own ideologies about Indian education which were utterly at variance with the Wetern ideologies which had been thrust upon us by the British masters. Though he often used to remark in a jocund mood, "I shall be the last Englishman to leave India," he was through and through an ardent Indian and a devoted Hindu, though he often clad himself in European attires whenever he went to the College or responded to civil obligations.

He was deeply religious and had unflinching faith in the Hindu religion and the Sikh sect. He made no distinction between the two and considered them as wholly one and the same. On the one hand he used to pay regular visits to the temple of Vishwanathji, keeping awake in the precincts of the temple throughout the whole night on the Shiva-rātri day; on the other hand, he used to recite Sukhmaṇi Sāheb at home every morning and evening with great devotion. He used to arrange pāth of Guru Granth Sāheb whenever he sought occasion for the same. He was very fond of visiting holy places of pilgrimage like Ayodhyā, Jagannāth Purī, Mathurā and Brindāban. He was in unison with Rāma and Hanumān at Ayodhyā and found pleasure in playing HOLI with Krishna in the temples at Mathurā, Brindāban, Gokul and other places in Braj. It was a pleasant experience to hear him narrate with repture and enthusiasm his spiritual and supra-sensual experiences of such visits and it left no iota of doubt in the minds of the hearers that he really had personal communication with the gods he so devoutly contacted. He had a huge store of Bhajans from Tulasī, Sūra, Mīrā, Kabīr and Nānak at the tip of his tangue and he used to sing them in a loud, melodious and sonorous voice with a correct tune and rhythm whenever he was in his elements. His children also joined him in chorus and it was an unforgettable experence to enjoy the melodies of the choral songs sung in wild ecstasy.

He was formerly the warden of the First Hostel (now used by the Central Hindu School at Kamachha) but later on, he shifted his residence to the south-west block of the King Edward Hostel at Kamacchha where he assumed wardenship of the above hostel which formerly accommodated pupil-teachers of the Teachers' Training College as well as students of the Central Hindu College. He was fondly called and regarded as Mother Malkanī and was often publicly greeted as such; and he, too, took pleasure in being addressed as such with a spirit of sincere hilarity, chivalry and sportsmanship. He deserved the attribute very justly, for, he took personal care of all the wards placed under his care in the hostel irresppective of age and postion and paid individual attention to their needs, comforts and welfare. It was his daily routine to take a round both in the morning and the evening after the roll call. He used to go from room to room talking to and sometimes playing pranks with the inmates of the hostel individually. He knew each and every hosteller by name and nature and accorded the kind of regard, effection and treatment that one deserved.

He was often very entertaining in the company of his pupils specially when camp-fires were organised in the College Campus or the precincts of the hostel. Once, when the pupil-teachers were undergoing Scoutmaster's Training and holding Camp-fire, the Regional Organising Commissioner requested him to contribute an item to the Camp-fire programme. He readily got up with his team of eleven children (now fifteen) holding each other's shirt-furls from behind and forming a queu. The audience burst into a thunder of laughter as he went round and round the fire with a chook–chhook sound of a moving locomotive and thus added an interesting item to the day's programme. He was never behind anybody on any occasion, whether literary, social, cultural, recreational or athletic. His presidential comments and learned observations on several such occasions like Tulasī Jayantī and Shrikrishna-Janmāshtamī celebrations were ample evidences of his wide study and interest not only in the English Literature but also in other Indian Literatures and religions. He possessed a rich store of apt quotations in the forms of couplets and stanzas from English, Persian, Urdu, Hindi and Sufi poets at hand which he quoted every now and then at opportune moments.

As Principal, too, he was very considerate to his colleagues, the ministerial staff and the peons and it was a matter of joy to work with him and under him. He possessed the admirable quality of standing by his colleagues and defending them against all odds. He never allowed anyone to dishonour or slight anyone of his colleagues under any circumstances. He always extended his fatherly effection towards the younger professors and a brotherly regard for his associates who belonged to his own age.

I cannot afford to forget one very great event of his life which projected his magnanimity of heart, purity of soul, high sense of morality and god-fearing spirit. When the Executive Council of the Banaras Hindu University allowed him to supersede his elder colleague Pandit Chandra Mauli Sukul, who had worked as Acting Principal of the Teacher's training College for a pretty long time, he felt greatly perturbed when he learnt that the decision had gravely hurt the feelings of Sukulji and that he was feeling greatly slighted, dejected and humiliated on that account. Principal Malkani cosidered it an act of sacrilege on his part to assume the position without appeasing Sukulji. He soon found the way out. He went to Sukulji's house, stayed with him for a couple of days, for, he felt the pangs more acutely as he sincerely believed that grave injustice had been done to his colleague. He eventually succeeded in getting him pacified. His perseverance was crowned with success. He was triumphant in winning the favour of Sukulji because he consisered it morally and spiritually wrong to assume the Principalship under the circumstances. Not only that, he made it a point to hold all the meetings of the College thencefourth in Sukulji's room, entrusted to him all the important portflios pertinent to the post of the Principal including the task of selecting the candidates and never took any decision without consulting him or getting his approval. It goes entirely to his credit that he showed all respect, reverence and regard to Sukulji till he retired of superannuation.

He was a great lover of music and drama and was himself a good singer. It was at his instance and initiative that the famous Abhinava Rangashālā at Vārāṇasī was stationed in the hall of the Teacher's Training College building at Kolhua where the present Central Hindu School is housed. He never felt the least hesitation in appearing on the stage as a singer or an actor. It was usual for him to join choruses with his pupils and children. He was a child among children and assumed all the pertinent gravity when in a more sober company of the elite of the town or the University.

For two years, he was at Aligharh as the Principal of the Dharma-Samaj Inter College from July 1929 to June 1931. But his ardent love for Banaras and the Banaras Hindu University could not permit him to remian there for long. The management of the Aligarh College gave him all inducements and allurements but one fine morning he left that place with bag and baggage and joined back his duties in the Teacher's Training College, Banaras Hindu University. It was in a dramatic performance at Aligarh that he appeared as a Nawab with some of his colleagues as courtiers and gave such an excellent performance in histrionics much beyound the expectations of the spectators that his unique feat as a stage-artist is remembered there even now.

It was perhaps only once in his life that he found himself non-plussed. It happened that one Shree Wadhāwā hailed from Dera Ismail Khan of the old N.W.F. Provinces to join the B.H.U. Teacher's Training College at an advanced age of fifty, for, he could not be confirmed as Inspector of Schools without being trained and could not get admission in the Lahore Training College. Principal Malkani was then the warden of the hostel and when he was informed by Shree Wadhāwā that he was older to him by two years, Principal Malkani promptly remarked, "My dear friend, you may be older to me in age, but I am senior to you in one respect, and it is that I have eleven children." At this, Shree Wadhāwā meekly submitted with a blush on his face, "Excuse me Sir, I have fourteen." Malakānījī was not only nonplussed at this unexpected revlation but gazed speechlessly at Shree Wadhāwā for long with a blank look. As long as Shree Wadhāwa was in the College and even after he had passed out, Malakānījī often narrated this event to his friends and pupils with genuine interest.

He retired from the Banaras Hindu University in 1953 and after six months went to Calcutta as the guardian tutor of a rich Mārwari family of the well-known Surajmal Nagarmal firm and remained there for about five years. After that, he came over to Banaras and at intervals passed some months with his eldest son Anand at Mathurā, where he is Head of the department of English at the K. R. College, or with his third son Bhawānī Shankar, who is the Manager of the Government Roadways. He spent most of his time in Kāshī behind the Vaidyanath temple at Kolhua. He never wanted to go outside Banaras and longed to give his last breath to this holy city. Suddenly, he met an accident at the house of his dear pupil and a millionaire of Kashi, Dr. Rai Govind Chandra, on the 27th December, 1965 where his foot slipped and he broke his hips at the door of the kitchen where he had gone to take his lunche on after inspecting the Mehta Inter College, Varanasi. For some days, he underwent treatment at his residence but was afterwards shifted to the Shree Siva Prasad Gupta Hospital where he could not recover in spite of the best madical care and breathed his last on February 12, 1966.

With apologies to Shelly, it can be said of Principal Malkani :—

Hail to thee, blithe spirit,
Mortal thou never wert ;
That from heaven or near it
Poured thy fullest heart
In profuse strains of unpremediated art.

OUR CHILDREN LITERATURE & ITS FUTURE

D. P. PATNAIK

College of Fine Arts

We had our children's stories from the times immemorial and we will have them always. So long as we have love for children we will try to please them with stories. To please is the main purpose of stories. The cave man also did that for his children. He used to describe his struggle, the struggle with his prey, a bison, an elephant a deer or a tiger, the struggle with nature, the struggle with the so-called spirits. Those stories had their purpose. We can not say exactly whether the cave man invented those stories with any aesthetic purpose. Probably he gave an account of his own darings with some exaggeration. Gradually these accounts took the form of stories, very interesting and amusing for others. Sometimes he might have given an account of things which never happened. And those he put before his children with no other motive but that of pleasure.

All that he narrated did not go without any result. Those stories made his children brave and bold in practical life, gave them pleasure, enriched their imagination and enhanced their creative power.

So stories have their purpose, the purpose of entertaining, the purpose of solving some problems. We know the story of a king in Hitopadesh who appointed a teacher to mend his way-ward children and the teacher through the medium of stories turned them from the evil path to good path.

Each part of the world has its own stories for its children. It is surprising that all these old stories are alike. A close study will show that the stories of a particular type though belonging to different parts of the world have followed a common trend. But these stories have their own distinctive features as well. Each type gives a picture of life, the social environment, and natural surroundings of the land to which it belongs.

In the old fairy tales we got the people's hopes and aspirations, their desire to improve life and lighten labour.

Our wonder tales, though they seem fantastic are charged with imagination. They reveal a strong desire for invention. Here we find the dreams of man to conquer evil powers. The stories whisper in to the mind's ears of children to be fearless, couragious and noble. Stories change from age to age, from period to period. They move with the problems of the age.

Let us see our Giant stories. Giants are always mischievous and no body has any sympathy for them. And we always find a child like Jack killing them. Here we mark that the cave man with the medium of his story had tried to develop courage in his children to hunt a terrible-bison or a ferocious line. Similarly the story teller coming after him had tried to develop courage in children to kill a cruel giant.

There was a time when kings had their days. They tortured poor people, poor peasants. Stories of that period reveal feelings of dislike for kings. A peasant's son with the help of magic defeats a king and marries his daughter. Anderson's Tinder box is a story of that type.

The magic stories give us a clear idea of man's age old longing to conquer evil to subjugate the forces of nature. In times of low morals the story teller tried through his story to each children the lesson of morality. When people took to sea voyage we find stories written with the purpose of instilling courage in children so that when their time would come they may venture out in to sea without fear.

Disunity is always a problem with every age, every nation. So we have our stories of Panchatantra. We all know the story of four friends, a crow, a rat, a tortoise and a deer, who lived together in a forest. In Hans Andersen's story we meet four friends, an old ass, an old dog, a cat and a cock. Through their unity they made marvel. We know a Russian folk tale, how in to a mitten of an old man there came a rat and lived there. He made room for a frog; then came a rabbit; he was allowed in and then came a wild bear; then at last a bear got in. The spirit of coexistence is very nicely expressed through this story. Only those who are free from temptations can achieve success in life. They only can bring fortune to their motherland. This is one of the morals taught through the medium of stories.

We were under foreign yoke for a good many years. I have no thorough knowledge about the stories of this period. Now we are independant. We have our problems. There are still giants amidst us who are no less cruel than the giants of our old stories.

We want friendship with our neighbouring countries. We may have foes with whom we may have to fight some day. Our unity is cracking and we want to preserve it. Moreover, we want pleasure, innocent pleasure. We want our children to be merry. Now many new things are coming to us, new thoughts, new inventions are pouring in. We want our children to develop an interest in all these things. Our approach should not be direct. We should not say, "don't tell a lie, Speak the truth". We should not also make them utter some cheap slogans as x and y bhai bhai. That bhai bhai spirit should be very deep-rooted in them.

This is a complaint of the elderly people that the younger generation is gradually forgetting how to behave with the elders. We want a socialistic pattern of society. We want to do away the difference between the rich and the poor. We have to solve the problem of untouchables. So new stories should bloom carrying new fragrance in them. The new spirit should creep in to the minds of our children.

The story writer should be very careful about writing a story for children. The story should be very entertaining in the first place, if the story writer intends to preach a moral, he should do it in such a way that the moral does not become obtrusive.

In the story of Lewis Carrol's Alice in wonder land, in Hans Andersen's Stories and also in Panchatantra Stories we get lots of moral lessons. The morals are hidden in them just as our hygienic theories hidden in our religious rites.

I went through a story entitled "What a goose": The story runs thus. A goose who was not satisfied with his own neck, approached a swan for an exchange of his neck. In this way he exchanged his beak with a pelican, legs with a crane, wings with a crow, tail with a peacock and comb and wattle with a cock. Thus he lost his originality, lost the balance of his body and put himself in to danger.

This is a good moral for those who discard their original thoughts and borrow them from others and thereby lose their originality. The moral is not directly said here. There is no 'do' or 'don'ts' here but it is a beautiful story, very nicely managed and wisely put.

In our country we have enough of stories in form of narrative poetry. We have our wise sayings, ingenious riddles, delightful fairy tales, mysterious tales about sprits thrilling stories about heroes who selflessly defended their country or boldly entered the seas. These are our capital and by investing them we can produce endless number of stories teaching our children love for country, faith in unity, goodwill for common folk, confidence in the triumph of good over evil, the virtue of puntuality and so many other good things.

I hope that our stories will express up to date ideas. They should be fresh and unhackneyed, palatable, and appealing, touching and charming. They should lead our children along the right path.

EDUCATIONAL IMPORT OF ACCOUNTING

H. S. KULSHRESTHA

Department of Commerce

Educational import of accounting, in more simple words, means the educational value which accounting has for those who study or practise it. It may look surprising to doubt the educational value of a subject which is a part of education and in which formal teaching takes place even at the highest leve. But, the bewildering situation prevailing presently in many of our educational institutions and the haviour of the so called educated people even at the top are enough to make one suspicious of the educational value of our education. Further, as soon as the meaning of the term 'educational value' as contemplated in this paper is made clear, it may not remain so surprising ; and therefore, even before disclosing the intention of this paper, it may be worthwhile to realise as to what does real education constitute ?

What is Education ?

According to the Indian traditions education means "initiation into the life of spirit, a training of human soul in the prusuit of truth and the practice of virtue. It is a second birth, 'dvitiya janma'".* Naturally, religion and philosophy were the main subjects constituting education. The three R's were, however, supposed to facilitate the communication of the ideas about these subjects and were useful in day to day life. Subsequently, more and more developments might have resulted in the subject matter which the Indian 'Rishis' used continuously for years for their meditation. Many of these new fields were not related only with the training of soul and the results achieved by meditation in such fields brought out knowledge useful for the material prosperity and social well being of man.

By and by, the education previously aiming at the initiation into the life of spirit, search for truth and the practice of virtue also started to serve as 'a means to earn a living, a nursery of thought and training for citizenship'. The use of education as a means to earn one's living became more preovelent as time passed so much so that even Goswami Tulsi Das while enumerating the symptoms of 'Kaliyug' mentioned that the people will impart that education (if by 'dharm' he meant education) to their children which will help them in earning their living. It is not stronge that the forecast made by Tulsi Das has come quite true.

Modern Concept of Education

In the modern sense of the term, education means systematic instructions and as such any branch of knowledge or type of skill can be the subject matter of education. It is, however, to be distinguished from the term 'training' which is more commonly applied to systematic instructions for education in the use of some technique or in the following of some process. For a layman, education is equivalent to literacy and a person with ability to read and write is said to an educated one.

Unfortunately, these modern concepts of education have changed the very impact of education on society. The systematic instructions in different branches of knowledge always aim at helping the individuals to whom these instructions are given to earn their living. All the recipients of such instructions have similar approach and the primary aim of even modern education remains unfulfilled. Incidently, this change-over from the traditional concept of education to that of modern one is quite evident in their recognising peacock as India's national bird in place of swan ('hans'). The latter on which symbolically our godess of learning rides has a peculiar characteristic, viz., its ability to separate milk from water. In fact, this very quality of separating relevent from irrelevent which comes only with a proper sense of reasoning forms the base of real education. Any education which fails to inculcate in the recipient this basic quality is not a real education. On the other hand, peacock is more beautiful to look at and has its attractive and charming colours and pleasing crows. Modern education too is more showy and has little to do with the qualities a really 'educated person' should possess.

Characteristics of Real Education

Now, to turn to the main characteristics of real education none will disagree that apart from collection of information which is labelled as knowledge, a true education aiming at developing the various faculties, i.e. inherent powers of man has three main characteristics—(1) a sense of relevence, (2) ability to reason correctly and (3) power to concentrate. All these three characteristics which are interrelated and inter dependent do not require any explanation and are yet important.

Main Theme of the Paper

To what extent accounting, as a subject, has the scope of inculcating these qualities in those who study or practise it is the main question which is proposed to be discussed in this paper. For answering this question in an appropriate manner, besides knowing what really education means, one has also to be aware as to what accounting constitutes.

Taking it for granted that the meaning of the term 'accounting', its subject matter and the way in which its various principles or practices are formulated are not at all controversial,* one can very well realise the significance of its name, i.e., accounting. 'To account for' means to give reasons. Even in Italy, the so called birthplace of accounting, it is called 'ragioneria' and the word 'ragione' from which it is derived means reason. Some one may say, what is there in name? But it is a fact that accountants are taken to be the most competent 'arbitrator'. Even in present days, the accountant with his knowledge of business laws and sense of reasoning functions as an arbitrator atleast in cases about which he has more accounting information. In our country, however, the case was different in early years of accounting on account of lack of qualified accountants. Even the function of an accountant, viz., certifying the correctness of Final Accounts in case of joint stock companies was performed by the lawyers ; because legal education was imported before business or accounting education. But, even this may be interpreted to show that accounting function needed a sense of reason as law is based on reasoning. Although the fact is that many a time law is based only on convention, while accounting, though presently so, may be so developed as to leave nothing for convention which itself is not based on reason. Even the question of debit and credit side falling on left and right respectively as also particular form and order adopted for the preparation of Balance Sheet can be subjected to sound reasoning.

It may, however, be noted here that it is the conceptual aspect of accounting and not the practical aspect of it which develops the faculty of reasoning in the accountants. Helps in one of his essays has suggested that a study of subjects like Geometry is the best way of inculcating the habit of correct reasoning. Accounting is in no way less effective in this respect.

Turning to the second most important characteristic of education, viz., the sense of relevence and the ability to separate relevent from irrelevent it may be remarked that this characteristic automatically follows the first one and an individual awakened to reason is seldom irrelevent. Still, the two are different ; because one may talk about matters which are relevent but may follows wrong reasoning and similarly, one may be quite reasonable as far as the logic in his arguments is concerned but may be refering to things not relevent to the point. The 'neer-ksheer vivek' pointed out above is of maximum use as a proverb for doing justice. An accountant or a student of accounting is required by the very nature of the subject to do justice not only with various individuals but also among various accounting periods, different responsibility centres, among the various divisions or ventures of the same accounting unit and even the transactions. A minor injustice done to any period, account or venture, may mislead the management and defeat the very purpose of accounting. It is, therefore, expected that accounting as a subjet has more scope to train its students in making justice and in being reasonable. This, however, does not amount to saying that accountants will be better judges as compared to those having legal education. To be an efficient judge, in fact, means to give judgement in accordance to 'law ; and therefore, the education which helps the judge is, if not mainly, to some extent informative.

There is one thing more about relevence. Generally, it is said that an intelligent student may present the irrelevent matter so as to look relevent while sometimes an unintelligent student puts the relevent material in such a way so that it looks to be irrelevent. It depends on the proper or improper linkage of the different ideas expressed by the student concerned. But it is true only of subjects where mere theoretical discussion is made and accounting has little chance for making the irrelevent relevent.

Finally, to take up the habit of concentration as an important force to educate the individual and also as a significant achievement towards the training of one's mind, there is no doubt that accounting, specially its practical aspect, warrants a great deal of concentration. It is true that a subject by itself cannot create any such power in an individual. But it has the capacity to develop an inherent power (in this case the power of concentration) which would have remained undeveloped in the absence of the study of that subject. While studying a purely theoretical subject too concentration produces better results, but it is neither so essential nor so easy in their case to drive out all but one thought from the mind. On the contrary, accounting being both of conceptual and applied nature, its students find occasions to get engrossed in making calculations, in casting or in balancing of accounts. There are theoretical situations as well where an accountant has to get lost in meditating about the way in which justice can be done to a particular period, venture etc. or the way in which accounting information may be interpreted with the most effective and accurate results.

It may, however, be pointed out that it does not mean that other subjects do not have educational value. There may be a difference of degree and cases of exceptions. One may be a rational thinker even without studying accounting. But, normally it is expected that an individual trained in accounting will be more awakened to reason and justice. Particularly, the interpretative aspect of accounting makes him more analytical and critical in his approach.

A Reference to the Present Educational System

The extent to which these basic faculties are likely to be developed in man with the present educational system may be a matter of controversy. Today's student is burdened with number of subjects which are merely informative and do not develop the qualities discussed above. Besides, information or techniques useful in practising a particular trade or profession which should actually be called a training are given and explained under the lable of education. Not that informative or job oriented subjects are not useful for those who study them, but without the basic qualities which make up true education those subjects are not of much value and even the informative value is not properly used. Moreover, it gives a wrong concept of education to its recipients and the society which results in so many ills. There is, thus, a need for separating pure informative subjects from the basically educative subjects, so that by shifting the emphasis from the former to the latter at appropriate stage of education the most essential faculties in the students may be developed. The information or techniques valuable for certain trades or professions should be taught not under the label of education but as training whether in the form of systematic instructions or that of training on the job. The former, viz., giving information to the individuals may be left to individuals themselves so that they may have the pleasure of self education. It is only on account of there being a large number of the recipients of the same information that even informative subjects are made a part of education and the information reaches the recipients not directly from books but through a teacher. The merits and demerits of the two methods depend respectively on the quality of the book and the ability of the teacher concerned. But, it is sure that the teacher or the books in such cases import very little of such education which has the characteristics discussed in this paper.

Finally, it may I observed that a subject like accounting having enough scope for the development of faculties which real education should do must be given due recognition at the hands of the educationists. Signs are, no doubt, visible to show that even in India the conceptual aspect of this subject will be fairly developed in the near future. What remains to be done is its introduction rather reintroduction at the primary and high school level as a part of arithmetic. For commerce education it is a must and the growing scope and significance of accounting in business and more appropriately in management have enabled it to take a higher position in the syllabi of the commerce faculties of different universities and institutions. It is again the utilitarian aspect of accounting which has made the educational authorities concerned to include it in their courses in agriculture, engineering, technology, pharmacy etc. Still, it is necessary to include it in appropriate form in our general educational system so as to make our young men more reasonable, relevent and capable of concentrating on a single point. We should never ignore the fear which Elliot has pointed out in the following lines :

> "Where is the wisdom we have lost in knowledge ?
> Where is the knowledge we have lost in information ?
> The cycles of Heaven in twenty centuries
> Bring us farther from God and nearer to dust."

HERO OF THE VEṆISAMHARA

R. P. DUBEY,
Deptt. of Samskrit & Pali
College of Indology

The word hero (नायक[1]) means, one who leads the events to the final result, which are determined by him. He is a man of innumberable good qualities. He should be young, handsome, modest, generous, firm, intelligent, glorious, prompt, energetic, readywitted and furnished with proper pride, a sound memory, skill in arts and sciences and right regard in code of laws.[2] Moreover, the hero must be present directly or indirectly, in the entire play. All the events should centre around him. He ought to be connected with the principal theme of the play and at the end he should pronounce the "भरत वाक्य"—the final blessing.[3]

The heroes have been classified[4] into many types according to their role and attitude. The main types are, the ललित[5] (gay or light hearted), the उद्धत[6] (haughty or vehement), the उदात्त[7] (exalted) and the शान्त[8] (calm). But it is to be noted that the nobility or self-control is essential for all of them, whatsoeve type they might be and the chief hero must belong either of these types, because it is necessary for the preservation of unity of the development of the play.

---

[1] नयति नाट्यवस्तु (कथानकम्) इति नायकः

[2] नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः ।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढवंशः स्थिरो युवा ।।
बुद्धयुत्साह स्मृति प्रज्ञाकलामान समन्वितः ।
शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः ।। दशरूपक, II, 1-2.,
See also नाट्यशास्त्र XXIV, 4-6 & साहित्य दर्पण III, 30

[3] All the heroes राम, दुष्यन्त, अग्निमित्र, पुरुरवा and माधव do it in their respective plays.

[4] दशरूपक, II, 3 ; साहित्य दर्पण, III, 31

[5] The character of वत्सराज उदयन in the plays by भाष & हर्ष

[6] Role of रावण and दुर्योधन, contrasted with राम and युधिष्ठिर in महावीर चरित and वेणी संहार respectively. Probably, the theory of Samskrit drama does not alow a haughty type of character to be chief hero.

[7] राम in उत्तर रामचरित, दुष्यन्त in शाकुन्तलम्

[8] चारुदत्त in मृच्छकटिक or दरिद्रचारुदत्त and माधव in मालतीमाधव

The वेणी संहार is a heroic drama in 6th acts, based on an episode of the great epic महाभारत. It is the only writing of भट्टनारायण, the shining star in the galaxy of Sanskrit dramatists, which enjoys a great populairy by its fascinating nature and dramatic technic. Characters, in it, are sketched in such a fine style and living manner that it surpasses all dramas except अभिज्ञान शाकुन्तलम् and उत्तर रामचरित. But it has become a problem to decide the chief hero of the play and this is why the question, "who is the hero of वेणी संहार often strikes the mind of the readers and critics as well. Likewise, a similar question is raised in विशाखदत्त's मुद्राराक्षस which may be incidently pointed out here. It is to be discussed, why such controversy arises ? Probably, it is because of scarcity of such criteria, which is acceptable on all hands and the possession of which gives a character to the position of the hero of a play. It may be also due to the unskilful handling of the plot by the dramatist and his unwillingness to give to any character such preponderating importance by which he may secure the status of a hero. Apart from this, it is by dint of delineation of almost all the claiments in a same light.

In वेणी संहार, there are three claiments to the title of the hero of this play (1) युधिष्ठिर, the head of the पाण्डव's party, (ii) दुर्योधन, the eldest brother of कौरव's and the sovereignity ruler and (iii) भीमसेन, the second among the five पाण्डव. Let us think, whose claims, for being considered as the hero, is justified.

युधिष्ठिर has been regarded as the hero of वेणी संहार by rhetoricians and old commentators. His claims are but natural as he is the eldest of all the पाण्डव's, the truimphant party. He enjoys the fruit of the whole of the actions of the play. The five[1] of his anger excites in the first act, and the some is accepted as the बीज[2] (seed) of the drama by the scholars, in his favour. It is he, who pronounces the भरत वाक्य the final bendicatory stenza[3]. He belongs to a hero of उदात्त (exalted) type. Besides, in the last half of the 6th act his character is depicted in such a manner, which furnishes ground for his claims to be a hero. But due to certain facts his claims are pointess and he must not be favoured by assigning the status of a proper hero. He is neither seen in the first five acts nor does he play any important part even in the 6th act, where he is on the stage. His character is not attractive among the claiments. Spectators are not interested in his neutral nature and he has got no concern with the main theme of the drama, the tying up of द्रौपदी's loosend hair. So far as the proclamation of भरत वाक्य by him is concerned, he enjoys this advantage because of his headship and this mere action is not sufficient to exalt him to the position of the hero of वेणी संहार. It seems not just to say, as some scholars presume, that the main aim of this play is the victory of truth over wrong, for it is a drama, which is founded on that particular incident of महाभारत, in which भीमसेन makes a vow to break the thighs of दुर्योधन, where he invites द्रौपदी to sit on and by whose blood the rearrangement of her loosend hair be equipped.

Next comes दुर्योधन as a claiment. Some scholars regards him the hero of वेणी संहार on account of his valour and glory. He claims the highest attention and excites much sympathy from the people. His resolute personality captures the mind of the audience. The dramatist has depicted his character by spending the most of his skill and none except him could enjoy such accurate attention of the writer. He is a faithful friend, beloved brother and an extra ordinary warrior. He is always present from the beginning of the 2nd act up to the end and indeed he has been the Central figure of the play from 2nd up to the 5th acts. Though we do not see him in act 6th, yet some fine trait of his character is brought out here also, which is very important from the point of view of the knowledge of his nature. In this way, almost all essential qualities are found in him and therefore, he should be the hero. Thus, he is a character in whose fortune the spectators are interested the most like the poet himself, even then, we should not regard him as the hero by taking some points into account. Are the ominous events, attached with him, not the sign of his fall from very beginning ? Has he got any connection with the main purpose of the play ? Does Indian mind welcome a tragedy by taking him as the hero. ? The answer is no, never, Hence, he too is not the hero, like युधिष्ठिर, but the rival hero, in the real sense.

---

[1] यत् सत्यव्रत भंग भीरुमनसा यत्नेन मन्दीकृतं,
यद्विस्मर्तुमपीहितं शमवता शान्ति कुलस्येच्छता ।
तद्द्यूतारणिसंभृतं नृपसुता केशाम्बराकर्षणे :,
क्रोध ज्योतिरिदं महत् कुरुवने यौधिष्ठिरं जृम्भते ।। वेणी संहार

[2] It is the incipient occurrence from which the action springs, see दशरूपक I, 17 & साहित्य दर्पण TI 65.

[3] वेणी संहार, act, VI, 46

भीमसेन is the third and the last claiment. His claims are grounded on some bare facts. He is directly related with the main theme, the rearrangement of द्रौपदी's dislevelled hair by killing दुर्योधन and this principal incident is the base of the title of वेणी संहार. He is never absent from our vision from the very beginning, when we first make his acquaintance in the 1st act up to the end of the drama. In the opening act of the play भीमसेन vow before द्रौपदी by the dreadful proclamation, "O queen, I will beautify your dislevelled hair with my hands reddened with the greasy, congealed thick blood of सुयोधन, whose pair of thighs shall have been well pulverized by the strokes of the terrible mace brandished in my restless arms."[1] This declaration is the cause of the whole of the play, which seed is sown in act one and the harvest of which has been reaped by him at the close of the 6th act.[1] Except it भट्टनारायण has tried, more or less, to make his character chaming and to keep him before the spectators. His heroic character captivates the readers from the very early up to the last moments of the performance. भीमसेन is the only claiment by whose role in fact, every action of it is alive. In act Ist he is the main figure around whom the interest of all centres. The entire 2nd act deals with the love story of भानुमती but even here in the dream of भानुमती he is referred in connection with नकुल (inchneumon) who kills hundred of serpents. This is a profacy by which it is clear that the hundred of कौरव's will be killed by भीमसेन in near future. In this very act he is further brought to our notice by the announcement of कन्चुकी that दुर्योधन's flag-staff has been broken by the fearful wind. Here, the use of dramatic irony[2] is, of cource, very much artistic, which reminds भीमसेन and his vow by its fine example of paronomasia (श्लेष) At the end of the 3rd act भीमसेन is heard to fulfil his second vow of drinking the blood of दुःशासन by killing him, though this act is devoted to depict the reaction of valiant अश्वत्थामा after the death of his father, द्रोण and the sarcastic conversation between him and कर्ण. In 4th act, there is a vide description of battle-field by सुन्दरक in which भीम's role is recorded, who is proceeding towards his real vow, the accomplishment of tying up of द्रौपदी's hair. Act 5th again records दुर्योधन's affairs, but the dramatist has brought भीम farward on the stage for whom specially spectators are very much curious since 2nd act and who could appear before their eyes in the mean time. At last, the actual victory of भीम is shown in act 6th. Thus भट्टनारायण has kept भीम along with his vow before the vision of the audience from the 1st up to the last acts of the play. Therefore he is proper person, whom the position of the hero suits.

---

[1] चंचदभुजभ्रमितचण्डगदाधिघात्त-
संचूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य ।
स्त्यानावनद्धघनशीणित शोणपाणि-
रुत्तंसंघिष्यति कंचास्तव देवि भीमः ।। वेणी संहार act, I, 21.

---

[1] क्रोधान्धैर्यैस्य मोक्षात् कुरुनरपतिभिः पाण्डुपुत्रः कृतानि,
प्रत्याशं मुक्त केशान्यनुदिनमधुना पार्थिवान्तः पुराणि ।
कृष्णायाः केशपाशः कुपितयमसखो धूमकेतुः कुरूणां,
दिष्टया बद्धः प्रजानां विरमुत निधनं स्वस्ति राज्ञां कुलेभ्यः ।

ibid act VI, 42

[2] दुर्योधन—पर्याप्तमेव करभीरु मभीरुयुग्मम् ।।
कन्चुकी—(प्रविश्य) देव, भग्नम् भग्नम्-
(भग्नम् भीमेन भवतो मरुता रथकेतनम् ।)

वेणी संहार, act II, 2

Some commentators may object this conclusion by some reasons. First, भीम's personality is less interesting and lacks various trains in comparision with दुर्योधन. Secondly, he is not a hero of उदात्त type and finally he does not announce the भरतवाक्य ।

In answer to these objections the points to be marked are that the draw back lies in the dramatist himself, who wants the sense of proportion in delineating the character and gives more importance to दुर्योधन, whose character has become more interesting than the main hero. Regarding his haughty character, it will not be unjust, if it is said that in a heroic drama it is but essential, where revenge is to be taken by crushing the ill spirit of the illdoers and the true lession is to be taught them. Really, the instance of 'tit for tat' is not unnatural hero. So far as the announcement of भरतवाक्य is concerned, how भीम can be expected, when his reverend eldest brother is present before him on the stage. Thus, we find no reason for भीम's dynamic personality not to assign him the status of proper hero of वेणी संहार ।

FINANCES FOR INDUSTRIAL GROWTH OF UTTAR PRADESH

Dr. G. S. BARANWAL

Department of Commerce

Uttar Pradesh is one of the most populous States of India and occupies the fourth position with a population of 649 persons per square mile. However, this State has not been fortunately placed so far as its net income and per capita income are concerned. The net income of Uttar Pradesh stood at about Rs. 1805 crores in 1960-61 and the per capita income was only Rs. 246 as against per capita income of Rs. 327 of the whole country for the same period. Thus the per capita income of Uttar Pradesh was about 25% less than that of the entire country. In this context Sri N. N. Agrawal, Industrial Adviser, Uttar Pradesh Government has observed, "The per capita income of U.P. happens to be the lowest in India and it would be observed that this low income pulls down the all India average"* Thus U.P. stands as the poorest of all the States in India. In respect of literacy also, Uttar Pradesh, with the percentage literacy of 17.6%, occupies the last place among all the States. Thus Uttar Pradesh is the most backward State in India and its industrial development is the crying need of the hour. Finance is the basic need for industrial development of any region. With finance, it is possible to purchase nearly all the factors of production required for industrial growth. Finances for the development of Uttar Pradesh can be broadly discussed under the following heads :

1. Finance provided by Union Government.
2. Resources made available by the State Government.
3. Financial assistance given by Industrial Finance Corporation of U.P.
4. Finance available in the private sector.

The principal sources through which the Union Government renders financial assistance to the States are through share of income tax, Union excise duties, grants-in-aid and loans. The various finance Commissions which were appointed to review the finances of the states did not recommend any grant-in-aid to the state of Uttar Pradesh though other states were granted substandial help by them. It may be orgued that the resources of Uttar Pradesh governent were quite enough for its requirements so the finance Commissions did not feel the necessity of recommending grant-in-aid for this state. However, it would be quite unreasonable to suppose that a state with the lowest percapita income will have enough resources for its development.

A study of the resources made available by the Union Government to the states does not present a happy picture. The percapita resources obtained by Uttar Pradesh ranged from Rs. 13.31 in 1961-62 to Rs. 18.70 in 1964-65 which is the minimum among all the states; Assam being the biggest beneficiary in this respect as its share amounted to Rs. 34.50 in 1961-62 to Rs. 43.14 in 1963-64. Thus it is obvious that Uttar Pradesh has been most neglected by the various finance Commissions as well as the Union Govt.

Coming to the resources made available by the State Government it may be observed that the main resources may take the following shape :—(1) Increased Taxation (2) Loans from public (3) Saving from the rural areas (4) Bhumidhari fund (5) Assistance from the Union Govt. The last source has been discussed in the preceding paragraphs. So far increased taxation is concerned it is suggested that agricultural sector should be the layer burden because it has a good surplus from agriculture in view of the rise in prices of the food shifts. Saving from rural areas may be expected to play an important role and a corporation may be established to tap this source of finance. Another source of finance is the Bhumidhari fund owned by the government. The money of this fund may be invested in short projects especially in those where the gestation period is about two or three years. While investing the funds it should be seen that the projects are of a profitable nature and money is not lost. In addition to the direct investment in industrial undertakings money will be needed to give subsidy to the industries for accelerated development. This may be obtained by increesing the existing rates of sales tax.

Now we may consider the role of the U.P. Finance Corporation in the industrial development of Uttar Pradesh. Uptil now this institution has done the job of providing financial assistance to such industries in the private sector which come within its scope. But even in this limited field not much has been achieved by the Corporation as shown by the financial assistance made available by it during the ten years of its working. The total amount sanctioned by it amounts to Rs. 5.60 crores during this period. Out of this amount about half has been actually paid to the industries. In view of the financial requirements of the state for its industrial growth this assistance is very meagre. The reason for this meagre help by the U.P. Finance Corporation is its own limited resources as is the characteristic feature of similar all India and regional institutions. The capital structure of the Corporation amounts to Rs. 1 crore though the permissible limit is Rs. 5 crores. The Corporation has also borrowed from the market but its borrowing operations have not been significant. For the first time it borrowed from the market by the issue of Rs. 50 lakhs 4 % 1963 bonds at Rs. 99.00. Again it borrowed by the issue of 50 lakhs 4 % bonds at Rs. 99.00 payable in 1972. Both of these issues were over-subscribed which shows the enthusiasm of the public in purchasing the securities of this Corporation.

The financial resources of the Corporation can be increased in three ways : Firstly financial institutions like Banks, Insurance Companies etc., can invest their funds in the securities of the Corporation. Secondly the Government both at the Union level and the State level can help the Corporation. Thirdly the Corporation may receive funds from public. So far as the availability of help from financial institutions is concerned the scope may be quite limited because their own resources may be limited and they may like to deal with the industrial concerns directly. The Union Government may have many financial responsibilities to discharge and so may not be of much help to the Corporation. The State Government may, of course, make its resources available to the private sector industries through the Corporation. The Corporation gives financial assistance to the industries if they fulfil certain conditions of credit worthiness and profitability of investment. If the State Government also tries to find out these qualities of industries before giving financial assistance it will be tantamount to the duplication of work and expenses. Therefore it would be better if the State Government gives the major part of its help through the Corporation.

The third financial source of the Corporation in the form of contribution from the public has great potentiality. It has been stated earlier that the issues of the Corporation were over subscribed. This means that people are rather eager to invest their money in its securities but the part played by the Corporation is not very satisfactory. It issued its securities only twice during its working for about a decade. So the Corporation should work more effectively. In order to increase the amount of its resources the Corporation can take two steps. Firstly it may check the diversion of funds into non-productive channels and make them flow into the desired fields of activity. Secondly it may make efforts to promote the habit of thrift among the masses.

People are in the habit of hoarding their savings in the form of jewellery and Bank balance or investing them in real estate or construction of houses. With the abolition of Zamidari and the promulgation of the gold control order, gold and land have become less attractive form of keeping them savings. The reason for hoarding one's savings may be found in the lopsided and imperfect development of the money market. In U.P. the money market is not so developed as that of Bombay or Calcutta so people are in great difficulty in finding out safe and profitable avenues of investment. There are three canons of investment, safety, profitability and liquity which every investor takes into account while investing his savings. Securities of the Corporation in the form of shares, deventures, bonds etc. will fulfil all these requirements and will be most attractive to the investors. As the Corporation is a semi-government financial institution the investors will consider their investments perfectly safe and secure with it. Combined with safety, the profitability of its shares will increase its attractiveness to those investors who are not very enterprising. Further the expectation of a higher return in future and the prospects of appreciation in the value of its shares will add to their demand.

Those investors who require fixed income may find its fixed interest bearing bonds a good means of investment. As the securities of the Corporation will be easily marketable due to their safety and return they will satisfy the third canon of investment also i.e. liquiduty. Thus satisfying all the canons of investment they will be most attractive to the investors and will command a wide sale in the market.

Another way to divert individual savings into more productive channels of investment is to infuse confidence in public about the industrial undertakings in the private sector and encourage them to invest their savings in these enterprises. People have no dependable means to elicit information and to satifys themselves about the profitability, business and financial integrity of these industrial undertakings and as such they harbour a sense of distrust in such enterprises and feel hasitation in investing their funds therein. The existing underwriting facilities and the services provided by promotion houses etc. are too inadequate to cope up with the job of influsing confidence in public about the investment prospects. The U.P. Financial Corporation can do well to supplement their work by underwriting or guaranteeing a few industrial issues. As the Corporation is a semi-government financial institution it will be able to infuse greater confidence among the investors about the business and financial integrity of industrial undertakings whose securities it underwrites or guarantees them than that which can be achieved by other financial institutions. Thus by its underwriting activities the Corporation would be very helpful in the mobilisation of private savings into more useful sectors of the economy. Not only this but such activities of the Corporation will also promote the habit of thrift among the masses. It is true that as the income of people in the State is quite low their marginal propensity to save is very small, but another reason of small savings is lack of avenues of profitable investment and if people are assured of the existence of such enterprises where investment is safe and profitable they will surely save more and invest more which will be highly condusive to the industrial development of the State.

Last but not the least important is the role of private sector in the industrial development of any State. So far as estimate goes it is envisaged that an amount of Rs. 750 crores should be invested during the Fourth Plan in order to bring the economic development of Uttar Pradesh to a reasonable level and private sector should provide for an investment of Rs. 350 crores. Investment in the private sector during the Third Plan amounts to somewhere between Rs. 100 and Rs. 125 crores only so the projected investment of Rs. 350 crores during the Fourth Plan marks an increase of about two hundred percent and shows a very ambitious programme. However there is no cause for despair and if proper industrial climate is created it would not be very difficult to achieve this investment in private sector in Uttar Pradesh.

Planning Commission is of the opinion that only key industries e.g. coal, oil, steel, development of electricity etc. should be taken up in the public sector and other industries should be left for the private sector to develop. In 1961 the Reserve Bank of India carried on study regarding 1333 public limited companies and found that paid up capital stood at Rs. 33 crores and its percentage to total funds amounted to 11%. The amount of private loans stood at Rs. 12 crores and its percentage to total funds was four only. Bank loans amounted to Rs. 24 crores or 8% and trade dues stood at Rs. 31 crores or 10% of the total funds. The funds obtained from Government sources showed the lion's share and stood at Rs. 215 crores or 67% of the total.

Thus the total finance available to the private sector according to the Reserve Bank study amounts to Rs. 315 crores.

If we stick to the above percentages Rs. 350 crores which has been envisaged for the fourth five year plan may be split up in the following ways : Share capital Rs. 38.5 crores, private loans Rs. 14.0 crores, Bank loans Rs. 28.0 crores, Trade dues Rs. 35.0 crores and Government sources Rs. 234.5 crores. Thus the total investment in the form of share capital private loans, trade dues and Bank loans amounts to Rs. 115.5 crores and there is the problem of finding this money.

Entrepreneurs are mostly guided by the profitability of industrial units in locating their factories in different regions. With this end in view various States have taken certain steps since the advent of planning in this country. In Andra Pradesh and Rajasthan various concessions in sales tax and other taxes are allowed. In some States industrial enterprises are favoured with developed land at cheap prices. In Madras all new undertakings are allowed a rebate of 1/5 in the price of electricity for industrial purposes. Unfortunately such steps, in adequate measures, have not been taken in U.P. during the last thirteen years of planning. The poverty of Uttar Pradesh has been already stated in the beginning, so there is not much capital available in this State and whatever capital is available, that, instead of being invested within the State, goes to other regions like Calcutta and Bombay where the margin of profit is high and other facilities for development are available in adequate measure. Therefore the problem is threefold : firstly the provision of capital inside the State should be augmented. Secondly internal capital should be prevented from going out of the State. Thirdly capital from outside the State should be attracted.

To find a solution to these problems the following ways are suggested :

(1) The infra-structure needed for the desired industrial growth should be provided. Power is an important factor of production and sometimes its non-availability presents a bottleneck in production. It should

be seen that this factor is available in adequate quantity in Uttar Pradesh. Good roads for commercial purposes and other rapid means of transport and communication should be provided also. Government should establish a few key industries at vantage points in the region so that complimentary and other industrial concerns may grow up side by side.

(2) Various types of assistance should be given to those industrialists who establish their undertakings in Uttar Pradesh. They may be given developed land at concessional rates, rebate in registration charges, stamp duties etc. Further power may be made available to them at subsidised rates.

(3) The scheme of deferred payments for machinery and external assistance should be provided for industries in Uttar Pradesh. Under this scheme plant and machinery from foreign countries are made available to industries on credit and payment is deferred for some period and when ever it is made it is made on convenient and easy terms. This scheme may be quite helpful to the industrialists and is gaining importance in recent years.

(4) Any other measure which may increase the profitability of industries established in Uttar Pradesh as compared with other States.

The Union Government has been making efforts for achieving the economic prosperity of under developed and poor areas since independence. Recently the poverty of Uttar Pradesh has also arrested the attention of Union Government and the Planning Commission and it is hoped that with the combined efforts of all Uttar Pradesh will be able to achieve economic prosperity worth its area and population so that it may occupy an honourable place among other States of the country.

THE TASK FOR INDIAN EDUCATION

R. K. YADAV

Teachers Training College.

Every generation throws up new challenges and sets new tasks to education. For us at the Banaras Hindu University, which has celebrated its Golden Jubilee in 1966, a comparison of the most dominant social purpose in Indian education, today and fifty years ago, will be of special interest and significance. The task then was to win national independence: now it is to safeguard it. This article will briefly describe the part played by education in the struggle for national emancipation, and examine its present-day role in promoting social cohesion, the bedrock of national security.

The earliest developments in education which reflect Indian nationalism, howsoever inchoate and inarticulate, are more than a century old at least. Societies were started to awaken interest in indigenous languages and culture. A 'Native Literary Society' was founded in Bengal on September 9, 1830. The proceedings, it was resolved, would be "in the vernacular tongue." In Europe too, where the doctrine of nationalism had its origin, the earliest phase was the birth of vernacular literatures during the post-Renaissance era.

By the late nineteenth century Indians become acutely conscious of the denationalization caused by the British system of education, and gave vent to this feeling. In the evidence given before the 1882 Commission too it had been ponted out. Indiscreet acts, offending utterances and severe administrative measures of Lord Courzon gave rise to militant nationalism. In 1906 a Society for the Promotion of National education was founded in Bengal, with Gurudas Banerjee as Chairman. The demand was for education on 'national lines, under national control, directed towards the realisation of national destiny". But the movement did not make much progress outside Bengal.

In the name of efficiency, quality and control, education was kept in a strait jacket, and for about 30 years, from 1887 when the Allahabad university was incorporated to 1916, no new university was set up. The universities, e.g. Banaras, Patna, Aligarh, as they began to function, served the cause of Indian nationalism no less vigorously than the 'national universities' which came into existence as a result of the Non-cooperation Movement started by Mahatma Gandhi. Writing on the ideals and principles of national education he said in 'Young India' on November 17, 1920, that the 'national universities' stood as "a protest against British injustice" and as "a vindication of national honour". The main emphases in the new education were to be the study of Indian languages, Asiatic cultures, liberal religious traditions etc. etc.

The Banaras Hindu University and the other universities established by Charter supported the national cause, although in a different idiom. Pandit Madan Mohan Malaviya visualized a free and strong modern Indian nation, enjoying prestige and power befitting her size and old civilization. He said in 1917, "Forty or fifty years ago, Japan was far behind India both in agriculture and industries. But her government and people, working in conjunction, have brought about a wonderful development of her industries built upon a system of technical education which included everything required to enable her to occupy her proper place among the manufacturing nations of the world".

From the early days of the Swadeshi Movement to the most turbulent phase of the independence struggle during the World War II the student community remained in the thick of the battle. Often their studies were interrupted and great sacrifices were cheerfully made. Whenever there was a call from the national leaders they gave up studies and came out to worship at the alter of nationalism.

The battle was won. A new era set in, but the old habits persist. Fearlessness, fortitude, self-abnegation, perseverance, all the virtues of a good fighter, are still very much in demand, and valued. But they are needed in a different situation today. Then the fight was against foreign rule: now it is against hunger, ignorance, disease and disruptive forces. But our students are yet to be weaned from the delectable old political battlegrounds to the unromantic field of constructive work. The present trends are far from reassuring. Fifty years ago the students were led by national leaders, persons of great moral fibre and intellectual stature, in a noble cause. They fought for national independence. Today, they fight for frivolous things—to extort concession-tickets from a cinema manager, or to protest against a 'hard paper' comprising 'unexpected questions'.

The students cannot be blamed for this fall in ideals, alarming as it is. They have been on the rampage because very often they are egged on by politicians. And old habits die hard. Political opportunism is rampant and statesmanship is becoming rare. Cleverness is rated higher than wisdom. The struggle for jobs is grim. In these circumstances, jealousy, distrust and prejudice undermine social stability. Scared by the prevailing insecurity, the individual severs his ties with the larger group and recedes into the comforting safety of narrower loyalties. Studies of prejudice in the U.S.A. have shown that "students who viewed the world a hazardous place, a matter of jungle ethics, were more prejudiced than those who rejected this outlook". Also, those students who felt that there was not enough "discipline" in national affairs had a high prejudice score. We are not born with our prejudices. They are highly situational in character.

Programmes of inter-group education can have only limited success and for this too favourable social climate is a pre-requisite. The school, it is said, is an epitome of society. The social enviroment should reinforce the orientations in education. But our social reformers and political leaders pass on many a crying baby to education and think they have done their duty. "The argument that schools can revolutionize society is hard to sustain............(there) are fainthearts who want to win unreal triumphs easily and choose education because it is the softest field".

We have long traditions of unity in India ; but it cannot be denied that because of her long history, racial and linguistic diversity, and size, India does not function as a well integrated nation. Some minority groups are not yet in the mainstream of national life. The task for Indian education is to help in changing this 'fluid togetherness' into 'group reciprocity'. The church or the courts can deny separation to a married couple, they cannot create love between the partners. Military and political solutions found for problems of separatism are at best temporary expedients, and the unity achieved is a simulacrum. They can only create conditions for education to bring about emotional integration, which alone is genuine unity.

Education can initiate as well as strengthen such trends in several ways : through suitable textbook materials, teaching of social studies, provision of equal educational opportunity, awakening social conscience and sense of civic responsibility, promoting democratic thinking and scientific outlook, and quickening industrial development which will increase national wealth. But the most commonly recommended—and the least effective-means are direct moral exhortation and religious instruction. Research in educational programmes of inter-group education in many countries shows that religious instruction does not remove prejudice. In the U.S.A. students who score high on the religious scale are often those who are strongly prejudiced against Jews and Negroes, and support segregation.

Prejudice alone does not lead to separatism. The concept of conflict includes social-psychological factors as well as sociological.

One great cause of prejudice is ignorance. The stranger is suspect. Ignorance like darkness breeds fear. Suitably prepared reading material given to students can help in eroding prejudices and stereotypes, and can create better understanding among sub-cultures. How much do our students know about our own people ? They learn about Eskimos and Hottentots, but know practically nothing about the Nagas. They have perhaps heard about their bizarre head-hunting customs and weird head gears! Our students should learn more about our people inhabiting this vast country. Through carefully organized contact situations they should be made aware of the composite nature of Indian culture. Understanding, sympathy and appreciation, and not curiosity and patronising attitudes, will lead to social harmony.

Through education our students should learn that Indian history is not a woeful tale of internecine warfare punctuated with foreign incursions. It is not necessary to invent historiography to illustrate how in the past our people made wonderful achievements in many fields through united efforts. The contributions of the different sections of the Indian people should be duly recognised. Schools should underline not only common achievements, but also common ideals and goals.

UNESCO studies of conflicts show that in plural societies in which there have been few conflicts an important factor was the opening of educational facilities for all without prejudice. "The economic rivalries between different ethnic groups are subdued by the extremely rapid rate of the country's development and the enormous possibilities open to all social groups". Equal sharing of educational opportunities tends to level down existing disparities, and ensure equitable distribution of the new economic gains of which industrialization holds a promise. Increase in national wealth does not *ipso facto* lead to social cohesion. On the countrary the differentials in economic develop-ment often increase group jealousies and embitter group relationships. Education should enable the various elements in the national community to aspire for, and enjoy, the fruits national prosperity brings.

LIBERAL EDUCATION IN SCIENTIFIC SOCIETY

SURYA NATH SINGH
Department of Education, B.H.U.

There has recently been an enormous growth of scientific knowledge in every society, and science, either in pure or in applied form, is shaping the course of human life, as a result of which there has developed a tendency to ignore and discard liberal education which now definitely does not enjoy the same esteemed position which it previously had in the pre-scientific age. The result, as proved by experience, is not very encourageing. The aim of this paper is to show the importance of liberal education in a scientific society.

It is easily observed that the direct effects of science have not been wholly beneficial to the mankind. On the one hand, it has increased the destructiveness of war, and the proportion of people engaged in it; and on the other hand, by increasing the productivity of labour, it has made the old economic system difficult to work, without bringing any reciprocal change in the social system which perhaps lies out of the scope of science. If it continues, unplanned industrialism would prevail, and "industrialism when it is unregulated, tends to create not a society, but a mob[1]". Therefore, social planning of science has become absolutely necessary as "in these days of rapid and continuous change the whole conception of social organization and social discipline must be radically revised[2]." Scientific education, as it is at present, does not teach social planning which is an essential part of humanistic education. Hence, scientific education if it is to help mankind properly must be supplemented by liberal and humanistic education. This is the reason why Prof. Kabir says, "Without a tremendous expansion of programmes of what may be called the study of humanity and culture, the study of science and technology may become a threat to man's survival rather than an instrument for his welfare".[1]

---

[1] Ramound Williams, Culture and Society, p. 226.

[2] Mayo E.: The Social Problems of an Industrial Civilization, p. 9.

The attitude of a scientist on social problems is detached and the danger of this detachment has now become evident. No scientist can afford to remain neutral in social conflicts widely prevalent everywhere in the world and "science unaware of its social significance becomes a helpless tool in the hands of forces driging it away from the directions of social advance[2]". Hence "scientists and other responsible citizens must formulate a social policy of science"[3] in absence of which science would remain a 'helpless tool' in hands of anti-social forces because scientists are hardly realizing their decisive responsibility for social reconstruction. A broad based liberal education has become essential as it "hopefully gives a man a meaningful and fixed area from which to view the world in which to root his values and from which to recognize the complexity and often interminate nature of moral and political problems[4]".

Science deals with cause and effect. It does not prescribe the norms of life as "science has nothing to say about values".[5] "A science that disclaimed all interest in human values except the satisfaction of curiousity, and the increase of manipulative skill, cannot be useful even in its own limited sphere of actions when the general dissolution of values leads to a contempt for science and a deliberate perversion of its results.[6] It is not merely material progress, food and drink, rest and sleep or other amenities of life that sustain a civilization, or that are necessary for cultural progress. They are necessary and they have their own undeniable importance in life but that is not the end. Civilizations live by ideals and values. It is possible that a perfectly scientific society would be devoid of all values of life and this tendency is being marked among modern men who have exclusive faith in science. It is because of the loss of values that "modern man feels uneasy and more and more bewildered. He works and strives, but he is dimly aware of a sense of futility with regards to his activities. While his power over matter grows, he feels powerless in his individual life, and in society, while creating new and better means for mastering nature he has become enmeshed in a net-work of those means and has lost the vision of the end that alone gives him significance-man himself. While becoming the master of nature, he has become the slave of machine which his own hands built. With his knowledge about matter, he is ignorant with regard to the most fundamental questions of human existence: What man is and how he ought to live, and how the tremendous energies within man can be realized and used productively[1]". Unaware of the ultimate ends of life, man has become frustrated and this frustration is growing fast in modern life. It is because of this frustration that a good number of scientists have expressed regret at what they have done throughout their whole life. In the absence of real values of life scientific thinking has become directionless and purposeless and our world is advancing towards a catastrophe unforeseen by the previous ages. This purposelessness of modern man should be guarded at all cost, as "purposeless activity may be a phase of death"[2]

---

[1] Kabir, Indian Philosophy of Education, p. 90.

[2] Bernal, J. D., F.R.S., The Social Function of Science, p. xv.

[3] Crowther, The Social-Relation of Science, p. vii.

[4] Locke & others, Towards Liberal Education, p. 487.

[5] Russell, Religion and Science, p. 223.

[6] Lewis Mumford, The Condition of Man, p. 391.

Science has disregard for quotation and rebels against authority, which in its turn means that in a perfectly scientific society men and women would not listen to the advice of their elders without proper verification and it is possible that such an attitude might breed a disrespectful attitude towards every authority among people. It is also possible that after a few generations this may produce a general loss of respectful behaviour in society which is surely not a happy turn. The scepticism which is developed among men and women because of scientific spirit destroys faith, creates doubts, and breeds suspicion. "A complete sceptic would lead a very precarious existence. He would be unable to walk across the floor without carefully testing each step of the way because he cannot be certain that the floor would support him. He would be compelled to repeat the same performance on the way back because he would never be sure of anything[1]". There are all possiblities that a scientific society with its scepticism and rationalism may develop doubts towards its own way of life which according to anthropologists, leads communities towards death and decay. Thus the growth of sceptics and doubters should be arrested as "an increase in human unhappiness"[2]. Science trains only reason and rationality is only one phase of life. It has been said that "reason without vision is shortsighted".[3]

---

[1] Eric Fomm, Man for Himself, p. 4.

[2] Pearl Buck, I Believe, p. 37.

Science gives us light and helps us to know things as "the aims of science are description, explanation and prediction"[4] but the real problems of life can hardly be solved only by them. It is about a century ago that Karl Marx declared, "Philosophers have only interpreted the world in various ways but the real task is to alter it"[5]. It may now be safely said, "scientists have only described, explained and predicted the world in various ways, but the real task is to alter it". But in order to change the world in desirable directions the spirit of science should be humanized otherwise science would keep on widening the social gulf as it is doing now-a-days. It is possible only when scientific education is properly oriented in human values by balancing it with liberal education and humanistic studies.

Scientific training is essentially a preparation for the specialist who knows very little except his own field of specialization because of the specific nature of human interest. As a result of this in most cases, of which a few with broad philosophical outlook are exceptions, the totality of vision which alone enables one to see things in relation to humanity, is lost and scientists in majority become narrowminded. Therefore, "the overwhelming cult of specialization dehumanizes man's life".[1] Information gained by scientific training does not lead to wisdom as "wisdom is the fruit of balanced developments"[2]. It is because of this reason that the growth of humanism has not taken place with scientific progress.

---

[1] Briddle, Integration of Religion and Psychaitry, p. 143.

[2] Kabir, Indian Philosophy of Education, p. 162.

[3] Livingstone, Education and the Spirit of the Age, p. 92.

[4] Dr. Fiegl, Readings in the Philosophy of Science, p. 10.

[5] Marx, Critique to Political Economy, Preface.

Prof. Whitehead holds education to be acquisition of the art of utilization of knowledge[3]. Scientific studies have given us information about various things and they have given us certain tools which if properly directed and used can change the fate of humanity. But it has not taught us where to use them. In order to use scientific discoveries men must know the true ends of things which science does not teach. "Science, of course, is not a guide of life[4]" and in the absence of any true guide, scientific civilization is approaching destruction day by day. Therefore, if a scientific civilization is to be a good civilization, the growth of scientific knowledge shold be accompanied by increase in wisdom[5]. People should possess the right conception of the ends of things but "this is something which science, in itself, does not teach"[6] and without which science would ever remain a source of destruction. It is only by developing a clear and firm philosophy of life that good and bad can be discriminated and human beings can be made sensitive to moral obligations.

The inventions of science of which scientists and non-scientists are equally proud have brought tremendous changes in human life and society. "It raises not only complex technical and economic problems but also social, psychological and cultural issues of deep import[7]" as "a highly progressive technology entails incessant and often very rapid and startling changes of economic, political and ethical state; and such changes tend to keep societies subjected to them, in a chronically unstable condition[1]". This instability has become a marked feature of modern societies. "Social instability and its consequences are not something to be treated lightly"[2]. First, it disturbes the social norms; secondly, it disturbs the balance between human instincts and his social environment; and thirdly, it breaks the continuity of cultural heritage. The consequences, as noticed, are disasterous. "It is definitely not good to live in a society whose norms are unsettled and develop in any unsteady way[3]". There are neither accepted beliefs nor common principles to guide mankind in its behaviour. Their absence has created much confusion and bewilderment as "a set of common beliefs is essential for the health and vigor of a society[4]". The lack of common standards is the cause of modern spiritual illness and this "spiritual illness is abundantly evident in the marked decline of human qualities, meanings and values and the range and depth of collective living and behaviour[5]". The imbalance between man's instincts and his social and material conditions of life has made the modern man as the most rootless creature in the whole universe because there seems to be nothing stable in the world which science is building where man can stand, wait and think as to where to root himself. It is therefore necessary that the scientific education should be supplemented by liberal education and humanistic studies which can keep man's spirit intact[6].

---

[1] Maritain, Education at the Cross-roads, p. 19.

[2] Whitehead, Science and the Modern World, p. 229.

[3] Whitehead, The Aims of Education, p. 16.

[4] Fulton, Science and Man's Hope, p. 126.

[5] Russell, The Scientific Outlook, p. 12.

[6] Russell, Ibid.

[7] Raj Krishna, Human Values and Technological Change, p. 5.

The recent advances in the field of applied science have brought tremendous transformation in our technical skills without bringing any reciprocal change in our social skills which remain still more or less the same as they were in pre-technical age. Prof. Elton Mahyo points out that "the consequences for society of the unbalance between the development of technical and social skill have been disasterous"[1]. If our social skills advance step by step with our technical skill, much of the confusion, tension and illusion of man would have been reduced. But the one-sided emphasis upon science and technology puts the humanistic studies which impart instruction and conduct researches in social skills in a backward and neglected position. The inevitable result is an obvious disintegration between social form and social function which is decidedly an unhappy sign because "in social institutions as in living organism, form and function are inextricably bound together. If function changes, then form must adapt itself or the organism—and the institution—will perish"[2]. Science has changed the function but not the form of society. It is only an education deeply rooted in humanistic studies that alone can bring a transformation into the inner and outer structure and form of society.

---

[1] Huxley, Science, Liberty and Peace, p. 17.

[2] Bernard Barber, Science and Social Order, p. 210.

[3] Mannheim, Diagnosis of Our Times, p. 14.

[4] Conant, Education in a Divided World, p. 108.

[5] Mukherjee, The Sickness of Civilization, p. v.

[6] Mark Von Doren, Liberal Education, p. 51.

But this does not mean that the present writer underestimates the importance of science and its contribution to man. Everyone agrees that "science aims at releasing his mind from bondage to superstition, ignorance and obscuratism and to equip him with power to control the laws and forces of nature and bend them to the service of his purposes"[3]. But this goal remains unrealised if man himself is not educated and trained for shouldering his wider responsibilities which liberal education with a new social orientation can impart.

---

[1] Elton Mayo, The Social Problems of an Industrial Civilization, p. 21.

[2] Eric Ashbey, The Technology and the Academies, p. 67.

[3] Saiyidain, Education, Culture and Social Order, p. 222.

STUDY OF MUSICOLOGY IN INDIA

Dr. PREM LATA SHARMA

Musicology is the name given to the science of Music. Though the teaching of Musicology was initiated in Western Universities long ago, it is as yet not very familiar in India. It is a matter of gratification that Banaras Hindu University is the pioneer among Indian Universities to establish a department of Musicology which embarks on its career with a very humble beginning with effect from the current session.

II. Nature and scope of Musicology ;

The following extract from the Dictionary of Music (Harvard University) would serve as an introductory note in regard to the nature and scope of Musicology.

"MUSICOLOGY—a term recently adopted from French *Musicologie* into English usage to denote the scientific study of Music. It is the equivalent of the German term Musikwissenschaft (science of music) which was introduced by F. Chrysander in the preface to his *Jahrbucher Fur musikalische Wissenscheft* (1863) in order to emphasize the idea that musical studies, particularly those in the field of history, should be raised to the same level of seriousness and accuracy which had long been adopted in the other fields of knowledge, natural sciences as well as humanities. Guido Adler, in the first volume of the *Vierteljahraschrift fur Musikwissenschaft* (1865), wrote an article '*Umfang, Methode und Ziel der Musikwissenschaft*' (scope, Method and Aim of Musical Science) in which he drew up an extensive and all inclusive table of the entire province of music study. This table included, side by side with paleography (musical notation), aesthetics, acoustics, history, such subjects as harmony, rhythm, melody, teaching of counterpoint, etc. as well as a final category' *Musikforschung*' (musical research). Similar programs have been laid down by other writers, e.g. by Waldo S. Pratt in his article 'On Behalf of Musicology (MQ i)' The current interpretation of musicology may be illustrated by the following quotations: "Musicology must include every conceivable discussion of musical topics" (Pratt, in MQ i); the whole body of systematized knowledge about music, which results from the application of a scientific method of investigation or research, or of philosophical speculation and national systematization to the facts, the processes and the development of musical art, and to the relation of man in general (or even animals) to the art' (Kinkeldey, articles 'Musicology' in O. Thompson, International Cyclopadia of Music and Musicians, 1939); 'Musicology unites in its domain all the sciences which deal with the 'production, appearance and application of the physical phenomena called sound' (H. Lang; of L. Harap, 'On the Nature of Musicology, 'MQ xxiii).

Although these definitions differ to some extent, they all indicate the tendency to interpret musicology as a broad category of 'Musical Science, 'including everything that is not clearly "practical music" (composition and performance). Thus, traditional fields of study such as harmony, counterpoint, music history would fall under the term musicology……

The important point, however, is that the category Musical Research (Musikforschung) must be given the central position in the plan, with theory, music history, etc. forming the foundation, while aesthetics, acoustics, etc., represent adjunct fields of study."

III. Status of Musicology in Western Universities and its intrinsic worth as a subject of university studies.

The description and evolution of Musicology quoted from the above-noted extract would appear to show that Musicology is now intrinsically mature and fit for a separate University Department. Even in its present stage of evolution the range of studies comprised in it would appear to be too comprehensive for compression into a single department. As is stated by the Dictionary of Music while Theory and History of Music are basic to Musicology, several other branches of musical studies like aesthetics and accoustics are its adjuncts.

The increasing importance now attached in Western Universities to Musicology is dictated by Pragmatic considerations. These universities have realised that it is well nigh impossible to expect one and the same teacher to teach theory and cognate subjects concerning music studies along with practical music as both sides of teaching require highly specialised qualifications which are almost impossible to find in combination in any individual university teacher.

As is indicated by the following extract taken from the Dictionary of Music (Harvard University), Western Universities are now beginning to realise that it is impossible for universities, situated and constituted as they are, to try to provide the rigorous and prolonged daily practice to individual students under direct expert supervision which is indespensably necessary for a professional career in Music.

"The tendency in college music teaching has been either to over-emphasize the performing aspect of music at the expense of other branches or to stress the academic side taking student competence in applied music for granted. The College course is not long enough to permit more than moderate achievement in either field and the problem has been best solved by those colleges which have treated music from the point of view of the Liberal Arts curriculum, recognising the necessity for some practical skill, encouraging students to strive for it but leaving it in the main for the conservatory." (The 'conservatory' mentioned here is a specialised non-university teaching institution which provides rigorous and as far as is possible personal practical training in music to promising students such as is impossible for universities to provide.)

IV. Scope and future of Musicology in India :

In its present stage of nascent growth, Musicology already occupies a place of pride in the curricula of Western universities. Literature is rapidly growing as a result of study and research in the various branches of Musicology, such as psychology, aesthetics or acoustics of Music. These subjects along with theory and history of Music are studied primarily from the practical or the utilitarian points of view and the approach and methods adopted are those of the physical sciences. While studies and research in modern musicology will necessarily proceed in India along these lines, there is an equally great, perhaps much vaster, field for study and research in Indian Musicology which has a distinctive and unique Musicology which has a distinctive and unique individuality of its own with literature stupendous in magnitude accumulated over a very long period of history.

As stated above, Indian Musicology with its unique and stupendous literature in Sanskrit offers a vast field for study and research. The approach and methods of Indian Musicology are religio philosophical. Its perspective is not utilitarian or practical, but it aims at the realisation of the highest and eternal good of man not the psycho-physical being with which we are familiar, but an eternal spritual entity constituted of pure-consciousness, requiring for its sustenance spititual substance and environment. The teaching of the Sangit Śastra is that since Sangit is not the work of physical nature but of man, its study is fruitful only when it proceeds from a proper appreciation of the true nature of man. By implication the methods suitable for study of inconscient nature are not suitable for study of Sangit.

Modern Musicology with its methods borrowed from those of the physical sciences has its value in so far as it sustains the utiliterian perspective. It should be the function of Indian universities to provide facilities for study and research in both the modern and the ancient Indian musicology.

The B.H.U. has a special responsibility for promoting study and research in Indigenous cultural literature in Sanskrit and at the moment resources for study and research in musicology are extremely limited. This university will, therefore, naturally utilise available resources in the first instance for providing facilities mainly for study and research in indigenous musicology, with only a secondary stress on modern musicology.

RICHARDS' THEORY OF VALUE IN RELATION TO COLERIDGE'S THEORY OF IMAGINATION

RAJ NATH

Department of English

Coleridge's theory of Imagination is one of his greatest contributions to literary criticism. Maier and Reninger have rightly said that "he set out to work and produced the most illuminating treatment of the imagination now to be found in literary theory..."[1] As a matter of fact it is this theory of Imagination which paved the way for the type of criticism that has been produced in the twentieth century. In the present paper I seek to demonstrate that Richard's theory of value is built up on the foundation laid down by Coleridge's theory of Imagination.

That Richards has taken keen interest in Coleridge is attested by his book on *Coleridge on Imagination.* Indeed, this book, besides being an authentic analysis of Coleridge's theory of Imagination, has a very important role to play in Richard's own theory of poetry. A review of Richard's career as a literary critic will tell us that Coleridge had been present in his mind ever since he produced his first book in collaboration with Ogden and Wood, namely *The Foundations of Aesthetics.* By the time he set out to write his *Principles of Literary Criticism* Coleridge had got deply rooted in his mind. In *Coleridge on Imagination* he demonstrates how Coleridge's theory of Imagination can be developed into a theory of value and then makes the significant assertion :

"This is the procedure I attempted to follow in *Principles of Literary Criticism.*"[2] All this points to the important fact that Richards had Colleridge in his mind while setting forth his theory of value.

---

[1] Norman R. F. Maier and H. W. Reninger, *A Psychological Approach to Literary Criticism* (D. Appleton & Co., New York, 1933), p. 9.

[2] *Coleridge on Imagination*, (Routledge & kegan Paul Ltd., 1955), p. 96.

Before we proceed further to observe how Richard's theory of value corresponds with Coleridge's theory of Imagination, it would be worthwhile to undertake an analysis of Richard's theory. Richards asserts unequivocally that,

> "The two pillars upon which a theory of criticism must rest are an account of value and an account of communication."[1]

The starting point of Richard's theory of value lies in the tenth chapter of *Principles of Literary Criticism* in which he launches upon the discussion of the famous formula "Poetry for Poetry's sake." It has been believed, Richards says, by the thinkers like Whistler, Pater and others that "the values of art are unique or capable of being considered in isolation from others."[2] This belief culminates in Dr. Bradlye's celebrated essay on "Poetry for Poetry's sake"[3] in which he states that the nature of poetry "is to be not a part, nor yet a copy of the real world (as we commonly understand this phrase) but to be a world by itself, independent, complete, autonomous."[4] Thus, we find that Bradley maintains the severance of poetry from life as we live it in the world.

Richards makes a very minute analysis of Bradley's view and criticises all his points. And then setting forth his own view he pronounces:

> "The world of poetry has in no sense any different reality from the rest of the world and it has no special laws and no other-worldly peculiarities. It is made up of experiences of exactly the same kinds as those that come to us in other ways."[5]

Richards is of the opinion that the difference between poetic experience and the experiences of day-to-day life is only one of degree. In fact, the poetic experience "is more highly and more delicately organised than ordinary experiences of the street or of the hill-side..."[1] Richards seeks to establish the great importance of poetry in the practical life of a man and to this effect develops his theory of value. To him art is significant as a "storehouse of recorded values."[2] He divids the impulse into "appetancies" and "aversions" and says that "anything is valuable which satisfies an appetancy or 'seeking after'."[3] Every one wants to satisfy the greatest number of appetancies but the difficulty is that sometimes they get in each other's way and, thus, engender conflicts. Every individual has to resolve this conflict because he cannot "live one minute without a very intricate ad so far ans it goes, very perfect co-ordination of impulses."[4]

---

[1] *Principles of Literary Criticism* (Routledge & Kegan Paul Ltd., London, 1963), p. 25.

[2] Ibid., p. 72.

[3] *Oxford Lectures on Poetry.*

[4] Ibid., p. 5.

[5] *Principles of Literary Criticism*, p. 78.

In *Science and Poetry* Richards points out that the conflict of impulses can be surmounted in two ways—"by conquest and by conciliation."[5] If the two impulses are conflict with each other, we can either suppress one of them or bring both of them to an agreement so tat thhey may adjust themselves to each other. Richards says that for the fullness of life conciliation should be given preference over suppression. As a matter of fact, suppression does not imply extinction, what is suppressed slides into the unconscious where it operates with the same power and intensity as it did on the conscious level. The suppressed impulses always crave for an outlet and make the life troublesome unless they are satisfied. In this way, suppression is tantamount to bondage. And Richards makes the significant remark that "people who are always winning victories over themselves might equally be described as always enslaving themselves."[6]

---

[1] Ibid., p. 78.

[2] Ibid., p. 32.

[3] Ibid., p. 47.

[4] Ibid., p. 52.

[5] "Science and Poetry", *Criticism* : The foundations of Modern Literary Judgment (Harcount Brace & Co., New York, 1948), p. 512.

[6] Ibid., p. 512.

Most people try to effect systematisation of impulses through conquest or suppression with the result that they suffer from mental torture. At the opposite extreme from these people stand those fortunate persons who fall back upon conciliation for mental adjustment and, thus, make their systems "developed clearing houses by which the varying claims of different impulses are adjusted."[1]

Richards maintains that the poet is an exceptional men in that he can bring his disparate experiences into harmony more easily than an ordinary man. When a poet takes to the composition of poetry his imagination brings about the equilibrium of "a welter of disconnected impulses."[2] And it is this equilibrium which a poet embodies in his poetry through the medium of words. Richards divides poetry into two kinds-poetry of inclusion or synthesis and poetry of exclusion or elimination. It is the poetry of the first group which he considers to be of extreme importance because in it all the impulses get their proper shares. In the poetry of the second group there is a definite emotion or attitude which excludes all the impulses which are opposed to it.

The poetry of inclusion contains the poet's balance of opposed impulses. And this balance passes on to the readers in the act of enjoyment. While enjoying a poem the reader forms the same mental adjustment as the poet did at the time of composition. A man who fails to attain mental balance in his actual life may undergo through the contemplation of a poem of inclusion. A poet has the fullness of life which should be emulated by every individual:

> "If the artist's organisation is such as to allow him a fuller life than the average, with less unnecessary interference between its component impulses, then plainly we should do well to be more like him, *if we can* as for as we can."[3]

---

[1] *Principles of Literary Criticism*, p. 53.

[2] Ibid., p. 245.

[3] Ibid., pp. 194-95.

It is evident from the above that Richard's has given a befitting reply to Bradley. He has not only pointed out how the world of poetry is not different from the real world but also established with considerable emphasis the prime significance of poetry in our practical life. But we should not forget that it is only the poetry of inclusion to which Richards attaches so much value and not the poetry of exclusion.

If we compare Richard's theory of value with Coleridge's theory of Imagination we shall at once find that the former is but a new version of the latter. Cleanth Brooks refers to this point when he remarks that "I.A.Richards' seems to have derived much of his critical theory—certainly the most important part of his critical theory—from this passage (i.e. the passage in which Coleridge describes the revelation of Imagination in the balance or reconciliation of opposites.)"[1] Richard's denunciation of Bradley's view is based upon Coleridge's distinction between primary and secondary Imagination. Coleridge holds the difference between the Imagination of an ordinary man and that of a poet to be one in degree and not in kind. Indeed, what Bradley has said amounts to a qualitative difference between a poet and an ordinary man. To him, the poet has the Imagination which is quite alien to the layman and by virtue of this Imagination he builds up a world which is quite distinct from the real one. It seems Coleridge anticipated such a misunderstanding and replied to the thinkers like Bradley before they came to put forward their theory. In fact, Richards has said nothing new in his reply to Bradley: what he has said is only an emphatic presentation of Coleridge's view in his own terms.

Richard's poetry of inclusion goes back to Coleridge's theory of Imagination as the reconciliation of opposites. According to him, the impulses fall under two groups: those which run parallel to each other and those which run counter. The poetry of exclusion embodies the impulses of the first group and the poetry of inclusion those of the second group:

---

[1] *Modern Poetry and the Tradition* (London, 1948), p. 49.

> "A poem of the first group is built out of sets of impulses which run parallel, which have the same direction. In a poem of the second group the most obvious feature is the estraordinarily heterogeneity of the distinguishable impulses. But they are more than heterogeneous, they are opposed. They are such that in ordinary, non-poetic, non imaginative experience, one or other set would be suppressed to give as it might appear freer development to the others."[1]

We can observe how Richard's poetry of the second group corresponds precisely with Coleridge's secondary Imagination which "reveals itself in the balance or reconciliation of opposite or discordant qualities." Coleridge has singled out eleven sets of opposites which are brought to reconciliation by the Imagination of the poet. Richards does not specify the opposites but nonetheless it can be presumed that the sets of opposites enumerated by Coleridge may fall under his general reconciliation of opposites.

Although Richard's theory is in line with Coleridge, yet we cannot gainsay that at places Richards deviates from Coleridge. As D. G. James has pointed out in Coleridge the emphasis falls upon the operant power, namely Imagination whereas in Richards the emphasis falls upon the product of Imagination. In his *Principles of Literary Criticism* he talks much of the different components of poetry like metre, rhythm, imagery, emotion and attitude but gives only passing attention to Imagination. Mr. James justly asserts that 'Mr. Richar'ds aesthetic concentrates on the gifts. It apparently ignores the giver."[2] The various components of poetry are only the "gifts" or products of Imagination. Coleridge also discusses the products but not to the neglect of the producer as is the case with Richard's.

---

[1] *Principles of Literary Criticism*, p. 250.

[2] *Scepticism and Poetry*, (George Allen and Unwin Ltd., London), p. 59.

Another vital point on which Richards makes a marked deviation from Coleridge is due to the descripancy underlying his analysis of Coleridge. In *Coleridge on Imagination* Richard's cites J. L. Lowes and Lascelles Abercrombie as critics who maintain that the difference between Coleridge's Imagination and Fancy is one of degree. And he is himself disinclined to accept such a view because he says that "the only advantage in introducting degrees is if we should be able to measure and compare them."[1] But on one of the succeeding pages we read to our great surprise that Richards himself reduces Coleridge's distinction between the two faculties to the sheer difference of degree :

> "Imagination, as Coleridge uses it, is, of course, very often a term implying higher values than Fancy (critics who point this out with an air of discovery or complaint should re-read him) ... the exercise of Imaginnation is, for Coleridge, more valuable than the operatio of Fancy."[2]

Thus, we find that what Richards denounces at one place, he accepts at another. As a mater of fact, he goes a step forward from the critics he quotes. Since Fancy is, he thinks, but a degree of Imagination, he is of the opinion that the two faculties may be merged and in that case "we shall... have instances of Imagination which are valuable and instances which are not..."[3] It is along this line that he has developed his theory of value. About the purpose of the theory of value Richards says candidly: "The purpose of the theory is to enable us to compare different experiences in respect of their value, and this value, I suggest, is a quantitative matter."[4] In this way, we find that Richards always bears in his mind the quantitative difference. To him, the difference between the value of one experience and that of another as also between the poetry of Imagination and that of Fancy is quantitative or in degree. M. H. Abrams has ably pointed out that Richards has reduced Coleridge's distinction between the two faculties to "the number of 'links' or 'cross-connections' and, thus, sought to convert Coleridge's distinction in kind into a quantitative difference along a single scale."[1]

---

[1] *Coleridge on Imagination*, p. 34.

[2] Ibid., p. 96.

[3] Ibid., p. 96.

[4] *Principles of Literary Criticism*, p. 288.

In Coleridge there is no such stress on the affective side of poetry as we discern in Richards. The reconciliation of opposites that poetry effects is a poetic quality and is valued as such : it is not calculated to bring about the mental adujstment of the readers. Richards picks up Coleridge's theory of Imagination but lends it a psychological coloration which eventually proves to be a great defect of his theory. As has already been pointed out, Richards sets utmost value on a poem which embodies the balance of the warring impulses because it is most efficient at patterning and civilizing our society and helping the individuals to achieve the mental adjustment. But, then, such a poem is not necessarily a good poem. Satisfaction of appetancies is not a varitable criterion to judge poetry. To attach the exclusive importance to the psychic effect of poetry is to drag it beyond its own frontiers and "so far as criticism is concerned, to promote 'starvation, frustration and waste."[2] René Wellek has well said that in the critical speculations of Richards "the artist is conceived almost as mental healer and art as a therapy or a tonic for our nerves."[3]

---

[1] *The Mirror and the Lamp* (W. W. Norton & Co., Inc., New Tork 1938), p. 182.

[2] Willima Righter, *Logic and Criticism* (Routlegdge & Kegan Paul Ltd., London, 1963), p. 14.

[3] *Concepts of Criticism* (Yale University Press, 1962), p. 325.

WONDERS OF THE SPECTROSCOPE

Dr. R. S. SHARMA

Deptt. of Physics.

Is life possible on Mars? Ask the spectroscope. Is a certain painter's illness caused by lead poisoning? The spectroscope can tell. How much does the core of the helium atom weigh, and how much is that distant star? How many electrons are there in an iron atom? How hot is the sun? Whether a particular star or nebulae is aproaching to or receding from the earth or not. Thousands of such questions are being asked from time to time, and are being correctly answered with the aid of the spectroscope.

Any atom or molecule will emit light if it be struck with a hard atomic blow, and all light originates from atoms which thus have been stimulated by heat or electricity.

Since any material object, a star, a drop of blood, a speck of putty—is composed of atoms, the object can be induced to emit light by heating it until it becomes an incandescent vapour. The light thus emitted carries invariably in itself many secrets concerning the atoms from which it originates.

It is the function of the spectroscope to analyse this light, and thus lay bare these secrets for the eye of Science to read. Despite its tremendous analytical powers, a spectroscope is really a simple instrument. This article will be restricted to a few outstanding achievements and applications of that part of the spectroscopy, which is known as optical spectroscopy dealing with the infra-red, visible and ultra-violet radiations. These radiations occupy a quite small region in the vast electromagnetic spectrum. The above mentioned electromagnetic waves can be separated into a spectrum by means of suitable prisms, optical gratings and interferometers. The spectrum is nothing but an analysis of the wave-lengths given out by the source, of radiation and any instrument by which such analysis is done is called a spectroscope (Fig. 1). The most important parts of a Prism or a Grating Spectrometer are *Collimator* and Telescope. By the collimator we get well collimated parallel beams of the radiations. Similarly the lenses in the telescope serve to heap similar waves neatly together in one pile, where these appear as lines of coloured light, viz. Neon and Mercury Lamps giving red, blue and green lights and while an incandescent lamp or a hot filament emits light waves of all wave-lengths in visible range. Numerous lines, packed infinitely and thus closely merge to form a continuous band of colour, and they can, therefore, be photographed. The eye-piece of the Telescope is replaced by the camera-bellows and the spectroscope is now called as a spectrograph.

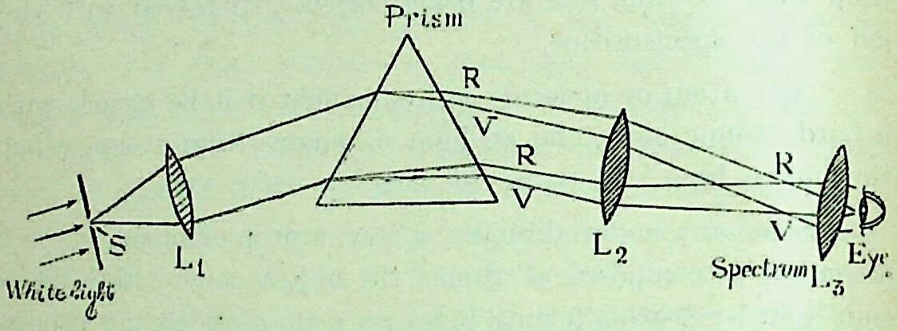

The Spectroscope

The means of observation and record have been described, but we should also know how a particular atom can be excited to emit light. There are a number of methods of excitation and production. The simplest method of accomplishing this is to strike an electric arc between two pieces of very pure graphite, and insert into this arc the speck of metal or clot of blood, which is to be analysed, so that it is burnt to nothingness. This burning tears the molecules of the material apart—separates them into their constituent atoms and pounds each atom so hard with a deluge of electrons and other atoms, that it emits the light, which reveals its identity. As an instance, which will fire the imagination of the reader, the following lines describing this achievement may be quoted. "The impurities weighing a fraction of a milligram in a drop of liquid can be estimated with a fair accuracy, which is not possible to attain by chemical analysis."

To start with, the spectroscope was a powerful device for qualitative analysis in chemistry and thus in later years was used for quantitative analysis. Its analytical power has enabled chemists to understand the structure of many complex molecules from their spectra. In addition, the vibration frequencies, inter-molecular distances and heat of dissociation of molecules can be determined.

Similarly it is possible to find out the elements comprising the sun or any star. Such a consideration finds immense applications in the metal industry, where the major elements and the minor impurities in a sample, say of Copper, can be determined easily.

The measurements of wave—lengths of light constitute the most precise technique. By reference to some such standard wave-length one may measure the smallest distances such as one millionth of a centimeter and thus determines the length of a metre or a yard stick very correctly than it is possible by comparing it with the Standards at Greenwich or Paris.

In this way one can go on filling up pages in the praise of spectroscope, but in short it will suffice, that much progress in Science and Technology is due to the Spectroscope.

GEMS AND GEM STONES-THEIR VARIED USES IN LIFE AND IN INDUSTRIES

Dr. RAJNATH AND SHRI B. R. YADAWA

What are gems ;

Gems and gemstones include those minerals and rocks which are used for personal adornment and for purposes of ornamentation on account of their beauty and decorative value. Gem materials which occur in nature include precious stones, semi-precious stones and ornamental stones. Most gems are minerals. A few rock gems are also highly prized, for example blue gem of ancient times, lapis lazuli, is a rock consisting of at least half a dozen individual minerals. Three gems—obsidian, silica glass and taktite are natural glasses of volcanic origin. Shape of natural crystals are seldom good enough to make them acceptable for ornamental purposes. Besides the inorganic gems a few organic gems are also known—pearl (although it contains some mineral substances, is the product of a living organism and is known as "queen of gems"), jet (a resinous, hard, coal-black variety of lignite), amber (fossil resin of ancient trees) and Corals.

Qualification of Gem Materials ;

Minerals and rocks in order to be suitable for ornamental purposes, must possess as many as possible of the following properties :

1. Splendor or beauty,
2. Durability,
3. Rarity,
4. Fashion and
5. Portability.

Rarely are all these qualifications possessed by a single gem. However, the diamond has each of these properties to a marked degree.

Splendor or Beauty ;—"A thing of beauty is a joy for ever". Beauty in gem depends upon its brilliancy, transparency, lustre, fire (the flashes of mysterious light) and colour. In other words a gem must have ability to give pleasing and striking colour effects.

The ability to reflect light well depends first of all on the smoothness of the surface but it also depends to a great extent on the refractive index of the material. It is a well known fact that higher the refractive index, the brighter the reflection from a smooth surface.

Some precious stones are phosphorescent i.e. after exposure to strong light they will glow in the dark, some of the stored light energy being re-emitted.

Durability ;—In order to wear well and retain its attractiveness a gem should have a desirable hardness. It follows that only substances that are harder than quartz make successful durable jewels, for example diamond, rubies, sapphires and topaz etc. The hardness added to their beauty, also contributes to their reputation as the aristocracy of the mineral knigdom. The hardest crystals with respect to heat are very suitable and can be only melted at very high temperature.

Rarity ;—Natural crystals perfect enough for jewels are rare, because to be perfect a crystal must grow slowly and very steadily but such conditions were probably not often realised in nature. The large crystals of finest species are famous and often go by historic names. For instance, the Koh-i-noor was discovered 5000 years ago in the Godawari River, but the first authentic record of it bears the date 1526 when it was in the possession of Sultan Baber. Its name, given to it by Nadir in 1739 means "mountain of light". Its original weight was $186\frac{1}{16}$ carats and after cutting its weight is only $106\frac{1}{16}$ carats. It is now among the British Crown Jewels. One of the largest good quality crystals of aquamarines weighing 220 pounds are found in Brazil. The gem which are beautiful and durable but not rare make little appeal, eg. garnets.

Fashion ;—Another factor in determining the use of a mineral for gem purposes is fashion or vogue. The effect of fashion upon the value of gems in enormous. Certain gems are invariably fashionable. This is especially true of diamond, rubies, sapphire and emerald.

Portability ;—Because gems are usually small in size, they can be easily transported or carried from place to place even in considerable quantities. This is especially true of such valuable gems as the diamond, rubies, sapphires and emerald.

Minerals used as Gems ;

About 100 mineals have been classed as gems. Gems were formed by solidification of molten material early in the world's history—i.e. igneous rocks (with exception of organic gems). The species used as gems include beryl (emerald, aquamarine, morganite, goshenite), topaz, zircon (hyacinth, jargoon, matara or matura diamond), corundum (rubies, sapphires, oriental amethyst, oriental emerald and oriental topaz), garnets (grossularite, pyrope, spessartite, almandite, cinnamon-stone, demantoid), spinel, tourmaline, quartz (rock crystal, amethyst, rose quartz, cairngorm, smoky quartz, cat's eye, carnelian, precious opal etc.).

These gem materials are obiously crystallised directly from molten rock materials of appropriate composition and they can be made in the laboratory in a similar way.

Historical aspects of Gems and Gemstones ;

Colourless and transparent crystals have excited admiration and curiosity since the beginning of civilization.

(1) In the early civilizations, in Egypt and Mesopotamia, precious stones, engraved with suitable inscription or designs were fashioned into shapes suitable for use as seals for impressing the designs on softer materials.

(2) In the Roman Imperial era, astrological symbols were engraved on gems and still later, in the early

Christian period, Complex Gnostic symbols are found.

(3) At Harappa and Mohenjo-daro (3000-2000 B.C.) the Carnelian, jadeite and steatite beads have been discovered in the girdle and necklaces. The following gemstones have also been discovered in a variety of other materials. These include riband-jasper, red, yellow and blue jasper, agate, moss-agate, onyx, amazonstone, plasma, lapiz-lazuli, tachylite, chalcedony, nepheline-sodalite, shell, faience, vitreous paste, quartz, breccia, serpentine, turquoise (very rare) and so on. Etched Carnelian beads were sometimes copied in a soft stone, such as steatite.

Uses of Gems in Jewellery ;

Diamond, rubies and Sapphires etc. have been used in jewellery since the very beginning of civilization. Jadeite is used for making buttons, bars for brooches, small pieces for making bracelets and beads for necklaces and bangles. It is very much used for carving in China. In one word we can say that uses of gems in jewellary is not a thing of to-day.

Other Uses of Gems ;

Gems Mythology ;—Precious stones have been credited with powers of healing or of magic, either beneficial or malevolent. Some of these beliefs were due to simple and obvious, though superficial and fallacious, associations of ideas. Wearing of gems as talismans protects the wearer aginst harm, has been common thought through the ages and still goes on to-day, though belief in their virtue is much diluted. The ancient believed that each month of the year was under the influence of a precious stone and in modern times this superstition has found many devotees. In many fashionable European Countires, it is quite the prevailing custom to wear birth-month stones. The list given below was prepared by the American National Retail Jeweller's Association :

January	Garnet	Constancy
February	Amethyst	Sincerity
March	Aquamarine	Wisdom
April	Diamond	Innocence
May	Emerald	Love
June	Pearl	Wealth
July	Ruby	Freedom
August	Peridot	Friendship
September	Sapphire	Truth
October	Opal	Hope
November	Topaz	Loyalty
December	Turquois	Success.

several gems which are supposed to be under the influence of seven chief planets are as given below :

Saturn	Onyx
Jupiter	Carnelian
Mars	Diamond
Sun	Sapphire
Venus	Emerald
Mercury	Lodestone
Moon	Crystal.

Gems used as medicine ;—The medical or therapeutic use of gems is as varied as the gem themselves.

(1) In India perals are used for manufacture of मोती भस्म and corals for मूंगा भस्म
(2) Rubies have some times been supposed to have the power of stopping the flow of blood.
(3) Yellow stones are supposed to cure jaundice.
(4) Armethyst is supposed to cure drunkenness.
(5) Sapphire was regarded as medicine and was dedicated by the Greeks to Apollo.

Uses of Gems in Industry

Ball states that about 15 percent by value and 75 percent by weight of gemstones are normally taken by industry, the diamond being the most important industrial stone.

Diamonds ;—Some important industrial uses of diamond are given as follows :

(1) 50 percent of all diamonds are used industrially, for grinding wheels, for purposes of bearings, piston-rings, axle shafts and other parts of machines of all kinds that require a very minute accuracy of finish.

(2) Another important use is in drawing wire. Gold, silver, platinum, iron and tungsten wire are drawn through a rounded hole drilled in a diamond die. Though tungesten carbide-drawing dies have replaced diamond for the larger sizes of dies but diamond dies are still in use for drawing wire smaller than 0.0025 in diameter (average size of humain hair). Tungsten filament wire for light bulbs and radio tubes are drawn through a diamond die.

(3) Diamond with holes in them are also fitted in oil nozzels, to be used in the furnaces of our homes and factories.

(4) Diamond core-drills are in constant use by geologists and mining engineers.

(5) For sawing and drilling building stone, the diamond is invaluable.

(6) Industrial diamonds are employed in the turning of the part of the air-craft-engine.

(7) Diamonds are also used for electrical meters and scientific instruments, microgears, time devices, typewriter platens, watches and so forth.

(8) Diamond is used as a glass cutter.

(9) Diamond styli are used for gramophone recording heads and pick ups.

(10) Before the war, German made dental diamond tools, were distributed all over the world and enjoyed a high reputation.

(11) It has been revealed that diamonds are sensitive to radioactivity and that single colourless diamond crystal can be used as counter of alpha, beta and gamma rays.

Artificial Diamond ;

"Synthetic diamonds are made in grit sizes (approximately 0.1 mm.). These sizes are in greatest demand for the manufacture of bonded diamond grinding-wheels for shaping and sharpening tungesten carbide tools. This is perhaps the greatest single use of industrial diamonds and because of its importance in defence industries diamonds have been classed as a special strategic materials. Synthetics are superior to natural diamond for this use because they are single crystals. The small amount of impurity present in diamond made by man does not reduce the hardness. It is possible to manufacture larger single diamond crystal, a few millimeters in diameter, but the cost will be high" (McGraw-Hill Encyclopedia of Science & Technology, Vol. 4, p. 101, 1960).

Corundum ;

Impure and opaque forms of corundum are used in industry as an abrasive for grinding and polishing. It is applied in a powdered form. The powder is used in different grades of fineness by lapidaries for grinding gemstones etc.

Natural Ruby ;

Due to its hardness, it is used for pivot supports in delicate instruments as jewel bearings of watches and also for bearing in scientific instruments.

Artificial Ruby ;

Artificial ruby is used for producing laser (light wave amplification by stimulated emition of radiation) waves. A optical maser is called as laser (if it operates in the light region) or an iraser (if it operates in the infrared region). The application of lasers in radio astronomy, communications, atomic clocks and spectroscopy is being developed.

Garnet ;

Garnets are also used in the manufacture of pivot support for watches etc.

Tourmaline ;

Because of its pyro and piezoelectric property, tourmaline crystals are made into gauges which are frequently used in submarines to measure transient pressures and depth. Plates cut at right angles to the principal axis are coated with electrodes from which wire leads to a recording device. Such gauges are used to measure the pressures of atomic explosions.

Quartz ;

1. Large flawless quartz crystals are used for the manufacture of quartz oscillator plates, as prisms in optical spectrograph. Plates of quartz, properly oriented and cut to proper thickness, vibrate with remarkable constancy. They are employed to maintain the wave length of radio broad-casts.

2. Quartz clock :—"A clock that uses the piezoelectric property of quartz crystal. After a crystal has been placed in operation the ferquency changes slowly as a result of physical changes. When allowance is made for such changes, the best crystals run for a year with accumulated errors of less than 0.1 sec.

The practice at astronomical observatories that determines time is to rely on the average indication of several quartz clock to carry the time from one astronomical determination to next and to smooth out the accidental errors of the astronomical observations. In this way the mean solar time is known at any instant with a precision of a few thousandths of a second" (McGraw-Hill Encyclopeida of Science & Technology, vol. 11, p. 182, 1960).

Amber ;

1. In modern times amber (organic gem) is chiefly used for the manufacture of cigarette holders, mouthpieces for tobacco pipes and costume jewellery, although now largely replaced by synthetic resins.

2. Amber was once used to a limited amount in fine varnishes, but is now of no commercial value in this industry.

Artificial Gems and Gem Industry

On account of the precious stone being very rare and being very costly, efforts have always been made to produce imitations and counterfeits in other materials by artificial means.

Synthetic gems are those manufactured by an artificial process in which the constituent elements of the natural stones are combined so that the resulting material has the same composition and physical characters of the genuine stone simulated. The synthetic rubies and sapphires have the same density, same ornamental properties, the same hardness, the same refractive index and the same dichroism as the natural ones. Synthetic stones are frequently used in moderately expensive jewellery and they have several advantage over the purely imitation gems. They differ from natural ones only in very slightly secondary features, due to the different manner of growth. For the preparation of synthetic gems Verneuil process is frequently adopted. Microscopic rubies were first made by M.A. Gaudin in 1837. In 1902, A Verneuil succeeded in producing synthetic rubies and sapphires.

Imitation Gems

Materials classified as imitation gems have compositions differing markedly from the gems that they simulate. They are manufactured principally from glass, although bakelite and other plastics are also used. These materials are well adopted for the use in costume jewellery. The glass used for this purposes is called "paste" or "strass" and is made of the different compositions but always with silica as a base. The silica is now supplied in the form of quartz or a high grade quartz (glass sand), but the material giving the especial qualities is lead oxide. The more the lead the glass contains the more brilliant it is, but at the same time it is softer. The following properties are helpful to recognise an imitation gem :

(1) *Hardness* ;—They are softer (hardness 5 to 6) than the natural gems. They will not scratch ordinary glass, exposed surfaces soon become scratched, nicked and dull.

(2) *Isotropic Character ;*—Being amorphous, these imitations are singly reflected and do not show dichroism.

(3) *Refractive index ;*—Depending upon the composition of glass, the refractive index varies from 1.5 to 1.8.

(4) *Specific Gravity ;*—This property varies markedly with the composition, especially with the amount of lead oxide used in manufacture and may range from 2.5 to 4.0.

(5) *Air Bubbles ;*—Although great care is taken, even air bubbles are usually present.

(6) *Heat Conductivity ;*—The glass is poor conductor of heat and hence are warm to the touch. Diamond and quartz etc. are cool to the touch.

(7) *Conchoidal Fracture ;*—Being an amorphous substance, glass has an easy conchoidal fracture which are quite brilliant.

Doublets and Triplets ;

There are other types of stones met with which are not wholly imitation. They are known as doublets and triplets.

Doublets consist of two stones formed together to look like a single stone. Two types of doublets are known, true doublets and false doublets. In the case of true doublets it consists of two sections each of genuine material, joined with a invisible cement to produce a large stone. False doublets have a genuine crown (the upper half), while the pavilian ordinarily consists of an inferior stone or of glass. For example, a slice of ruby may be backed with garnet, some other inexpensive red stone or red glass. The only point is that it should be same colour.

Triplets are those made after this manner and in these the centr of the three different sections is generally the imitation layer. In triplets, generally, crown is of quartz or of another mineral to withstand wear and the base is of some mineral or glass. In between the crown and the base there is a thin plate of coloured minerals to give the stone a desirable and pleasant tint.

How to test doublets and triplets ;

(1) When boiled in alcohol or in chloroform it will frequently dissolve the cement and separate the parts.

(2) The dichroscope also serves to detect the false character of doublets and paste imitation as there is lack of dichroism.

Differences between Synthetic & Natural Gems

Many attempts have been made to produce diamond by artificial means. In 1902, A. Verneuil succeeded in producing synthetic ruby and sapphire. Although the introduction and marketing of these synthetically prepared gems caused a considerable fall in the value of sapphires and rubies during a period of some years. The certain means of detecting these stones and the increasing confidence of the public have restored both sapphires and rubies to their previous level.

However, a competent jewelleror stone dealer is always able to differentiate between a synthetic and natural stones, and with the help of a good microscope and a little practice he can know the following differences :

	Synthetic gems		*Natural gems*
1.	In synthetic stones there are small air bubbles which are generally perfectly rounded.	1.	In natural crystals, if air bubbles occur, they are always irregular in shape and often resemble the original form of the crystal.
2.	In synthetic stones, if inclusions are to be seen, they are arranged in curved formation.	2.	In natural stones the inclusions would vary in size and are irregularly distributed.
3.	Structure lines or striations are curved in synthetic stones.	3.	If striae are present, they consist of straight lines.

Synthetic gems	*Natural gems*
4. The colour of synthetic stones is frequently too uniform and often looks "glassy".	4. The colour in natural gems for example in rubies and sapphires, frequently varies in different parts of each stone and if bands of colour occur, they are either parallel or irregular and never curved.
5. The peculiar internal optical effect known as "silk" is never seen in synthetic rubies and sapphires.	5. The peculiar internal optical effect known as "silk" is seen in natural rubies and sapphires.
6. In a synthetic ruby the red phosphorescence persists even after exposure to X-rays.	6. In natural stones which also glow under the X-rays, the glow is extinguished immediately when the rays are cut off.
7. In synthetic rubies, there is greater transparency to short-wave Ultra-voilet light.	7. The natural rubies show smaller transparency to the same light.
8. Synthetic sapphires show no such bands.	8. The natural blue sapphires almost invariably show atleast one of the group of three absorption bands in the blue which are seen at their strongest in green sapphires.
9. Synthetic yellow stones show no absorption and fluorescence.	9. In natural yellow sapphire the presence of the 4500 A° band is seen (but the stones from

Synthetic gems	Natural gems
	Ceylon may not show any absorption bands and are distinguished by a characteristic apricot yellow fluorescence under long wave-ultra-voilet light.
10. In synthetic star ruby the stone can be recognised at night by the perfection of the rays. Under the microscope the swarm of bubbles may be seen just below the surface.	10. Under microscope the swarm of bubles are not seen in natural stone.
11. Synthetic spinels, except red, do not represent the natural spinels and are made to simulate aquamarine, blue zircon, sapphire or diamond. The blue synthetic spinel appears orange red under a Chelsea filter and gives the absorption bands for cobalt.	11. Absorption bands for cobalt are not obtained in the case of natural blue spinel.
12. The solid variety of pearl is smooth to the touch. The application of one's teeth to the surface of a pearl is the best test for this.	12. Natural pearl gives a gritty sensation.
13. In the case of cultured pearls (it is more difficult to detect and detection of these pearls would be always easy and certain if the	13. In the case of natural pearls, the nucleus is very small in nacrescope and is always surrounded by concentric layers

Synthetic gems	*Natural gems*
pearls could be sliced but it is not practicable), the nucleus is generally large.	which in nacrescope show as a darkish centre, lightening as the edges are reached.

Recommendation

Since a very large number of civil as well as defence industries so vital for the development and protection of our country, depend on artificial gems, it is very necessary that a factory for the manufacture of artificial gems should be started in India by the Central Government at asuitable place either with the co-operation of some foreign concern or by employing an expert from some foreign country.

THE BLACK SEA RIVIERA

Dr. BHUPENDRA RAI

I was fortunate enough to be one among one million guests who visited Bulgaria this year. Bulgaria is a small East European country blessed with immense wealth of natural beauty. In the eastern part of the country is the widerspread coast of the Black Sea popularily called by the foreigners as "The Black Sea Riviera". Its beaches have opened the flood gates of the tourist traffic to this country. Stimulated by the pictures of 'Life International' magazine in its special issue of Vacationer's Europe, I started my journey from the capital city of Sofia to Varna, a famous summer holiday centre on the Black Sea with great enthusiasm. The route from Sofia to Varna passes through fabulous mountaneous landscape of the Stara mountain. It lends a gorgeous view of temperate lushness so soothing to the eyes. The train passed through the famous valley of roses and smoothly crept into the fertile plain having the panorama of fields covered with sunflower and long green stretches of maize. Here in these fields, I visualised the hormony of East meeting the West, for here the Soviet maize hybrids rub shoulders with the American hybrids in a peaceful co-existence.

Reaching Varna was not less exciting. From a long distance the scenic splendour of the dark blue sea, popularily called the Black Sea, conveyed its smiling welcome. I wondered how it was called Black Sea. The water was transparent and blue. Getting an accomodation in Varna was not a simple affair. It was all packed with tourists, journalists, writers, painters and many others. This year the total number of tourists had reached a new height. During 1963 approximately 400,000 tourists visited the country, the figure jumped to 808,000 in 1964 and this year it touched the much awaited one million mark. The major bulk of tourists had pured in from the Czechoslovakia.

Besides the brother socialist countries, there was a flow of tourists from West Germany, England, Austria, France, Switzerland, Italy, Sweden, Syria, Israel and America. The highest number of tourists from the west European countries was from the West Germany. The huge rush was expected and the country was fully prepared with luxury hotels, private quarters, student hostels, camping sites and other temporary accomodations.

The next morning, I visited the famous sea beach "Druzba" situated near the Varna city. It was an all packed beach. Anyhow I made some room with the help of one of my Bulgarian friends. To an Indian like me sunbath hardly meant anything but what mattered the most was the leisure and pleasure of the open air and water coupled with a nice company of different people from different lands. The sight at the beach was fascinating. The extreme economy of the fabric in the sunbathing costume made it more exciting. At the beach I had an opportunity to meet few families from Germany, Austria and Czechoslovakia. The German family was from the West Berlin. To the inhabitants of East and West Berlin these beaches mean much. There is no secret about it for the two Berliners have happy reunions with friends and relatives on the beaches of Bulgaria. The Austrian family was very cordial to me for having given a nice company and for sharing interesting discussions about our two countries. They were very happy to know our industrial progress. The Lady Komar of the Austrian family was happy to know our lady Prime Minister Mrs. Indira Gandhi. Her head was high with pride to know of a lady leading a great democracy. During our discussions they put many interesting questions. One member of the Czechoslovakian family told me "I am impreseed by the progress your country has made. What concerns me is your dependence on others for food. Your country has got great natural resources, and a great manpower, then why do you look to others for such a basic requirement." Though I could partially answer the question, it gave me considerable food for thought. This is a great question for ourselves to answer.

The next day I had an opportunity to visit the most famous sea beach of Bulgaria— "The Golden Sands", 18 kilometers away from the main Varna city. It represents something like Cannes, Le Touquet or Neopole and has become an international centre of tourist interest for the whole Europe. Majority of tourists visiting Bulgaria frequent its beaches to enjoy the warmth of the beacho-therapic pleasures. It differs from the most of the Riviera (i.e. the resort region along the Mediterranean coast of south east France and northwest Italy) in having long stretches of sands and sand dunes on its beaches unlike most others, particularily on Italian beahes (Neopole for example) only sea and sky give the look, but at the Golden Sands the long stretches of the fine sand set in a wonderful mountaneous background, make it look like a fairyland. In span of less then ten years the place has been completely transformed into a spectacular beach complex with luxury hotels, restaurants befitting the background with the vividness of the blue shades of the vast expanse of the sea.

At the Golden Sand beach I was astonished to hear an Indian song from the film "Shri 420" broadcasted from the Radio Varna. To my surprise I was told that Bulgarians liked the Indian songs most. With whomsoever I had an opportunity to meet, they asked me invariably something about Raj Kapoor after having asked about Mrs. Indira Gandhi. Once the whole Bulgaria was humming the songs of "Awara" and "Shri 420". These films were most popular and had box office record. I strongly feel that if some of our good films are shown here, they can bring a better understanding about India.

Evening at the Golden Sands was much lively. Life returns to this place in its full bloom at night. With neon-lit roads, illuminating hotels, restaurants and bars, reflected by the dazzling seaside, the whole panorama turns into a saga of drinking and dancing. The atmosphere turns musical, mixing the modern music with eternal sea music prodced by the impatient violent waves embracing the beach. I had an opportunity to witness a cultural programme of Bulgarian folk songs and dances in a hotel on the seaside. The programme was set in open air viewing the sea. The night was fortunately blessed with full-moon. A glance in the dazzling sea water in moon light was making one sink into poetic imaginations. The folk songs and dances were interesting. What interested me most was the walking of the dancers on fire. I was astonished to see how the Bulgarian beauties could master such a feat, rarely known to yogies and tribal people of India. When I expressed to my Bulgarian friend that such feats are not uncommon in India, he told me that this stems from the old Bulgarian culture. May be that our two cultures are align and have something in common. I wondered if it had originated from the old Indian culture.

The Golden Sands or Gold Giving Sands

The Golden Sands have become the gold giving sands in Bulgaria. These sands have become the actual manmade goldmines or accurately the goldmines of foreign-exchange. They earn the precious foreign exchange, which is so earnestly required for the industrial development of the country. The meaning of the Golden Sands seems to be a indicative of this fact, for as it looks the sand is quite ordinary. It has discovered a great new industry for Bulgaria : Tourism. The other reasons for the tremendously growing tourist traffic here seem to be the high network of the roads, which have sprung up in recent years, cheap hotel accomodations, easy transportation and cheap food and drink unlike in most of the other countries. The charm and the hospitality of the Bulgarian people, who eventually blend the eastern and the western cultures, is priceless extra. That is why all the foreigners who visited this place last year, have come again enthusiastically this year in far more greater number. They have been awfully attracted by the romantic sight of the beaches, warmth of the thermo-therapic pleasures, profusion of the roses formed by the legions of kerchiefed women coupled with the kick of the famous Bulgarian wine. They have become the million unpaid propagandists for Bulgaria. The tourist traffic is expected to increase tremendously in the coming years and each year is expected to make a history in tourism in this socialist country.

Future Planning ;

Arrangements are in progress with the fastest possible speed to vastly expand the existing accomodation to cope with the demands. In coming 5 years, it has been planned to add another additional hotel accomodation of 42,000 beds to the existing 31,000. It has been planned to add 8,400 beds (each year) to the existing number. Till 1980 it hs been planned to build a new beach complex with 45,000 beds at a most beautiful site at the Black Sea on the virgin beaches between Sozopole and Premorsko towns.

Seeing the planed Bulgarian effort to discover this new industry of tourism, I wish why we too in India cannot do the same thing for all the progress Bulgaria has done, is only after its independence in 1944. We too have got a widespead potential seashore. One of our natural sea beaches "Kovalam" near Trivandrum in the words of former U. S. Ambassdor to U. N. Adlai Stevenson, is second only to Miami in U.S.A. We have got a great tourist potential of historical and cultural origin too. We have to exploit them to our advantage. It requires a planned effort in terms of expanding hotel accomodations, transport facilities and an efficient publicity. To our country expansion of tourist facilities will not only mean a source of foreign exchange, for want of which the country is in crisis, it will also be a stimulant for co-existence to understand for one's ownself, the people and the country which have lived so long isolated, not only to the foreigners but also to our own people.

An educational excursion took me to the famous valley of roses. On my very entrance in the valley, a warm welcome was given to me by the sweet fragrance of the light breeze blowing through it. The vast green panorama of this valley is spread over a span of 130 kilometers in length and 15 kilometers in width and is situated in the arms of the two mountaneous ranges of Stara and Sredna Gora mountains. Besides the enormous treasure of natural beauty of feminine charm, the tourists, jour-

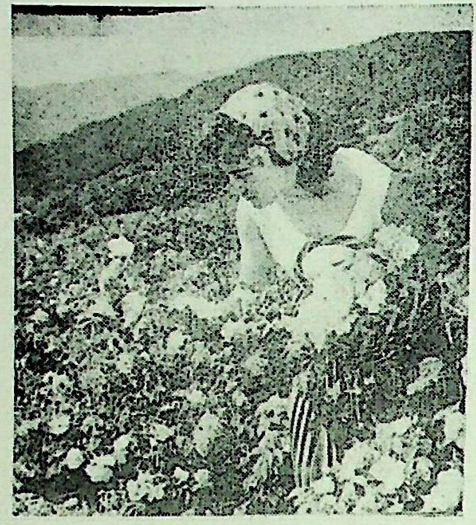

Picking Roses

Admiring Roses

Collecting Roses

nalists, writers and poets have spread the fame of this valley for its roses. It is now the new home of the famous Damascus roses. On my route to Kazanlak, a famous town of the valley and the centre of the newly developing rose industry, I travelled approximately fourty kilometers on the natural green carpet of the blushing vegetation amidst the panorama of the Stara mountaneous ranges. Kazanlak, besides other interesting places of the tourists interest, has got a big Rose Research Station, which has become a place of pilgrimage for the rose lovers. This station looks into the agro-technological aspects of roses and rose-industry and maintains approximately 1500 varieties of attar yields, besides numerous collections of ornamental roses from all over the world.

Roses in Bulgaria are a gift of the Orient. But when and from where it came to Bulgaria is exactly not known. It is generally believed that during eighteenth century, in Turkish regime it appeared in Bulgaria. Botanically the roses of this valley are the Rosa damascena (Damascus roses) but they are seldom as famous in Damascus (the capital city of Syria) as they are in the rose valley of Bulgaria. Parallel to the historical fact runs the legend narrated by Roussin Hristov. Once upon a time a handsome Dervesh of Damascus met a beautiful girl in the street of Damascus. The Dervesh could not resist the beauty of the girl and fell in love with her. They decided to run away together. But on the very first night a disaster fell on the Dervesh and the girl turned into a rose flower by the divine curse. The Dervesh roamed all over the world with his beloved rose to find a suitable place and finally settled in this valley. Since then every spring at the time when unhapy lovers met in the Damascus street, the rose blooms and the valley is filled with fragrance to commemorate the happy meeting. Anyway, whatsoever may be the legend one thing is true that the valley has got the most suitable agro-climatic conditions for the growth of the rose fulture. Nourished by the fertile soil of the valley, roses are protected from the glacial winds of the north as well as from the stands of the south by the double screen of the mountain chains. Besides this, numerous showers and the network of the numerous brooks and streams make it the ideal valley for rose growing.

In the evening, I decided to stay in a small town of the valley, Kalofer, to see the life of the valley from a close quarter. Though it was the last close of the rose picking season, the roses were still blooming. As I was informed the rose picking season starts here in the mid May to mid June. The opening of the season starts ceremonially something like the pattern of Baisakhi in India, amidst drinking, dancing and funfair. Rose picking goes on for nearly 3-4 weeks. It is an all out effort. All the students, factory workers and peasants of the valley during this season have the local holiday "The Rose Picking Holiday" and the valley blooms to its real youth.

The next day early morning, I had an opportunity to visit a rose-picking sight. The rose gardens were humming with the flower pickers. The air was ringing with the jokes and laughter, besides the sweetness of the chorus of the Bulgarian folklore. I had few querries with the rose-pickers and they were happy to reply them. To my surprise the rose-pickers whom I had an opportunity to meet were well informed of even the research findings of the rose-culture. I wished it could be the same in our country and the agricultural research could come down to the farmers from its sky level. What interested me most at the sight was the rose picking spirit and the teamwork. The rose picking operation brings a great lesson of co-operation. It brings all the valley people together, both young and old.

Though rose gardens are in South France, Greece, Cyprus, India, Iran, Italy and U.S.A. (California), Bulgaria has emerged asithe chief exporter of the rose-perfumery. At present about 70 perfume distilleries are functioning which extract the essence of approximately 900,000 kilograms of rose-flowers daily. Though the quantity of attar depends on the quality of the flower and the picking time, one kilogram of the attar is obtained from 3000-4000 kilograms of rose petals. Costing approximately 450-500 leva (about 1800-2000 rupees) per kilogram, it could be understood the amount of foreign exchange it earns for Bulgaria. Apart from the economic fact, to the Bulgarians roses have become symbol of beauty too and have flown in the whole artery of national life. Today one can hardly find a garden or a house without roses and hardly a party gets gay withoutit. I could see in the street many ladies wearing dresses having prints of the rose flowers.

Next day I crossed the valley through the famous village of the valley, Rosino, situated at the end of it. Fortunately it was Sunday and I could see the rose pickers performing Horo, the national round chain dance in open to the rhythm of an accordion. When I tried to see it from the close, I was too dragged in it. It was not very difficult and I could manage it. Just like the beat of the Bhangra brings an automatic motion to the moving feet and the lookers hardly resist the temptation, the situation is more or less similar with Horo. One of the old Bulgarians told me We Bulgarians want to-live, dance and sing. Our forefathers only dreamt of spending such happy moments as we are enjoying now." After the dance, I proceeded on my way to Sofia, the capital city of the country. As I passed through a sweet wave of rose perfume passing through the nearby distillery filled my nose as if bidding a humble goodbye. Like numerous tourists and travellers, who have passed through this valley, the roads of roses had been a road of great joy to me.

AHIṀSĀ : AN ANALYSIS

BASHISTHA NARAYAN SINHA,

Deptt. of Indian Phil. & Religion,
College of Indology, B.H.U.

Ahiṁsā is one of the great moral virtues, viz. Satya (Truth), Ahiṁsā (Non-Injury), Asteya (Non-Stealing), Brahmacarya (Sexual-Restraint) and Aparigraha (Unattachment) etc. It is the backbone of Jainism though it holds an important place in Hinduism, Buddhism and Christianity also. The term 'Ahiṁsā' is the antonym of the word 'Hiṁsā' which has been derived from 'Hiṁs' which means to trouble or to injure or to kill. Thus 'Hiṁsā' means troubling or injuring or killing. It is not limited to actions only. It can be done by willing and speaking also, i.e. Hiṁsā has a wide scope in minds, words and actions (Manasā, Vācā, Karmaṇā), for example, a man, inorder to take revenge against his enmy, makes up his mind to kill him, he utters harsh words when he meets him, and at last he kills him also. It is generally believed that the third stage when one is killed, is the stage of Hiṁsā. But, actually 'Hiṁsā', is committed when a man thinks to do that ; other activities such as uttering pinching words and killing etc. are practicalities or the result (it may be called) of willing for injuring. One may be blamed for doing Hiṁsā even if he thinks only to trouble somebody, though practically he does not do that, and on the contrary a destroyer or killer of several beings cannot be considered as a 'Hiṁsaka' (one who commits Hiṁsā) if he has no intention to kill them. In the field of Hiṁsā on one side a fisherman sitting on the bank of a tank or a river, with an intention to fish, is always balamed for committing Hiṁsā, though sometimes he does not catch even a single fish during the whole day, and on the other an agriculturist is never condemned for doing Hiṁsā though he kills so many insects while ploughing his fields, because his intention is only to plough not to destroy any insect. It is intention which matters much more than anything else in this field. But, practically Hiṁsā is seen or known when somebody troubles or destroys some beings. Thus Hiṁsā has been divided into two classes : 'Bhāva Hiṁsā' and 'Dravya Hiṁsā'. 'Bhāva Hiṁsā' is a subjective injury which is done mentlly. In other words, the stage when one thinks to injure somebeing is the stage of Bhāva Hiṁsā. 'Dravya Hiṁsā' is an objective injury which is done by uttering and acting. Thus, Ahiṁsā is the abstention from all sorts of injury done either by thinking or speaking or acting.

Hiṁsā is done, caused to be done and permitted to be done i.e. one himself injures somebody, or he orders his servants or helpers to injure or he keeps himself mum when somebody is being injured. Ethically, it originates from Pramāda' (negligence) or 'Krodha (anger) ; Krodha' is the result of 'Dveṣa' (malagnity) which comes out of "Rāga" (attachment or affection). If there is something to which two persons are attached and both of them want to achieve that ; they suffer naturally from the feeling of aversion or animosity which provokes them to be angry with and to fight against each other, and consequently some sort of injury takes place. Thus, Rāga is the fountain head of Hiṁsā. Where there is no attachment, there is no aversion, no anger and no injury. But, it also depends upon the capacity in which a man acts, for example, a master orders his servants to beat somebody or a commader orders his army to fight against the army of an opposite nation and they follow the orders. But neither the servants nor the army can be blamed for doing any crime because they do not act according to their own will ; they are forced by others to do that. It is premitted according to circumstances. Suppose, one has been attacked by robbers who want to take away his property by injuring him. Should he sit peacefully without facing his enemy ? Certainly not ! He should save himself and his property even by killing them (robbers). But his aim or intention must be to save himself not to kill others. In the same way a king may protect his nation even by slaying several persons belonging to the party or nation which has invaded his country. The Hindu Śāstras have permitted that one may save himself, his society and his nation even by taking to arms, if there is no alternative to protect. On this very ground Kṣattriyas, the protectors of nations have been allowed for doing Hiṁsā for the sake of protecting their nations. Thus Hiṁsā may be classified as (1) Defensive and (2) Other than defensive.

Moreover, Hiṁsā is done on the following grounds:

Several species of animals as cow, ox, bufallo, deer etc. are butchered for the sake of the luxurious commodities made of their skins, horns and bones. This is the direct way to Hiṁsā done for the cause of economic advantage. But there is also an indirect way to it, i.e. the exploitation of the poor people or labourers by capitalists.

Hinduism divides the whole society into four Varṇas viz. Brāhmaṇa, Kṣattriya, Vaiśya and Śdrūa. The Brāhmaṇa is the, varṇa or class of the most superior and the Śūdra is the class of the most inferiors. Similarly, other religions also, if not theoretically at least practically, have classified the society into different classes. The people of the lower classes are hated by the people belonging to the upper classes. Often they (people of the lower classes) are totally boycotted on the occasions of so many social and religious performanees. And, this is nothing but a social exploitation which is more pinching and piercing than some physical injury. Tulasidāsa in his Rāmāyaṇa' has also affirmed that Jāti Apamāna', the dishonour based upon caste and creed, is the most painful thing among all sorts of disgrace.

जद्यपि जग दारुण दुःख नाना । सब तें कठिन जाति अपमाना ।।[1]

In ancient time kings used to prey upon the different bids and beasts in the forests and even at present some rich persons are found interested in hunting. Although hunters use the meat, skins, horns and bones of the hunted animal. Their aim is to gain mental satisfaction or enjoyment. They count the enjoyment more than the utility of meat, skins, horns and bones. Some people are of the view that the kings were interested in the practice of arrow-shooting, with an aim to face the invaders and to protect their nations, not in the enjoyment of hunting. So they should not be blamed for doing Hiṁsā, because the practice of arrow shooting was necessary for them. How far this statement is justified it is very difficult to say. But the hunting done at present can certainly be considered as the Hiṁsā done for the cause of mental-healing, i.e., the Hiṁsā done on the hedonistic ground. It is also done for the cause of healthy diet, i.e. some people slay animals for taking meat inorder to have different vitamins, so that they may possess a good health.

---

[1] Śri Rāmcharitamānas—Gosvāmi Tulsidās, Bālakāṇḍa

Hinduism, Islam etc. permit animal slaughtering on the religious basis. At the time of performing a Vedic sacrifice animals are slaughtered and it is proclaimed by the Vedic scriptures that the animals slain for the sake of sacrifices get a direct entrance in the heaven, because, everything used in sacrifices achieves some religious improvement. In Sārvasvāra Yajña' (a type of sacrifice) the man who performs it, offers himself to the fire-god. But this is not considered as a suicide or Hiṁsā. There is a great difference (as it is believed) between the offering of one's own life to the fire-god and committing a suicide. A man after experiencing all the pleasures and pains of his life, feels that there is nothing permanent in this world. He wants to liberate himself from the worldly affairs. But he does not find any way to liberation (except this sacrifice) which may suit his nature. Then, he performs 'Sārvasvāra Yajña' and offers his own life to the five. But, in the case of suicide a man being too much perturbed and perpexed by his present situations, kills himself, because he finds no alternative to get rid of. Thus in the former there are experience, satisfaction and the desire for liberation from the wordly affairs while in the latter there are perplexity, fear and the desire of being free from the particular situations. In the same way, in Islam, animals are

are butchered at the time of 'Bakarida' and other religions performances.

It is often seen that most of the domestic animals like cow, ox, buffalo, etc. are neglected when they become old and unable to help their owners. Neither satisfactory food is supplied to them nor care for their proper health is taken, consequently they become so weak that they cannot even move freely and easily. At that time the meat-eater-birds as crows etc. very cruelly peck out wounds on their bodies, in order to suck blood and to take meat. That pitiable scene generally attracts even the passers by. But the question arises : what should be done there ? Should the old animals which have served their masters during their whole lives, be left tumbling and writhing or should they be freed from their sufferings ? Suppose somebody wants to save an old animal, then, either he should supply sufficient food to it so that the animal may regain its health or he should kill it (as it has been advised by the western thinkers). But in many cases supply of sufficient food does not help the old animal to recover. Therefore, the next alternative remains to be applied. It means the animals which have become invalid should be killed by slaying or by electric shock. So for intention is concerned, this sort of killing may not be considered as an injury, because the killer has no aversion against the animals killed, he does so with an intention to free the animals from their sufferings.

But again some doubts and difficulties come forth :

1. Does that old animal want to be free from all of its sufferings by being killed ? Animals have no word to express their feelings clearly. So, they are treated by human beings in whatever way they like. But we find that neither a single human being except a few abnormals wants to be free from his sufferings by ending his life though he suffers a lot, nor a single means to destroy a life is applied to him, because up to the last moments of his life he expresses his feelings of attachment and affection with his nears and dears. Moreover all other possible means are adopted for keeping him alive. So, why do not the other

poor creatures be treated in the same way, if life is liked and loved by all.

2. Does the man, who wants to free an old animal from its sufferings, free the animal only ? When a man sees some animal writhing, he is himself troubled much by that pitiable scene. So, though consciously he wants to free the animal by killing it, unconsciously he intends to free himself from the sorrow being created by the helpless creature. Thus, killing an old animal includes the killer's feeling also.

Moreover, it is generally found that a beggar comes to the door of a richman in order to beg something for his fooding or clothing. But some times the richman who is busy with his own business, being disturbed and annoyed by the beggars beseeching, sound, hoots him like anything and pushes him away from his door by giving him a single pice. The circumstances i.e. sufferings from hungers and thirst compel the beggar to keep himself mum and to take the pice offered to him, othersise the bitter hooting on his part pinches his poor but pure human heart. Now the question arises : whether offering of a pice to the beggar is actually a help to the beggar or to the wealthy person who has offered it. People may differ while forming their opinions from the different angles of their thoughts. But so far as my mind goes, in the present case, the offering of a pice to the beggar matters really in the favour of the richman and not in the favour of that beggar who has implored, because the intention of the richman is to remove his own disturbance and not to help the poor beggar. So, sometimes in the guise of Ahiṁsā, Hiṁsā plays its own role.

3. Is an old animal liberated really from its suffering, by being killed ? There are some religious theories which are of this view that the only life is the present life ; neither there is past life nor the future life ; there is no link between past, present and future. Therefore a being becomes free from all sorrows and sufferings after its death. But most of the religions advocate that there are three stages of life ; Past, Present and Future.

The past affects, the present and the present anticipates the future. Thus as the result of the Karmas' (deeds) done in its past life some being either enjoys or suffers in its present life, and due to the deeds done in the present life, it enjoys or suffers in the future life. Therefore no being can be freed from its sufferings by being killed in its present life. Thus there are differences in opinions which are very difficult to be compromised.

The theory of Hiṁsā is also applicable to the destruction of the life which is not overt, that's why 'Bhrūṇahatya' (abortion or the destruction of fetus) has been considered as a great sin, from the religious point of view ; even the codes of some governments consider the above cases as the criminal cases.

In this way, Ahiṁsā needs a very cautious and careful movement either in thinking or in speaking or in acting, in order to be maintained. Though it is one of the moral virtues such as Satya, Brahmacarya etc. which are interlinked and interdependent, sometimes Ahiṁsā overlaps Satya. That is why it has been propounded that even truth should not be spoken if it is painful to somebody[2]. Theoretically, Hiṁsā or Ahiṁsā is applied neither to theism (Iāvarvśda) nor to non dualism (Advaitavāda). Theism declares that whatever either right or wrong, good or bad, moral or immoral happens to take place in this universe is due to the dramatic role of God, who is omnipresent, omnipotent and omniscient, and who creates, sustains and destroys this universe. According to Advaitavāda there is the only Brahman Who is real and all beings of this universe are parts and parcels or the different forms of the same Brahman. Thus, in both of the cases i.e. of theism and of non-dualism, it is impossible to find out the distinction between a Hiṁsaka' (one who injures) and Hiṁsā' (one who is injured).

---

[2] सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥ १८५ ॥

Samayocita Padyamālikā 16-1.

IMPACT OF ROMAN CATHOLICISM ON ROMANTIG POETRY

NARINDER SHARMA

The popularity of mediaeval romances in the romantic period brought in its wake the popularity of Roman Catholic decorations and creeds admitting miracles and mysteries. The romantic generation of poets, their intellectual curiosity being stirred up, found a kind of novelty in Roman Catholic antiquity which had been long dethroned owing to the sweep of Puritanism and rationalism. In its passionate fervour, strange theories and legends, they saw a great store-house of romantic themes. They succumbed to its outward glare and freely drew inspiration from it.

Walter Scott, being the early pioneer of romanticism took the lead in this matter and showed the way to Byron, Shelley and Keats. Scott, undoubtedly, is the first great romantic poet in whose verse romance, there is a streak of feudalism and mediaeval customs. The warm reception which his romances got from the general public was owing largely to the fact that he was the first poet to employ mediaeval tendencies which because of the powerful influence of Renaissance had long been forgotten since the Revolution of 1688. In religious matters, the beliefs, customs and rituals which Scott has hinted in his verse romances, are those connected with the ancient Roman Catholic Church. He loves to weave a web of miracles, mysteries. His heroes, heroines and most of the characters are people having ancient Roman Catholic faith and belief. They utter such words which only a person having faith in Roman Catholicism would utter. In the 'Eve of St. John', one of his first ballads with Scottish subject, the

Foot-page says...............

> "The second night I kept her in sight
> Till to the fire she came
> And by Mary's might ! an armed knight
> Stood by the lonely fire"

(line 49—52)

The old Baron speaks..............

"Now tell me the mien of Knight thou hast seen
For, by Mary he shall die".

And the lady in the same poem says...............

"Alas, away, away, she cried
For the holy Virgin's sake".

(line 156—158)

In the 'Lay of the Last Ministrel', Sir William of Deloraine, the Knight, remarks...............

'Penance, father, will I none
Prayer know I hardly one
For mass and prayer can I rarely tarry
Save to patter an Ave Mary
When I ride on a Border foray
Other prayer can I none
So speed my errand, and let me begone".

(Canto ii, VI)

In 1806, Scott undertook a wild tour and during this period he wrote dramatic lyrics which contain some autobiographical touches. In one of these lyrics 'The Palmer', he writes..............

"A weary Palmer, worn and weak
I wander for my sin
O open, for Our Lady's sake !
A pilgrim's blessing win
'I'll give you pardons from the Pope
And reliques from o'er the sea......
Or if for these you will not ope,
Yet open for charity'.

The faith in Virgin Mary expressed in the above quoted lines is purely Roman Catholic. The rites that precede in sending round of Fiery cross in 'The Lady of the Lake' and the arbitrating Churchman in the 'Lord of the Isles' are also connected with Roman -Catholicism. These show Scott's intimate knowledge of Roman Catholicism.

Scott's mention of Roman Catholic creeds and rituals and his interest in creating Roman Catholic characters though do not directly account for his belief in Roman Catholicism, nor did he ever openly express it, yet these elements do indicate the impact of Roman Catholicism on his imagination. Roman Catholicism did attract his attention and can claim to have won his love in some measure, may be for its outward glory. Besides, Scott did become responsible for helping the cause of the Roman Catholic revival by picturing very faithfully and sympathetically Roman Catholic characters and by making frequent allusions to its creeds and rituals.

Wordsworth is another great poet in whom the impact of Roman Catholicism can be traced. His leaning towards Catholic Church is clear from a close examination of his 'Ecclesiastical Sonnets'. In his sonnet on 'The Virgin' speaking about the dissolution of the monasteries he says :

> Thy Image falls to earth. Yet some I ween
> Not unforgiven the suppliant knee might bend,
> As to a visible Power, in which did blend
> All that mixed and reconciled in thee
> Of mother's love with maiden purity
> Of high with low, celestial with terrence.[1]

The first two lines here are sufficient to indicate that Wordsworth approved of the Catholic doctrines and its practices. This bent of mind towards Roman Catholicism manifests itself at many other places also. In 'Memorials of a Tour on the Continent' (1820) his poem 'Our Lady of the Snow' is a thoroughly Catholic hymn in praise of the "Meek Virgin Mother". His reflections on a rural Catholic Church in Switzerland makes him to say :

> Doomed as we are our native dust
> To wet with many bitter shower,
> It ill befits us to disdain
> The altars, to deride the fane
> Where simple sufferers bend, in trust
> To win a happier hour.[2]

---

[1] Poetical Works of Wordsworth (One Volume Oxford Edition, 1942) p. 435.
[2] Ibid p. 336, 338.

These lines also make it clear that he nourished in his heart sympathies for Roman Catholicism and the believers of its creed. But it must be remembered that these sympathies of Wordsworth are only partial. He does not wholly approve of its creed and faiths. On seeing a religious procession of Roman Catholics on a Sabbath morning in the Vale of Chamouri, he checks his admiration with an expression of sinister feelings:

> Trembling, I look upon the secret springs
> Of that licentious craving in the mind
> To act the God amongst external things.
> To bind, on apt suggestion, or unbind;
> And marvel not that antique Faith inclined
> To crowd the world with metamorphosis,
> Vouchsafed in pity nor in wrath assigned;
> Such insolent temptations wouldst thou miss
> Avoid these sights, nor brood o'er Fable's dark abyss.[1]

Wordsworth partially leans towards the Catholic creed perhaps because he found in it certain charm and fascination which satisfied the imaginative craving of a romantic mind.

Roman Catholicism also attracted the attention of Shelley, generally considered as a great rebel against religious creeds and doctrines. Shelley possessed by nature a great love for liberty and reform. In 1812 the cause of Catholic Emancipation in Ireland drew his attention and he went there with his wife and her sister. There he published two pamphlets, "Address to Irish People" and "Proposals for an Association". At Dublin, he 'attended and harangued a great gathering of Catholics in the historic Theatre in Fishamble Street', A.M.D. Hughues informs us, 'and the house crowded with Catholic elite, men and women'.[2] There he addressed them for more than an hour and the next day he figured prominently in the journals and other papers of Ireland. Shelley's enthusiastic support and strenuous share in Roman Catholic agitation cannot be wholly without any sympathy or compatability between his own religious beliefs and the creed of the Roman Catholicism. In him we can detect a combination of a Catholic spirit with Platonic doctrines which manifested itself during his last years in Italy when he read with great delight and admiration Plato, Dante, Petrarch, Ariosto and Tasso, the great Roman Catholic poets of Italy and the words of the great Catholic dramatist Calderon. He read them, it can be accounted, out of a craving for such ideas lurking in his heart.

---

[1] Ibid p. 346-347.

[2] A.M.D. Hughues, 'The Nascent Mind of Shelley' (1947) p. 135.

In Byron affinities with Catholicism are much more potent and evident than in any of the poets we have discussed. He was a rebel like Shelley but he disapproved only the abuses of the Church. He did not fail to feel its piety unlike him. He felt fascinated by the Catholic worship is obvious from his remark in a letter which he wrote to Murray on April 9, 1817. He tells him: "When I turn thirty, I will turn devout; I feel a great vocation that way in Catholic Churches, and when I hear the organ".[1] These feelings meet expression in form of poetry in Childe Harold Canto IV, where we find a passage on St. Peter's, "This eternal Ark of worship udefiled":

Enter! its grandeur overwhelms thee not;
And why? it is not lessened—but they mind,
Expanded by the Genius of the spot,
Has grown colossal, and can only find
A fit abode wherein appear enshrined
The hopes of Immortality—and thou
Shalt one day, if found worthy, so defined,
See thy God face to face, as thou dost now
His Holy of Holies—nor be blasted by his brow.[2]
—(Childe Harold, Canto IV; Stanza clv)

In this passage Byron is overswayed by his religious feelings and feels a hope to take up Catholic sympathies seriously one day.

---

[1] 'Letters and Journals', ed. R.E. Prothero Vol. IV 99.

[2] Poetical Works of Byron as edited by E.H. Coleridge, Childe Harold Canto IV Stanza clv.

In 'Don Juan' he attacks the Church abuses most violently and does not spare the Church of Rome even. But towards the later cantos the criticism becomes less frequent which can be accounted for his start towards Catholicism in later year's. The impieties in 'Cain', which he discusses, are alarming. But he clarifies his position to Moore in this manner ;

> "I am no enemy of religion, but the contrary. As a proof, I am educating my natural daughter a strict Catholic in a convent of Ramagna, for I think people can never have enough of religion if they are to have any. I incline, myself, very much to the Catholic doctrines".[1]

A few days later he again writes to him in which he gives his reason, for his leanings to the Catholic Church.

> "It is by far the most elegant worship, hardly excepting the Greek mythology. What with incense, pictures, statues, altars, shrines, relics, and the real presence, confession, absolution, —there is something sensible to grasp at. Besides, it leaves no possibility of doubt ; for those who swallow their Deity, really and truly, in transubstantiation, can hardly find anything else otherwise than easy of digestion. I am afraid that this sounds flippant, but I don't mean it to be so ; only my turn of mind is so given to taking things in the absurd point of view, that it breaks out in spite of me every now and then. Still I do assure you that I am a very good Christian."[2]

Byron accepted Roman Catholicism because it was more tangible. His Catholic sympathies were always with him, even in his most sceptical period. These are manifested in Canto XIII of Cain, when he refers to the Gothic glories of a Norman Abbey (Newstead) which include a crowned statue of—

---

[1] 'Letters and Journals' Ed. R.E. Prothero Vol. VI, p. 32.

[2] Ibid p. 38.

The Virgin Mother of the God-born child,
With her son in her blessed arms.........
She made the earth below seem holy ground
This may be superstition, weak or wild,
But even the faintest relics of a shrine
Of any worship wake some thoughts divine.[1]
—(Don Juan Canto XIII line lxi)

In this connection another fact which is noteworthy is that he spoke in the House of Lords for the Earl of Donoughmore's motion in support of the Roman Catholic Claims on April, 1812.[2] He vehemently supported Catholicism and its raison detre. There is no doubt, that 'he liked Roman Catholicism', to use the words of Knight, 'the best and oldest branch of Christianity'.[3]

Next we may turn to John Keble who was a great figure in matters of Roman Catholic revival inside the Anglican Church and influenced both the Romantic and the Victorian generation. He was the initiator of the Tractarian movement which became quite powerful in the Victorian England. The Roman Catholic Revival which was afoot was meeting opposition from many quarters. But 'the revival was hastened', as C.P.S. Clarke observes, 'by the attacks on the Church and the danger which threatened it'.[4] Many unfriendly measures were taken and the position of the Church seemed helpless. John Keble was the first to sound the trumpet which was to turn a feeble defence into a spiritual attack.[5] He published books of poems in 1827 called 'The Christian Year' which acquired a great popularity and ran into many editions. His Catholic sympathies are very clear in this book. 'It is the product of a mind of singular purity and delicacy', as Herford remarks, 'allured into something resembling a Catholic appreciation of nature and life on its way towards an exclusive sacredotalism'[1]. Being the son of a clergyman he had an inherent love of piety and sacredness. He greatly admires Catholic doctrines, principles and piety which his poems breathe. He emphasises the universality of the principles of Catholicism, and its compatibility to the Anglican faith. We meet a very good example of this in his hymn 'The Annunciation of the Blessed Virgin Mary' where he shows the resemblance between the Mother and the son:

---

[1] Poetical Works of Byron, ed. by E.H. Coleridge, Don Juan Canto XIII, line lxi.

[2] G. Wilson Knight, "Lord Byron, Christian Virtues" (1952) p. 131-132.

[3] Ibid p. 79.

[4] C. P. S. Clarke, 'A Short History of Christian Church' (1929) p. 438.

[5] Ibid pp. 438-439.

Ave Maira! thou whose name
All but adoring love may claim,
Yet may we reach thy shrine
For He, thy son and Saviour, vows
To crown all lowly lofty brows
With love and joy like thine.
—(The Annunciation of the Blessed Virgin Mary).

His contribution to Catholic Revival is thus, both great and substantial.

The impact of Roman Catholicism, on the Romantic poetry, thus, though hitherto ignored by critics, is both considerable and substantial, and must be taken into account in the final evaluation of Romantic poetry.

---

[1] C. H. Herford, 'The Age of Wordsworth' 3rd Ed. (1949) p. 215.

NATIONAL PHYSICAL EFFICIENCY DRIVE

S. N. DAS

Physical Fitness does not come from strength. If we believe that because a person has enormous strength, he is also cent percent physically fit, we would be groping in darkness. Physical fitness does not mean building up of huge muscles, cultivation of brute force or performance of physical feats of superhuman strength at carnivals or circus. It means an efficient functioning of the organic systems of the body. Sandow gave one definition to the term: Dr. Williams gave another. According to Sandow or even Prof. Ram Murty, it was the development only of superhuman strength and physique. According to Dr. Williams, it was the education of the physical i.e. development of physical fitness of the masses in a normal and rational way in order to live best and serve most, to live the abundant of life. The super-human strength and physique of Sandow even to-day remains unachieved by the masses in England or for that matter in America or Russia. The gain has, therefore, been only nominal. There are very few—hardly one in million, who can be said to have developed superhuman strength and physique. Even those who did achieve, were only good to themselves and were hardly of any service to the society or to the nation. We certainly do not wish to have a handful men of Herculian strength, but the entire nation to be physically fit in order to have maximum efficiency on the secretariat tables in the offices, maximum production in the farms and the factories and maximum service in the Army It should be remembered that the strength of a Nation lies not in its armaments but in its people—their perfect physical fitness coupled with their patriotism, solidarity, resoluteness, courage, endurance and determination—that can perhaps silence even the mightiest guns of the enemies.

In order, therefore, to make the country fitness conscious and arouse among the people an awakening towards a higer standard of physical efficiency, the National Physical Efficiency Drive, for the first time ever since the dawan of our independence, was launched in 1960 by the Ministry of Education, Govt. of India. Despite a slow start, the scheme gathered momentum in recent years. For the first two years, the Drive was organised on an experimental measure. But the response from all quarters was beyond expectations.

While administering these tests, however, certain difficulties were experienced. Accordingly, the Ministry of Education revised the Scheme in consultation with experts in the field and the persons who organised and conducted these tests. Six such all India Seminars have so far been organised at Lovedale (the Nilgiris) in July 1961, at Mahabaleshwar in May 1962, at Taradevi, Simla Hills in 1963, again at Taradevi in April 1964, at Bhopal in August 1965 and again at Lovedale in 1966. Useful redommendations pertaining to the modification of tests battery, establishment of testing centres, expansion of the Drive etc. have been made in these seminars and the Plan was revised accordingly in light of the recommendations made.

The Scheme of the National Physical Efficiency Drive envesages holding of a number of tests whose standards are within the reach of the people, provided they make an effort to achieve them. These tests vary from moderately easy to fairly difficult ones. They are classified into 3 catagories according to the three standards of achievements corresponding to the three awards of "Three Star", "Two Star", and "One Star" badges. They are further catagorised separately for men and women according to their age groups as follows:

Men

Junior Group	I	Below 18 years.
Senior Group	II	18 to 34 years.
Senior Group	III	35 to 44 years.
Senior Group	IV	45 years and above.

Women

Junior Group	I	Below 16 years.
Senior Group	II	16 to 30 years.
Senior Group	III	31 years and above.

NATIONAL AWARDS

In order to give further incentive to the people for physical welfare and physical fitness, the Govt. of India introduced the 'National Awards" for those persons who may show a very high standard of performance in their physical skills. Procedure adapted for selection of persons for competitions for the National Awards is as follows:

(1) Only Three-Star winners in the Drive are elegible for selection.

(2) Those who wish to be considered for the National Awards are required to make it clear in the registration form that they wish to be considered for such an award so that the organisers of their respective testing centres may be able to maintain their records separately.

(3) Tests in the following items only are to be conducted:

1. *Men*
    - (i) 100 Metres Run.
    - (ii) Putting the shot.
    - (iii) High Jump.
    - (iv) Long Jump.
    - (v) 800 Metres Run.
2. *Women*
    - (i) 100 Metres Run.
    - (ii) Long Jump.
    - (iii) Putting the Shot.
    - (iv) High Jump.
    - (v) 200 Metres Run.

The records are compared by converting them into points in accordance with the Decathlon Scoring Tables. On the basis of this grading, 6 best performers from each State are selected. Out of 6, two are from the Men Group I and two from the Men Group II and one each from the Women Group I and II. In the case of a tie ie two persons securing equal number of points, the person who scores hgiher points in any three out of the five events than the other, is selected. An up to date result of the winners of the All India Competitions for the National Awards in Physical Efficiency, held at New Delhi in October 1962, at Gwalior in February 1963, at Patiala in February 1964, at Banglore in February 1965 and again at Gwalior in February— 1966, is given below:

(1) *First All India Competition (1962)*

Women Junior :

1. Kumari Christine Forage (Maharashtra)
2. Kumari M. G. Mamatha (Mysore)

Men Junior :

1. Shri R. R. Beedu (Madras)
2. Shri Neel Tirkey (Bihar)
3. Shri Yogendra Singh (U.P.)
4. Shri Bakhtwar Singh (Punjab)
5. Shri K. Vamadevan (Kerala)

(2) *Second All India Competition (1963)*

Men Junior ;

1. Shri Dalbir Singh (Punjab)
2. Shri Mohinder Singh (Punjab)
3. Shri Vijay Anant Deshpandey (Maharashtra)
4. Shri Manohar Singh Sisodia (Universities)
5. Shri Gunasekharan I (Madras)

(3) *Third All India Competition (1964)*

Men Junior ;

1. Shri P. Joshi Varki (Madhya Pradesh)
2. Shri Devi Lal (Rajasthan)
3. Shri G. Ramachandran Nair (Kerala)
4. Shri Kuldip Singh (Punjab)
5. Shri Ajaib Singh (Punjab)

Men Senior ;

1. Shri Ajmer Singh (Punjab)
2. Shri Harneek Singh (Punjab)

Women Junior ;

1. Kumari C. M. Seethamma (Mysore)
2. Kumari S. A. Lily Pankajam (Madras)

(4) *Fourth All India Competition* (*1965*)

Women Junior ;

1. Kumari Mary Thomas (Kerala)
2. Kumari M. Sharda (Madras)

Women Senior ;

1. Kumari Kamalesh Chhatwal (Railways)
2. Kumari K. M. Rosamma (Kerala)

Men Junior ;

1. Shri Kulbir Singh (Madhya Pradesh)
2. Shri K. P. Chandra Sekhran (Kerala)
3. Shri A. K. Surjit Singh (Manipur)
4. Shri R. K. Madhuraj Singh (Manipur)
5. Shri E. Paranthaman (Madras)

Men Senior ;

1. Shri Raj Kumar (Railways)
2. Shri Ajaiab Singh (Railways)

(5) *Fifth All India Competition* (*1966*)

Women Junior ;

1. Kumari Alka Digbe (Maharashtra)

Women Senior ;

1. Kumari Manjit Walia (Punjab)
2. Kumari Veena Sehgal (Punjab)
3. Kumari Bhagani Ballal (M.P.)

Men Junior ;

1. Shri V. S. Chauhan (M.P.)
2. Shri Gurdeep Singh (Punjab)

3. Shri Om Prakash (Punjab)
4. Shri Asoka Kumar Guha (W. Bengal)
5. Shri Rashbihari Singh (Manipur)

Men Senior ;

1. Shri Amarjit Singh (Rajasthan)
2. Shri P. Joshy Varkey (M.P.)
3. Shri P. P. Mathai (M.P.)
4. Shri Roop K. Khanna (Punjab)

The items and standards of the various tests as approved by the Ministery of Education, Govt. of India are given below :

TABLE I

Men (Below 18 Years)—Age Group I

Battery A

S.N.	Items	Three Stars	Two Stars	One Star
1.	100 Metre Run	13 seconds	14 seconds	15 seconds
2.	Long Jump	15 ft. (4.57 M)	13 ft. (3.96 M)	12 ft. (3.66 M)
3.	Putting the Shot (12 lbs)	28 ft (8.53 M)	25 ft (7.62 M)	20 ft (6.10 M)
4.	High Jump	4'.6" (137.16 cm)	4 ft (121.92 cm)	3'5" (104.14 cm)
5.	800 Metre Run	2 min 40 sec	3 min 10 sec	3 min 20 sec

Battery B

S.N.	Items	Three Stars	Two Stars	One Star
1.	100 Metre Run	13 seconds	14 seconds	15 seconds
2.	Long Jump	15 ft (4.57 m)	13 ft (3.96 M)	12 ft (3.66 M)
3.	Carrying weight (equal to one's weight)	400yds (366 m)	300 yds (274 M)	100 yds (91 M)
4.	Dands and Baithaks	50 dands (2 min) 50 Baithaks (50 sec)	30 dands (1 min 10 s) 30 baithaks (30 S)	15 dands (36 S) 15 baitthak (30 sec)
5.	800 Metre Run	2 min 40 sec	3 min 10 sec	3 min 20 sec

N.B. :—Battery A will be applicable to those who wish to compete for the National Awards only.

TABLE II

Men (18 to 34 Years)—Age Group II

Battery A

S.N.	Items	Three Stars	Two Stars	One Star
1.	100 Metre Run	12.5 second	13.5 seconds	14.5 seconds
2.	High Jump	5 feet (152.40 cm)	4 ft 9 inches (144.78 cm)	4 ft 6 inches (137.16 cm)
3.	Long Jump	18 ft (5.59 M)	16 ft (4.88 M)	15 ft (4.57 M)
4.	Putting the shot (16 lbs)	28 ft (8.53 M)	24 ft (7.32 M)	20 ft (6.10 M)
5.	800 Metre Run	2 min 15 sec.	2 min 30 sec.	2 min 50 sec.

Battery B

S.N.	Items	Three Stars	Two Stars	One Star
1.	100 Metre Run	12.5 sec	13.5 sec.	14.5 sec.
2.	Long Jump	18 ft (5.49 M)	16 ft (4.88 M)	15 ft (4.57 M)
3.	(*a*) Chinning up or	14	9	7
	(*b*) Carrying weight (equal to one's own weitht)	800 yds. (732 M)	600 yds. (549 M)	400 yds. (366 M)
4.	800 Metre Run	2 min 15 sec.	2 min 30 sec.	2 min 50 sec
5.	Dands and Baithaks	100 dands (4 min) 100 baithaks (2 min)	75 dands (3 min) 75 baithaks (1 min 30 sec)	50 dands (2.5 min) 50 baithaks (55 sec)

N.B. :—Battery A will be applicable for National Award competitors only.

TABLE III

Men (35 to 44 years)—Age Group III

S.N.	Items	Three Stars	Two Stars	One Star
1.	100 Metre Run	14 seconds	15 seconds	16 seconds
2.	800 Metre Run	3 min 40 sec.	4 min 10 sec.	4 min 40 sec.
3.	Long Jump	15 ft (4.57 M)	14 ft (4.27 M)	13 ft (3.96 M)
4.	Putting the shot (16 lbs)	20 ft (6.10 M)	18 ft (5.49 M)	16 ft (4.88 M)
5.	Carrying 100 lbs weight	400 yeds (366 M)	300 yds (274 M)	200 yds (183 M)
6.	Chinning up	8	6	4
7.	Dands and Baithaks	50 (4 min) 50 (2 min)	40 (3 min) 40 (1 min 30 sec.)	30 (2.5 min) 30 (55 sec.)

N.B. :—1. Any three items. 2. Battery A for men group II will be applicable for National Award competitors.

TABLE IV

Men (45 Years and Above) Age Group IV

1.	100 Metre Run	15 seconds	17 seconds	18 seconds
2.	800 Metre Run	4 min 40 sec.	5 minutes	5 min 20 seconds
3.	Long Jump	13 ft (3.96 M)	11 ft (3.35 M)	10 ft (3.05 M)
4.	Putting the shot (16 lbs)	18 ft (5.49 M)	16 ft (4.88 M)	14 ft (4.27 M)
5.	Carrying 50 lbs weight	200 yds (183 M)	150 yds (137 M)	100 yds (91 M)
6.	Chinning up	5	3	2
7.	Dandss and	30 (4 min)	20 (3 min)	10 (2 min 5 sec)
	Baithaks	30 (2 min)	20 (1 min 30 sec)	10 (55 sec.)

N.B. :—1. Any three items. 2. Battery A for men group II will be applicable for National Award competitors.

TABLE V

Women (Bdlow 16 Years)—Age Group I

Battery A

1.	100 Metre Run	16 seconds	17 seconds	19 seconds
2.	High Jump	4 ft (121.92 cm)	3 ft 6 in (106.68 cm)	3 ft (91.44 cm)
3.	Long Jump	12 ft (3.66 m)	10 ft (3.05 m)	8 ft (2.44 m)
4.	Putting the shot (8 lbs)	20 ft (6.10 m)	16 ft (4.88 m)	14 ft (4.27 m)
5.	200 Metre Run	33 seconds	36 seconds	38 seconds

Battery B

1.	(*a*) 50 Metre or	8 seconds	9 seconds	10 seconds
	(*b*) 100 Metre Run	16 seconds	17 seconds	19 seconds
2.	Hopping 25 Metres	7 seconds	8 seconds	9 seconds
3.	Throwing the ball	55 ft (16.76 m)	45 ft (13.72 m)	35 ft (10.67 m)
4.	Modified pull ups	11	9	7
5.	Shuttle Race (25×4 Metres)	45 seconds	50 seconds	55 seconds

N.B. :—Battery A will be applicable for Ntional Award competitors only.

TSBLE VI

Women (16 to 30 Years)—Age Group II

Battery A

S.N.	Items	Three Stars	Two Stars	One Star
1.	100 Metre Run	14.5 seconds	15.5 seconds	17 seconds
2.	High Jump	4 ft (121.92 cm.)	3 ft 9 in (114.30 cm)	3 ft 6 in (106.68 cm)
3.	Long Jump	14 ft (4.27 m)	12 ft (3.66 m)	10 ft (4.88 m)
4.	Putting the shot	22 ft (6.79 m)	20 ft (6.10 m)	16 ft (4.88 m)
5.	200 Metre Run	32 seconds	34 seconds	36 seconds

Battery B

S.N.	Items	Three Stars	Two Stars	One Star
1.	50 Metre Run or	8 seconds	8.5 seconds	9 seconds
	100 Metre Run	14.5 seconds	15.5 seconds	17 seconds
2.	Hopping 25 Metres	6.5 seconds	7 seconds	8 seconds
	or Long Jump	14 ft (4.27 m)	12 ft (3.66 m)	10 ft (3.05 m)
3.	Throwing the Throw Ball	65 ft (19 81 m)	55 ft (16.76 m)	45 ft (13.72 m)
4.	200 Metres Run	32 seconds.	34 seconds	36 seconds
5.	Modified Pull ups	12	10	8

N.B. :—Battery A will be applicable for National Award Competitors only.

TABLE VII

Women (31 Years and Above)—Age Group III

S.N.	Items	Three Stars	Two Stars	One Star
1.	50 Metre Run or	12 seconds	14 seconds	16 seconds
	800 Metre Walk	8 minutes	9 minutes	10 minutes
2.	Standing Long Jump or	4 ft 6 in (137.16 cm)	3 ft 6 in (106.68 cm)	3 ft (91.66 cm)
	Hopping 25 Metres	9 seconds	10 seconds	12 seconds
3.	Putting the shot (8 lbs) or	16 ft (4.88 m)	14 ft (4.27 m)	12 ft (3.66 m)
	Throwing the Ball	45 ft (13.72 m)	35 ft (10.67 m)	25 ft (7.62 m)

N.B. :—Battery A for women group II will be applicable to women competitors for the National Award Test.

COMMON ACCIDENTS AND THEIR REMEDY

A. L. SRIVASTAVA

Central Hindu School

Fracture ;

Fracture in bones is mainly caused due to accidents in doing certain events or other unfortunate circumstances.

Symptoms ;

(i) Unbearable pain at the spot of fracture.

(ii) Swelling of that portion.

(iii) Excessive pain in even touching or lifting that portion.

(iv) The length of the portions thus affected is shortened and they lose their natural shape.

(v) Grating sound is produced at the spot of fracture when the fractured bones rub against each other.

First Aid Treatment

First Aid

(i) If the fracture is a mere simple one, you should set the bones in proper order and with a view to keep the bones straight put a splint at the fractured spot and wrap it tightly with a bandage and put a ruf knot at the end of the bandage so that it may not be loose.

(ii) If the fracture is a compound one with fracture in bones and external wound at the same time, you should first apply proper remedy to the external wound and check the bleeding and then take further steps as directed above.

(iii) If it is a complicated case causing fracture and internal bleeding or wound at the same time better seek the advice of a competent doctor at once.

(iv) To remove the shock of the patient cover his body with a rug and give him complete rest. Also give him hot milk or tea.

Dislocation of the Bones ;

Due to sudden zerk or injury bones are sometimes dislocated from their proper places specially those of knees, elbows, shoulder girdles etc. In that case that portion is immediately swollen and the patient feels unbearable pain, sometimes even faints. The affected bones are generally deshaped.

Treatment :

In case of dislocation of bones,

(i) Put off all the clothes covering the affected part of the body and lay down the patient so as to give him complete rest.

(ii) Cover the affected part with cloth wet with ice water or hot water as may give comfort to the patient.

(iii) Give tea or hot milk to the patient to relieve the shock.

(iv) Better consult a doctor as immediately as possible.

Sprain :

Due to sudden zerk or strain when the legament of the joints are broken or tensioned, naturally the Joints thus affected are swollen and too much pain is experienced sometimes unbearable even on slight touch. This tensioning of the legament is known as sprain.

Treatment ;

(i) Give complete rest to the portion thus affected.

(ii) Rub oil on the affected portion, preferably bearable hot mustard oil with same opinion mixed with it.

(iii) Wrap cloth or bandage round the sprained portion very tightly.

(iv) Sometimes cooling it with ice or warming it with bearable hot water gives much relief to the pain.

Burns and Scalds ;

Burning or scalding is the most common accident we generally meet with though in certain cases when it affects the heart it makes the heart too weak and may cause death, so it requires immediate remedy or due to excessive burning and pain the patient may collapse.

Proper Remedy :

(i) The most immediate remedy for burning is the application of a mixture of cocoanut oil or olive or til oil and limewater to the portion affected.

(ii) If it has turned into a wound apply Burnol or Boric ointment to it.

(iii) If blusters have been formed let them remain as they are quite undisturbed and apply the ointment over them.

(iv) If the patient is feeling too much burning in the affected portion, stick the paste of boiled potato to it, or if available put a piece of cloth over it wet with the Corbolic lotion in warm water.

(v) Always keep the body of the patient warm and give him tea or hot milk occasionally to lessen the shock.

(vi) If clothes are sticked to the burns the first and the foremost step should be taken to remove the clothes making it wet with cocoanut or til oil and then the proper remedy should be applied.

(vii) The burnt patient should immediately be laid on the ground and covered with blanket. This will lessen the burning and shock.

Bleeding :

In case of bleeding in any part of the body you must first of all try to distinguish whether it is a capillery bleeding, or a Venous bleeding or an Arterial Bleeding and seek the proper remedy.

If it is a case of ordinary capillery bleeding only cover the wounded part with a piece of cloth wet with cold water or a solution of alum and water. Tincture iodine or spirit may also be applied to it.

If it is a case of *Venuous bleeding* and the blood is impure, and deep red and bluish streaming out towards the heart :

(i) tie a tight bandage or tourinquet on the lower portion of the spot of bleeding against the heart, not towards it.

(ii) put a piece of cloth over the affected part wet with cold water.

If it is a case of *Arterial Bleeding* and pure, red and shining blood is coming out with force and leaping with the palpitation of heart :—

(i) immediately press at the wound so that the opening of the artery may be closed and the bleeding be checked.

(ii) if your this attempt to check the bleeding fails, try to press at the nearest pressure point towards the heart with your thumb or tourniquet.

(iii) Raise the affected part of the body so that the blood may begin to flow back towards the heart.

(iv) Then apply any effective remedy so heal up the wound.

In case of bleeding from the nose :—

(i) Let the patient be seated on a chair in open air against the wind with his head bent behind.

(ii) Put a piece of cloth wet with ice water or a solution of alum,

(iii) In very serious cases seek the help of a doctor.

Internal Haemorrhage ;

Sometimes due to injury or blunt strokes the blood vessels burst and internal bleeding begins though externally it is invisible. This is very dangerous state of the patient which makes him sometimes faint and senseless. The patient begins to feel weakness and cold. His pulse grows weak.

Treatment ;

(i) Lay the patient with his legs same what raised upward in quite open air.

(ii) Loose his clothes.
(iii) Give some ice-pieces to the patient to suck.
(iv) Seek the immediate help of the doctor.
(v) Sometimes cold or hot compress gives much relief.

Unconsciousness ;

If a boy becomes unconscious due to over exertion or due to other certain mis-happenings you should at once :

(i) lay down the patient on the ground in quite open and fresh air with his chest and face towards the sky ;
(ii) Loose his clothes ;
(iii) Give him Ammonium cloride and lime mixed together to breathe in.
(iv) Give cold spray over his face and head ;
(v) When he regains his consciousness he may be given tea or hot milk to refresh him.
(vi) If his condition is beyond control seek the help of a doctor immediately.
(vii) If due to drowning his lungs are choaked and he cannot breathe at once try to take out the accumulation of water from his stomach and give him artificial respiration.
(viii) When his breathing starts and he comes out to his senses give him hot milk or tea and cover up his whole body with blanket to avoid cold shock specially in case of drowning.

Methods of Artificial Respiration :

(i) Lay down the patient with his face and chest down ward quite straight on the ground.

(ii) Stretch his hands over his head.

(iii) Clean his nose, tongue etc.

(iv) Sit near the waist of the patient on one of your knees.

(v) Put your fore-hands just below the ribs in such a way that your fingers may be touching the ribs and your thumbs meeting on the vertibral column on the back.

(vi) Press your hands very lightly upward, then make it loose and again press and so on. This pressure on lungs will make them active and the function of breathing will be started.

(vii) This process must run for fourteen or fifteen times in a minute till doctor comes or the patient comes to his senses.

This method of artificial respiration is known as Sheffer's Method. There is one Silvester's Method according to which after cleaning the tongue and nose of the patient stretch the hands of the patient over his head in such a way that his elbows may be touching the ground thus the lungs will be widened allowing air to vent in. Then raise his hands upward and press them over his chest and so on till he begins to breathe smoothly. This is supposed to be the easiest and most successful method to bring a patient to his senses immediately.

KĀLIDĀSA'S CONCEPT OF CHARACTERISATION

DR. AMAL DHARI SINGH

Deptt. of Sanskrit & Pāli

Kālidāsa, the poet laureate, the Spirit of ancient Indian Culture, the greatest personage of memory and the greatest heir of fame—is the brightest luminary in the firmament of Indian Poetry. His poetry is for all times and for all climes. The poet represents the full life of a man in the world by means of his poetry. He moulds the life of the people, guides people in their life with the presentation of new ideals of human life and shows the values of life in their correct proportion and in correct perspective. His ideals are high and faultless. He is a great upholder of social and moral values and never approves of the path of dissipation. He condemns evil path and forecasts ruin on this path. Therefore, Kālidāsa stands unique in the whole range of Sanskrit Literature and so has been paid the richest tribute and eulogised in the most glorious terms for his literary compositions by the Indian as well as the western critics.

Characterisation holds a very prominent place in literature and is considered as an essential element therein. Kālidāsa also embellishes his works with the presentation of various types of characters. He depicts male, female, Kumāra and even inanimate characters. They are mortal, Semi-divine, divine, mortal-cum-divine and perfect human ones. In a very praiseworthy manner, he puts before us the qualities of his characters. All characters have significant role to play in the theme. In his characterisation, we witness a gradual development of ideals. We also mark a wonderful unity of thoughts in his delineation. As we pass from one character to another, it appears as if the same is displaying on the scene. According to the poet, man is the best and perfect creation of God. In light of his high ideals, Kālidāsa leads the humanity to the perfection.

The Ṛtusaṁhāra is the first literary flourish of Kālidāsa's budding genius. It is a lyric, delineating glamouring and glowing glories[1] of six Indian seasons. In this poem, the poet presents mortal lovers, young in age. They are recently wedded and erotic. They are victims of passionate love. Except Kāma, they have no other aim of human life to achieve. In the midst of six seasons, they are enjoying the pleasures of hymeneal life and are exceedingly engrossed in amorous playings. The romantic lover fervently addresses[2] his beloved and attracts her towards the enchanting charms of Nature. Here characters are common earthly beings.

In the Mālavikāgnimitra, Agnimitra, a mortal king is the Dhīralalita hero of the play. He is of middle age. He has already two queens and a grown-up young son, still his passion is burning bright. The passing picture of a maid attracts his attention and captivates his heart. e runs after Mālavikā, a maid of his royal harem, only being ensnared by her physical[3] charm. Mālavikā[4] to him is the good fortune, the pleasure of his life and is the great festivity of his heart. He invents various devices and adopts intrigues to ensure her union and suffers a lot. He is not a faithful husband and deceiving his devoted wives, efforts hard to gain a maid as his another queen. Here a king of noble royal family beguiles his valuable time in the pursuit of love and beauty. Seeing his greater interest in love affair than the welfare of the kingdom, the chief queen remarks[1] that it would be to much advantage, if her lord may display the same command in devising means in state affairs. The king always remains fearful in his behaviour and flatters his queens to appease their wrath.

---

[1] काशैर्मही शिशिरदीधितिना रजन्यो हंसैर्जलानि सरितां कुमुदैः सरांसि ।
सप्तच्छदैः कुसुमभारनतैर्वनान्ताः शुक्लीकृतान्युपवनानि च मालतीभिः ॥
व्योम क्वचिद्रजतशंखमृणालगौरैस्त्यक्ताम्बुभिर्लघुतया शतशः प्रयातैः ।
संलक्ष्यते पवनवेगचलैः पयोदै राजेव चामरवरैरुपवीज्यमानः ॥
Ṛtu. III. 2, 4.

[2] प्ररूढशाल्यंशुचयैर्मनोहरं क्वचित्स्थितक्रौञ्चनिनादराजितम् ।
प्रकामकामं प्रमदाजनप्रियं वरोरु कालं शिशिराह्वयं शृणु ॥ Ṛtu. V. 1.
प्रफुल्लचूताङ्कुरतीक्ष्णसायको द्विरेफमालाविलसद्धनुर्गुणः ।
मनांसि वेद्धुं सुरतप्रसङ्गिनां वसन्तयोद्धा समुपागतः प्रिये ! ॥
द्रुमाः सुपुष्पाः सलिलं सपद्मं स्त्रियः सकामाः पवनः सुगन्धिः ।
सुखाः प्रदोषा दिवसाश्च रम्याः सर्वं प्रिये ! चारुतरं वसन्ते ॥ Ṛtu. VI. 1, 2.

[3] स्मयमानसायताक्ष्याः किञ्चिदभिव्यक्तदशनशोभिमुखम् ।
असमग्रलक्ष्यकेसरमुच्छ्वसदिव पङ्कजं दृष्टम् । Māl. II. 10 & III. 11, 12.

[4] भाग्यास्तमयमिवाक्ष्णोर्हृदयस्य महोत्सवावसानमिव ।
द्वारपिधानमिव धृतेर्मन्ये तस्यास्तिरस्करणम् ॥ Māl. II. 11.

In these two works, Kālidāsa presents common earthly characters who are much below from his ideals.

In the Meghadūta, characters are semi-divine beings. The Yakṣa is a young, passionate and uxorious newly married lover. He is exceedingly fond of his wife and cannot bear her disappearance for a moment. In deep infatuation for his beloved wife, he deviates from his duty. Due to his negligence,[2] he is punished with a years' separation from his dear wife. He is deprived of his glories and is cursed to lead a lonely and desperate life, away from his wife and the heavenly abode. In pleasing atmosphere of rainy season, he feels extreme sorrow. He loses his sense of discrimination[3] between an animate and inanimate. Engrossed in her thoughts and emersed in sadness, he implores the cloud to convey his message of love and longing, of hope and faith to his bereaved beloved, staying at Alakā. In this poem, Kālidāsa presents a semi-divine being who ignores his duty in love. But his latter part is bright. He gets an opportunity and purifies his passionate heart in separation and thus presents himself as a true lover.

In the Vikramorvaśīya, Kālidāsa depicts mortal and immortal, both types of characters. Purūravas, the hero is a chivalrous, mortal king and is a friend[1] of gods. He belongs to the noble moon dynasty. Urvaśī, the heroine is a celestial nymph. The king, in the beginning is a romantic and passionate lover. He has a noble and devoted chaste queen, even he pursues a divine damsel. In the very first glance, love[2] sprouts in his heart for Urvaśī and he appears very anxious for her acquisition. But he is unsteady in his love affair. After gaining Urvaśī as his beloved, he again follows a young Vidyādhara[3] virgin. He thus seems a passionate lover, running after maidens. In the latter part, he rises above from human frailties to the divinity. Long separation from the beloved, frees him from the wild passion and sensuality. From the plane of passion, selfishness and power, he attains the ethereal plane of love, sacrifice and surrender of power. After the restoration of Urvaśī, he atonce comes back to his capital from the forest in the interest of his subjects.[4] He appears as an affectionate father. He pleases very much with the unexpected gain of his son,[5] Āyus.

---

[1] धारिणी (देवी) :—(राजानमवलोक्य) जइराअकज्जेसु,
वि ईरिसी उवाअणिउणदा अज्जउत्तस्य तदा सोहणं हवे। Māl. I p. 32.

[2] कश्चित्कान्ता विरहगुरुणा स्वाधिकारात्प्रमत्तः,
शापेनास्तङ्गमितमहिमा वर्षभोग्येण भर्तुः।
यक्षश्चक्रे जनकतनया स्नानपुण्योदकेषु,
स्निग्धश्छाया तरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु॥ Megh. I. 1.

[3] कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु। Megh. I. 5C.

The Kumārasaṁbhava is an embellished work with the treatment of divine characters. God Śiva and Goddess Umā are the parents of the universe. Kālidāsa depicts Śiva as a worthy husbnd, an affectionate father and as a protector of his worshippers. He has genuine love for his former wife, Satī. Firm in his love, he remains unmarried[1] after her expiry. He gets drowned in hard penance. He is free from passion and remains passive to grace and budding youth of maidens. Umā, a matchless beauty is standing before him for his service, but in deep meditation, he remains steady, motionless like the flame[2] of a solitary lamp. The cupid finds him a tough stuff to handle. The bow and arrows fall down from his hands. Śiva is self-possessed and firm in his resolve. He remains unmoved in the presence of Umā. Her physical enchanting and alluring charm fails to fascinate[3] him and he reduces Cupid to ashes. The same god is moved by the penance[4] of his worshipper. He is pleased by the self-sacrifice and high devotion of Umā. He condesends to her service and himself begs her through the sages. Here Śiva, a divine being is endowed with human feelings. But being attracted towards her inner beauty, he accepts Umā as his wife for the sake of a heroic progeny[5] who may rescue the universe from the terror of Tāraka and not for the fulfilment of his sensual desire. After the wedding ceremony, he enjoys pleasures of the hymeneal life with his spouse and passes many and many years in happiness and takes no notice of time. He blesses her with his unfailing and uninterrupted love and gives her the same honourable place in his heart as it was for Satī. As a faithlul husband, he never thinks of any other maiden except Umā. The union bears the most heroic son, the culmination of hymeneal life who is appointed as the commander of the celestial army and restores peace and prosperity to the heavenly kingdom.

---

[1] मेनका—णं उवट्ठिदसंपहारो महिंदो मज्झमलोआदो सबहुमाणं आणाविअ तं एव्व विअअसेणामुहे णिओजेदि । Vik. I p. 4.

[2] यदयं रथसंक्षोभादंसेनांसो रथोपमश्रोण्याः ।
स्पृष्टः सरोमविक्रियमङ्कुरितं मनसिजेनेव ॥
एषा मनो मे प्रसभं शरीरात् पितुः पदं मध्यममुत्पतन्ती ।
सुराङ्गना कर्षति खण्डिताग्रात्सूत्रं मृणालादिव राजहंसी ॥ Vik. I. 11, 18.

[3] चित्रलेखा—तदो तहिं मंदाइणीतीरे सिकदापव्वदेहिं कलीमाणा उदअवदीणाम विज्जाहरदारिआ तेन राएसिणा चिरं णिज्झाइद त्ति कदुअ कुविदा मे पिअसही उव्वसी । Vik. IV. p. 62.

[4] विदूषकः--ही ही भो, दिट्ठिया चिरस्स कालस्स उव्वसीसहाओ णंदणवणप्पमुहेसु पदेसेसु विहरिअ पडिणिवुत्तो पिअवअस्सो । दाणिं सकज्जाणुसासणेण पइदिमंडलं अणुरज्जंतो रज्जं करेदि । Vik. V. p. 92.

[5] सर्वाङ्गीणः स्पर्शः सुतस्य किल तेन मामुपगतेन ।
प्रह्लादयस्व तावच्चन्द्रकरश्चन्द्रकान्तमिव ॥ Vik. V. 11.

---

[1] यदैव पूर्वे जनने शरीरं सा दक्षरोषात्सुदती ससर्ज ।
तदाप्रभृत्येव विमुक्तसङ्गः पतिः पशूनामपरिग्रहोऽभूत् ॥ Kumār. I. 53.

[2] अवृष्टिसंरम्भमिवाम्बुवाहमपामिवाधारमनुत्तरङ्गम् ।
अन्तश्चराणां मरुतां निरोधान्निवातनिष्कम्पमिव प्रदीपम् ॥ Kumār. III. 48.

[3] तथा समक्षं दहता मनोभवं पिनाकिना भग्नमनोरथा सती ।
निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता ॥ Kumār. V. 1.

[4] अद्यप्रभृत्यवनताङ्गि ! तवास्मि दासः
क्रीतस्तपोभिरिति वादिनि चन्द्रमौलौ ।
अह्नाय सा नियमजं क्लममुत्ससर्ज
क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते ॥ Kumār. V. 86.

[5] संयुगे सांयुगीनं तमुद्यतं प्रसहेत कः ।
अंशादृते निषिक्तस्य नीललोहितरेतसः ॥
तस्यात्मा शितिकण्ठस्य सैनापत्यमुपेत्य वः ।
मोक्ष्यते सुरवन्दीनां वेणीर्वीर्यविभूतिभिः ॥
अत आहर्तुमिच्छामि पार्वतीमात्मजन्मने ।
उत्पत्तये हविर्भोक्तुर्यजमान इवारणिम् ॥ Kumār. II. 57, 61 & VI. 28.

In this epic, Kālidāsa presents his ideals with the depiction of divine characters in the garb of human ones.

The Abhijñānaśākuntala is the best dramatic creation in Sanskrit Literature. Kālidāsa sings here the glories of mortal-cum-divine characters. Duṣyanta, the hero is a sovereign emperor. He belongs to the lunar dynasty. Śakuntalā, the heroine is born from an earthly and heavenly match. We mark fall and rise in Duṣyanta. Three stages are clearly observed in his character. In the beginning, he is a selfish and romantic lover. He has more than one queen. Neglecting his harem queens, he is ensnared by the sylvan beauty of a hermitage girl. In the pious penance grove, concealing himself behind a tree, he eagerly watches the playings of hermitage girls. He is fascinated with the enchanting charm of Śakuntalā and becomes anxious[1] to gain her. Thus, it is apparent that he is not satisfied with his queens and also never tries to please them. He ignores them and does not honour to their feelings. Now he makes his best to get a hermit girl as his another queen. So, he is merely increasing the number of his queens, not by love, but by profession. He gives his false introduction in the hermitage. He neglects the call[1] of his mother who was observing a severe vow for his sake and joins the company of forest girls. He also deceives his friend by telling him a lie[2] that he has no mind for Śakuntalā. He suffers after her and becomes emaciated in love sickness. As a passionate lover, he feels great pleasure[3] in fanning his beloved with tender leaves of the lotus and in śhampooing her delicate feet on his lap. He is so anxious and erotic that he marries with Śakuntalā without seeking permission from her father and does not confide his love affair to any body. After the marriage, he does not wait for the blessing from sage Kaṇva. Here he appears selfish like a black bee[4] that gives up the flower, having sucked its sweat juice. After the fulfilment of his sensual desire, he abandons Śakuntalā in the hermitage. He turns away from her side and takes no care of her pregnancy and leaves her in the forest on the kind support of sages. At his return to the royal harem, he does not keep his promise. The complete forgetfulness of his pregnant dear wife by the same Duṣyanta is the greatest fall and immorality on his part. But Kālidāsa introduces here his favourite curse motive and protects the high moral of his hero.

---

[1] दुष्यन्तः (आत्मगतम्) न दुरवापेयं खलु प्रार्थना ।
भव हृदय ! साभिलाषं संप्रति संदेहनिर्णयो जातः ।
आशङ्कसे यदग्निं तदिदं स्पर्शक्षमं रत्नम् ॥
(ग्रहीतुमिच्छन्निगृह्यात्मानम् । आत्मगतम्) अहो चेष्टाप्रतिरूपिका कामिजनमनोवृत्तिः । अहं हि —
अनुयास्यन्मुनितनयां सहसा विनयेन वारितप्रसरः ।
स्थानादनुच्चलन्नपि गत्वेव पुनः प्रतिनिवृत्तः ॥ Śāk. I. 24, 25.

---

[1] करभकः—जेदु भट्टा। देवी अणवेदि–आआमिणि चउत्थदिअहे पउत्थपारणे मे
उववासो भविस्सदि। तहिं हाउणा अवस्सं संभाविदव्वा-त्ति।
Śāk. II. p. 176.

[2] दुष्यन्तः—(स्वगतम्) चपलोऽयं बटुः। कदाचिदस्मत्प्रार्थनामन्तःपुरेभ्यः कथयेत्। भवतु, एनमेवं वक्ष्ये। (विदूषकं हस्ते गृहीत्वा, प्रकाशम्) वयस्य ! ऋषिगौरवादाश्रमं गच्छामि, न खलु सत्यमेव तापसकन्यकायां ममाभिलाषः। पश्य –

क्व वयं क्व परोक्ष्यमन्मथो मृगशावैः सममेधितो जनः।
परिहासविजल्पितं सखे ! परमार्थेन न गृह्यतां वचः॥
Śāk. II. p. 179 & II. 18.

[3] किं शीतलैः क्लमविनोदिभिरार्द्रवाता-
न्संचारयामि नलिनीदलतालवृन्तैः ?
अङ्के निधाय करभोरु ? यथासुखं ते
संवाहयामि चरणावुत पद्मताम्रौ॥ Śāk. III. 18.

[4] अहिणवमहुलोलुवो भवं तह परिचुंबिअ चूअमंजरिं।
कमलवसइमेत्तणिव्वुदो महुअर ! विम्हरिओ सि णं कहं ?॥ Śāk. V. 1.

In the second stage, Duṣyanta rises up from human frailties. We mark a change in his character. He now appears as a devoted and disciplined husband. He eagerly hears the complaint[1] of his queen Haṁsapadikā and highly regards her feelings. He appreciates her song. He has full control over his senses. He never wishes to cast a look[2] on others' wives. It is sinful for him to gaze on maidens. An alluring and uncommon beauty is standing before him and herself is requesting to accept her as his wife. Duṣyanta also gets astonished[3] at her matchless allurement. But religious thought prevails on him and so he rejects her request, though she has been sent to him by sage Kaṇva. He remains firm on his determination and thereby gets high applause and is admired[4] by his people for his morality.

In the third stage, he attains the perfection of Kālidāsa's ideal . He appears before us in the garb of a perfect human husband. With the restoration of his signet ring and after removal of Durvāsas, curse, he recollects[5] his dear wife. The loss of Śakuntalā makes him exceedingly sad. He plunges into unmitigated[1] grief. All pleasing things scorch him bitterly. His heart is full of paternal instinct, but alas! he has no issue. So his affection is seen towards his subjects.[2] But his hankering for a son evokes sympathy. It makes him to weep. He is agrieved much for the sake of his ancestors.

---

[1] दुष्यन्तः—(स्मितं कृत्वा) सकृत्कृतप्रणयोऽयं जनः। तस्या देवीवसुमतीमन्तरेण मदुपालम्भमवगतोऽस्मि। सखे माढव्य! मद्वचनादुच्यतां हंसपादिका, निपुणमुपालब्धोऽस्मीति। Śāk. V

[2] दुष्यन्तः अनिर्वर्णनीयं परकलत्रम्। Śāk. V. p. 386.

[3] दुष्यन्तः—(शकुन्तलां निर्वर्ण्य, आत्मगतम्)
इदमुपनतमेवं रूपमक्लिष्टकान्ति
प्रथमपरिगृहीतं स्यान्न वेति व्यवस्यन्।
भ्रमर इव विभाते कुन्दमन्तस्तुषारं
न च खलु परिभोक्तुं नैव शक्नोमि हातुम्॥ Śāk. V. 19.

[4] प्रतीहारी—अहो धम्मावेक्खिआ भट्टिणो। ईदिसं णाम सुहोवणदं रूवं देक्खिअ को अण्णो विआरेदि। Śāk. V. p. 402.

[5] इतः प्रत्यादेशात्स्वजनमनुगन्तुं व्यवसिता
मुहुस्तिष्ठेत्युच्चैर्वदति गुरुशिष्ये गुरुसमे।
पुनर्दृष्टिं बाष्पप्रसरकलुषामर्पितवती
मयि क्रूरे यत्तत्सविषमिव शल्यं दहति माम्॥ Śāk. VI. 9.

Now he is always up to the welfare of his people and remains indifferent to personal happiness. He resembles a tree[3] that protects against heat and gives pleasure and peace with its cool and soothing shadow to those who seek shelter against the blazing and scorching sun. He is the father of fatherless, shelter of destitutes and is the friend of all. He shares adversity and prosperity with his subjects. He is very tough while attending his duties. To serve the people is his penance. He earns *tapas* by the service to his people and not by toiling his body in the hermitage. Therefore, he is really a royal[4] sage. In true sense, he is a successful ruler with high administrative efficiency. He never finds holiday[5] from the royal duties. While he is ruling, there is no room for evil and unauspiciousness.[6] Under his reign, non resorts to reproachful path. He is not only the protector of his empire, but is the helper[1] of gods in the protection of the creation.

---

[1] प्रजागरात्खिलीभूतस्तस्याः स्वप्ने समागमः ।
बाष्पस्तु न ददात्येनां द्रष्टुं चित्रगतामपि ॥ Śāk. VI. 22.

[2] येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बन्धुना ।
स स पापादृते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम् ॥ Śāk. VI. 23.

[3] स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः
प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवंविधैव ।
अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णं
शमयति परितापं छायया संश्रितानाम् ॥ Śāk. V. 7.

[4] अध्याक्रान्ता वसतिरमुनाप्याश्रमे सर्वभोग्ये
रक्षायोगादयमपि तपः प्रत्यहं संचिनोति ।
अस्यापि द्यां स्पृशति वशिनश्चारणद्वन्द्वगीतः
पुण्यः शब्दो मुनिरिति मुहुः केवलं राजपूर्वः ॥ Śāk. II. 14.

[5] भानुः सकृद्युक्ततुरङ्ग एव रात्रिंदिवं गन्धवहः प्रयाति ।
शेषः सदैवाहितभूमिभारः षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः ॥ Śāk. V. 4.

[6] कुतो धर्मक्रियाविघ्नः सतां रक्षितरि त्वयि ।
तमस्तपति धर्मांशौ कथमाविर्भविष्यति ? ॥ Śāk. V. 14.

In the hermitage of sage Mārīca, he has been made into the most loving,. faithful and considerable husband. Even the talking[2] about another wife is demoralizing for him. Through his son and with the blessings of gods and sages, he regains his chaste wife in aerial region, between heaven and earth, away from this mundane affair. With the unexpected gain of his wife and son, he experiences extreme pleasure. Happily he takes the son in his lap and proclaims that only those people are fortunates[3] who become besmeared with the dust of their offsprings, playing in their laps. He prostrates before his wife Śakuntalā and begs pardon for his cruelty. Here he does not express his royal power and dignity. Here unbridled and wild love of Duṣyanta and Śakuntalā becomes pure in long bereavement and yields the culmination of love and life—the birth of a heroic son, who is predestined as the sovereign ruler of the universe.

Thus, Duṣyanta attains supreme glory and greatness of a human.

The Raghuvaṁśa is the most dignified and glorious creation of Kālidāsa's mature genius. The epic reveals maturity in the presentation of human royal characters. The poet depicts therein the exploits, adventures, supremacy and achievements of solar dynasty on the earth. The kings of this noble dynasty bear the highest ideal[1] of our culture. They are pure from their very birth. They are great, chivalrous, mighty, unassuming warriors and supporters of gods. They are sovereign rulers of the earth extending upto the oceans. Their chariots move freely upto the heaven. They are courageous, valourous and skilled in warfare. They are shrewd in diplomacy and adept in politics. Work is worship for them. They are unfailing in their duties. They perform sacrifices according to rites. They satisfy the needy and punish the offenders in proportion to their crime. They rise in proper time for the activity. They make good use of their amassed wealth. They follow the moderation in the interest of truth, conquer territories only for fame and not for pleasure and booty. They collect taxes from their subjects and again spend for their growth. In the childhood, they acquire learning, in the youth enjoy the pleasures of hymeneal life, in the advanced age, become indifferent to worldly happiness and attachment and in the end, they give up their mortal coils through the process of Yoga. They marry only for the sake of progeny and not for sensual enjoyment. The descendents of this family are perfect householders who practise the penance every day by performing their duties in the best manner. They promote the *tapas* in the second stage of life and secure the blessings which are of no mean value than in the forest. Without being genitors, they are practically fathers[2] of their subjects by imparting them education, protection and nourishment. Birds and beasts also expect protection from them. King Dilīpa offers himself to a lion in order to save the life of a cow. They are liberal in offering. Raghu performs the Viśvajit sacrifice and gives up all his belongings in charity. This is the greatest disgrace[1] on his part when any needy person returns disappointed from him. Therefore, all kings of this solar dynasty are free from all blamishes. They are all good and have no evil.

---

[1] नैतच्चित्रं यदयमुदधिश्यामसीमां धरित्री—
मेकः कृत्स्नां नगरपरिघप्रांशुबाहुर्भुनक्ति ।
आशंसन्ते सुरयुवतयो बद्धवैरा हि दैत्यै—,
रस्याधिज्ये धनुषि विजयं पौरुहूते च वज्रे ॥ Śāk. II. 15.

[2] दुष्यन्तः—(स्वगतम्) इयं खलु कथा मामेव लक्ष्यीकरोति । यदि तावदस्य शिशोर्मातरं नामतः पृच्छामि । अथवाऽनार्यः परदारव्यवहारः ।
Śāk. VII. p. 591.

[3] दुष्वन्तः—स्पृहयामि खलु दुर्ललितायास्मै ।
आलक्ष्यदन्तमुकुलाननिमित्तहासै
रव्यक्तवर्णरमणीयवचः प्रवृत्तीन् ।
अङ्काश्रयप्रणयिनस्तनयान्वहन्तो
धन्यास्तदङ्गरजसा मलिनीभवन्ति ॥ Śāk. VII. 17.

---

[1] सोऽहमाजन्मशुद्धानामाफलोदयकर्मणाम् ।
आसमुद्रक्षितीशानामानाकरथवर्त्मनाम् ॥
यथाविधिहुताग्नीनां यथाकामार्चितार्थिनाम् ।
यथाऽपराधदण्डानां यथाकालप्रबोधिनाम् ॥
त्यागाय संभृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम् ।
यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम् ॥
शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम् ।
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥ Ragh I. 5—8.

[2] प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि ।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः ॥ Ragh. I. 24.

Rāma is the richest and the most glorious example of Kālidāsa's ideal. He displays the highest of human dignity as a son, as a brother, as a husband, as a father and even as an enemy. We never find an instance where he falls from his highness. He is complete in himself. He accepts the royal glory with tearful[2] eyes and obeys the order of banishment with happiness. He surrenders the royal glory for the sake of his brother. He is a devoted husband. He always keeps in his mind to make Sītā happy. He suffers a lot in order to fulfil this mission. During his exile, he is confronted with serious obstacles. But in the performance of his royal duties, Rāma appears rather more stiff and harsh towards his beloved wife Sītā. He enjoys with her when he gets leisure[3] from public affairs. To satisfy his people, to maintain peace and happiness and to prosper the empire, are his primary duties. Due to public. revile, for the happiness of his people and to retain the purity of his family, he repudiates[4] his pregnant and blameless dear wife Sītā. This is the greatest sacrifice of a human for the sake of others. He renunciates her to keep the good name of his family, but he does not slacken his deep-rooted love for her. As a human husband, he suggests[1] Lakṣmaṇa to leave Sītā near the hermitage of Vālmīki, so that she may receive the fatherly and benign affection and protection from the sage. As a human, when he gets the message of exiled Sītā, he becomes possessed by her sweet memories and sheds tears like the wintry moon,[2] dropping frost. Out of deep love and high regard for Sītā, he remains unmarried[3] and refuses to accept another maiden as his wife. He performs the horse sacrifice with a golden effigy of Sītā. Here, he appears as an extraordinary husband. Though, he feels great mental pain and affliction, yet there occurs no sign of grief on his face. Never a word of sorrow comes out from his mouth. He maintains the same glory in the distress. Now he serves his subjects with the same earnestness,[4] vigilence and wakefulness with the co-operation of his brothers.

---

[1] गुर्वर्थमर्थी श्रुतपारदृश्वा रघोः सकाशादनवाप्य कामम् ।
गतो वदान्यान्तरमित्ययं मे माभूत्परीवादनवावतारः ॥ Ragh. V. 24.

[2] पित्रा दत्तां रुदन्रामः प्राङ्महीं प्रत्यपद्यत् ।
पश्चाद्वनाय गच्छेति तदाज्ञां मुदितोऽग्रहीत् ॥ Ragh. XII. 7.

[3] स पौरकार्याणि समीक्ष्य काले रेमे विदेहाधिपतेर्दुहित्रा । Ragh. IV. 24ab.

[4] निश्चित्य चानन्यनिवृत्ति वाच्यं त्यागेन पत्न्याः परिमार्ष्टुमैच्छत् ।
अपि स्वदेहात्किमुतेन्द्रियार्थाद्यशोधनानां हि यशो गरीयः ॥ Ragh. XIV. 35

Now Rāma is, after all, the husband[5] of the earth. His own little sons are in the forest, leading a hard life of austerity. But, to him, his all subjects are like his own sons. Lakṣmaṇa observes him as an unique king of the earth. Therefore, Rāma is the supreme specimen of the humanity. As such he is believed as the incarnation of God Viṣṇu. Here, we mark the humanization of God on one hand and the deification of man on the other. Here lies the ideal of our ancient culture, here is the true motto of duty and service and here is the perfection of a human and it is the final goal of Kālidāsa, the great poet.

---

[1] प्रजावती दोहदशंसिनी ते तपोवनेषु स्पृहयालुरेव ।
स त्वं रथी तद्व्यपदेशनेयां प्रापय्य वाल्मीकिपदं त्यजैताम् ॥ Ragh. XIV. 45.

[2] बभूव रामः सहसा सबाष्पस्तुषारवर्षीव सहस्यचन्द्रः ।
कौलीनभीतेन गृहान्निरस्ता न तेन वैदेहसुता मनस्तः ॥ Ragh. XIV. 84.

[3] सीतां हित्वा दशमुखरिपुर्नोपयेमे यदन्यां
तस्या एव प्रतिकृतिसखो यत्क्रतूनाजहार । Ragh. XIV. 87ab.

[4] निगृह्य शोकं स्वयमेव धीमान्वर्णाश्रमावेक्षणजागरूकः ।
स भ्रातृसाधारणभोगमृद्धं राज्यं रजोरिक्तमनाः शशास ॥ Ragh. XIV. 85.

[5] स ददर्श सभामध्ये सभासद्भिरुपस्थितम् ।
रामं सीतापरित्यागादसामान्यपतिं भुवः ॥ Ragh. XV. 39.

Similarly Kālidāsa establishes his ideals with the presentation of living picture of various types of characters in his literary flourishes.

In his characterisation, we witness a gradual development from the earth to the heaven. He deals with both kinds of characters, the earthly and the celestial, and forges combination between the two. The mortal characters rise to the divine greatness and the divine characters descend to the human level. A perfect man is the harmony of humanity and divinity. Kālidāsa is a poet of the people, writes about the people and for the people. But he conveys his messages through the presentation of gods, kings, and the people who surround them. His gods are not terrible beings, sitting for high up, aloof from man. They are well wishers, comrades and helpers of the humanity. They also seek helps from human kings in the battle against demons. Purūravas and Duṣyanta are the chief supporters of Indra. They maintain peace and prosperity in the heaven. The Great God Śiva is also changed into a bridegroom from an ascetic. Kālidāsa's kings are noble man, freed from palaces and royal luxuries and are away from all emblems and paraphernalia of imperial pomps. They bear unique and harmonious communion of the political, cultural and humanitarian qualities. They toil for their people, move among the people and live like the people. They always labour for the flourish of the country and for the welfare of the people. They are not autocrats. They are great connoisseurs of arts. They have struck harmony between human and natural beauty. They possess a keen and vivid sense of beauty in human and Nature. They are staunch followers of ancient ideals. They live in the domain of idealism with good qualities. They are noble, courteous, generous, dutiful, prideless, equally good in war and love, supporters of gods and kind even to their enimies. These virtues endear them to all Kālidāsa's priests play important role in the life of the people. He turns them into useful citizens, functioning in the national life for the good of the country. They also lead the army to the theatre of the battle. In the same way, Kālidāsa draws the picture of the faminine beauty from the earthly to the heavenly plane. He has achieved greater success in the presentation of female characters and lends more attention in their delineation. They have greater appeal than the males and reveal universal qualities. They are beautiful, clever, virtuous, amiable and self-sacrificing. Free from conventionalism, they are true, tender hearted, patient brave and devoted chaste wives. They are trustworthy, sincere and loving. They are followers of right path and sacrificers of their own pleasures for the sake of their husbands. They are wise councellors and good companions of their lords. They always experience troubles and great sufferings to fulfil their missions. Kālidāsa's concept of the Ardhanārī-śvara illustrates this truth more clearly. They are affectionate mothers. They are alive to the tradition that love is for order and harmony. The poet runs the whole gamut from mother, daughter, wife to the beloved in his literary masterpieces.

Thus, Kālidāsa is a great lover of the humanity. Men on the earth are more happy than gods in the heaven. Therefore, heavenly damsels covet the companionship of men on the earth for more pleasure. He presents the common people along with Nature as forming an integral and valuable part of this world of beauty and happiness. He brings the common people face to face with gods, kings and priests. In this way, the poet moulds the life of people. He unfolds all these characters in a natural and dignified way as a flower unfolds its petals in the rain and sunshine.

He is conscious of morality. His characters are marked by the sense of auspicious deeds and abstension from sins. He depicts life in all its fulness and variety. For him, the path of wisdom lies in the harmonious pursuit of different aims of life and the development of an integral personality. He impresses these ideals on our minds by the magic of his poetry, the richness of his imagination, the profound knowledge of human nature and by his delicate description of tender emotions. He is an admirer of the simplicity and the discipline of childhood. He appreciates the joys of the hymeneal life in youth and disregards the pleasure of life in the advance age. He aims at the liberation through the moral and psychological discipline. He lays great emphasis on the absvervance of the order of the four *āśramas* in life. He develops his characters through the ordeals of duties and obligation and not through rights and privileges. Kālidāsa strikes harmony among different aims of life and thus believes in the growth of integral personality. His persuasive manner leaves an indelible stamp of these ideals on our minds, which leads us to success in every sphere of life.

TRAINING IN INDUSTRY OF INDIA WITH SPECIAL REFERENCE TO HSL

DR. D. P. N. SINGH

Training in industry is desired to help the management or an industry as a whole, to face the problems of production, efficiency, wastage, cost, quality, morale, industrial relations, etc. Certain training programmes (training within the industry) emerged from the concept of "*determinate discussion*" and assist the organisation to some extent in handling the problems. These problems cluster under three groups, viz., problems of handling people, problems of communication and problems of economic production and correspond to (i) Job relations, (ii) Job instructions and (iii) Job methods. Training is to be imparted to all who have to shoulder the responsibility of production and management i.e. all personnel who are directly or indirectly related with the job. Priorities are to be fixed and training programmes are to be designed for each group of people, who have to contribute to the smooth running of the units. For instance in steel factories, 'Supervisors' have tried to study the training programmes of HSL.

*Trained Personnel in Hindustan Steel Ltd.**

In the initial stages the company met its large requirements of technical personnel by training men in outside plants including steel works in India and abroad. Almost the entire requirements of supervisory personnel have been trained in the steel industries of countries such as USA, USSR, UK, West

---

*Note** : The author has interviewed five executives of each plant viz., Durgapur, Rourkela and Bhilai in May-June, 1965 to gather the opinions and the material for this paper.

Germany and Australia[1]. Key personnel for Bhilai have been trained in USSR and most of the operatives for Rourkela and Durgapur and some for Bhilai have been trained at Jamshedpur, Bhadrawati and Burnpur. More than 1,500 skilled workers were recruited from trade school certificate holders and trained in engineering firms in and around Calcutta and Bombay. The bulk of personnel for skilled and semi-skilled jobes has been drawn from personnel engaged in steel plant construction.

Provision of Training in HSL.

It is a well-known fact that a growing enterprise like HSL cannot remain dependent on outside supply of trained personnel. Thus training of skilled workers and operatives had started at Rourkela and Bhilai at the end of 1958 when some of the sections of the plant were commissioned. The formal programme of training apprectices (as graduate trainees) was introduced in June 1960. To meet the other types of training requirements, the company has started a number of courses.

Why We Need More Trained Personnel in Steel Industry.

It is clear that our present production capacity of steel is 9 million tons. This has to be raised to 20 million tones by the end of fourth plan. It will naturally require a large number of trained personnel. It is estimated that one million ton capacity plant requires 500 to 600 graduate engineers and 6,000 to 8,000 skilled workers. An estimate for the fourth

---

[1] TRAINING UPTO 1963-64 IN HSL.

Plant	U.K.	USA	USSR.	W. Germany	Canada	Australia	Holland	France	Total
Rourkela	1	382		144		27	8	1	563
Bhilai	—	—	796					4	800
Durgapur	383	180			1	88		1	653
Coal Washery		4							4
HO								1	1
	384	566	796	144	1	123	8	7	2021

plan (includes Bokaro, etc.) for public sector steel plants, shows that about 400 engineers and metallurgists with experience of 10 years or more, 1600 trained engineers and metalurgists with 5 to 9 years ; 2,800 young graduate engineers and metallurgists and 10,000 technicians and diploma-holders will be required. At present the existing plants have only 2,000 personnel in the executive ranks at the various levels of management. It is felt by the planners that there is a shortage of trained personnel, to handle the growing need of steel manufacture. This shortage is further reflected in the fact that quite a large number of people in steel plants are promoted every year in higher ranks even though they do not fulfil the required conditions regarding experience and other qualifications. The management feels that the posts at higher levels cannot remain vacant because otherwise the work will be hampered. However, it is rather difficult to substantiate the above reasoning for promotion and filling of posts with sub-standard men ; any way, even if it is a truth, it should have been for a short duration. The above reasoning led the public sector to permit each unit to develop their own training institutes within the plant. Head Office of HSL of Ranchi has taken up another programme of training managerial personnel for their plants, which it, can be said that the step was like the TISCO management Training Institute for their managerial staff. Now, thus HSL has three training institutes situated in Durgapur, Rourkela and Bhilai and one Management Training Institute at Ranchi.

Job of Training Institutes.

Training facilities provided by the H.S.L. can be divided into three broad categories :

1. Management training,
2. Supervisory training,
3. Training for skilled jobs.

Management Training ;

It is felt by the Management (as in case of TISCO) that training for the managerial staff should be more of "management Oriented", that implies that the trainees are given a broad based knowledge to enable them to tackle the different types of problems, that are to be faced by the managerial personnel at higher positions. With this in view, the institute is running under the Chief Superintendent who reports its activities to the Chairman of HSL.

The Institute Organises Company-oriented Management Training Programmes for junior, middle level and senior management personnel. These programmes include training for non-technical officers, management orientation programmes for graduate engineers, training in skills of managing, conference leadership, special seminar on management and seminars on tools of management, etc.

It can be noted that most of the training activities of the Institute are company-oriented and it has to function in close collaboration with the line management and the development of policies and practices covering the whole field of management responsibility. The courses, thus organised, are of short duration, like 1 to 6 days course, goes nearly 51% while 7 to 15 days to 35% and 14 to 20 days to 10% and more than 20 days constitutes 4% only. It shows how short duration courses are organised to train the managerial personnel in this unit.

At this stage, it can be doubted whether the training courses of such a small duration can at all be of any help to develop the skill and aptitude desired particularly when they are imparted to lower and middle-management personnel. For instance, a three day programme for Production Planning and control and a six-day programme for sales management, forecasting and market research can hardly provide a 'training answer' to company's policies.

Further, looking to the number of participants in the various programmes, it is rather alarming to say that with such short duration programmes, they could train or impart training etc. to 900 men only in the last four years (supervisory or executive etc.). If we look to the size of the employment, in official grade (both technical and non-technical officials, etc.), the number reaches nearly 5,000 in all the four establishments, (including mines and foundaries). The size of this Institute is rather too small to tackle their own men. Can HSL take assistance from the Management Institutes and Universities in this direction.

Training for Graduates and Supervisors ;

As mentioned earlier, three training institutes one each at Bhilai, Durgapur and Rourkela has started functioning since 1960. These Institutes are headed by a Superintendent of Training, reporting to the Chief Superintendent. A number of Training Officers are engaged and thus it can be said that these institutes are well-equipped to impart training to the graduate-engineers and technicians. These institutes are training 3,500 personnel of different categories every year. The company has also introduced a new type of scheme for training the under-graduate engineering students from the engineering institutes, during the vacations.

'Training within industry' mainly meant for supervisory staff who have to function as organisers, managers and instructors of their working group in HSL, is also provided.

Training of Skilled Workers ;

It can be noted that there are about 1,400 to 1,500 jobs in a steel works, out of which most of the jobs require specialised training at different levels. In the beginning, facilities have been secured for training over 1,600 skilled workers at a time in about 74 engineering works, mainly in and around Calcutta. To meet the requirements of operatives who could be trained only in steel works, arrangements have been made with Tatas, Indian Iron and Mysore Iron for the training of 450 operatives a year i. e. 1,800 in four years. Skilled workers were also attracted from the existing private steel plants.

It is interesting to note that as the plants started gradually developing, Institutes began training individuals for the different jobs needed in the other units. For instance in 1959, Rourkela Plant trained nearly 500 skilled workers and helped the other developing plants of the company. Gradually Bhilai and Durgapur, too, have started separately training their operatives and helped by their trained men to other plants. The intake of Bhilai itself in the year 1964 was 700 operatives, (senior operatives 150, junior operatives 250, artisan trainces 300).

Thus the figure of those undergoing training in 1964-65 in all the three training institutes of HSL is 720 senior operatives, 889 junior operatives and 1,040 artisans. Moreover, a number of persons are also trained outside for the alloy steel plant.

It is not the end of expansion of the training schemes of HSL. Apart from the training to graduate engineers, skilled and semi-skilled employees under its regular training schemes, the company arranges schemes for apprenticeship training under Apprentices Act, Vocational Training, Stipendary Training under Government of India Scheme, training of foreign nationals, training for the personal of outside organisations (e.g. for Mysore Iron and Steel Works, Heavy Engineering Corporation, etc.) to their employees.

Systematic Induction Courses, too have been organised for each individual in the plant.

Another type of training viz. that for safety and accident prevention has been designed and imparted to the employees of the plants.

Efforts Towards Better Production ;

The management of HSL, in addition to providing the training facilities, has taken certain other steps like—appointment of a Training Advisory Committee in each plant to review the training needs and the nature of the training efforts required to meet production targets, etc. Further to integrate the production efforts, in some plants the Training Department is placed directly under the General Superintendent to coordinate the training efforts. In addition to the above types of efforts, ad hoc programmes are designed for crane drivers, loco personnel, other maintenance personnel and special operators, etc.

Certain Observations on the Training Imparted in HSL ;

Programmes prepared for training the managerial personnel (as observed by some of the executives of HSL) could not do much in developing the proficiency of managers, or executives or management personnel. It has been suggested by some of the managerial personnel that (i) the training should be imparted on a more systematic basis and the duration should be such which may help the trainees to gain sound knowledge of the subject ; (ii) Assistance from the specialised institutes may be taken to develop the right type of managerial personnel. Let us hope that during the course of development, this Institute may be able to produce a good managerial personnel to tackle the day to day problems of their units.

(ii) Further, it has been observed that top management sometimes doubts the ability of Indian engineers and the foreign trained Indian personnel of their own units. It might be due to certain reasons like—

(i) the training received abroad may be diffective, or
(ii) the training might be good, but the recipients have failed to grasp the subject-matter adequately or
(iii) the top management might be under the impression that a job done by the outsider is better than our trained personnel, or
(iv) sometimes, some other reasons unknown might affect the feeling of reliability of the top executives.

It has been observed that in majority of cases, it is the foreign technician and the consultants who are called for repairs and replacements of the plant. This becomes a source of heavy burden on the plant. This policy of occassional discrimination between Indian and foreign technicians is not appreciated by some of the managerial personnel of these plants. It is now a feeling that Indian technicians are even better equipped to give share and can build the bigger plants in the country itself like Bokaro Steel, without much of assistance (technical). It can be said that Public Sector has to experiment on these lines and leave the fear complex. The idea of unrealiability or lack of confidence has to be set aside and without any hesitation due opportunity should be given wherever it is due, to build potential men of steel in the country.

At the third place, it has been observed that all the three training institutes, opened at Bhilai, Rourkela and Durgapur should train men as a part of a coordinated plan. The practical of training independently all the employees, whether plant needs them or not cannot be justified. Say 'X' type of training is imparted to 'Y' type of workers in one institute of the HSL, then why not other institute should take up 'Z' type of job and train other type of workers. In other words if all the three Institutes plan in cooperation, a detailed plan to produce specialists in the jobs, it will help in developing a 'force', a more confident man-power for the operation of the plant.

In the end, on the point of expectations of the trained personnel, from these three Institutes, it is clear that they want placements according to their training. It has been observed that training facilities within the plant itself do not guarantee their employment or placements in the proper places. They are more guided by the vacancies and the will of the Incharge Employments. Trained men are good, but the question is "do these Institutes prepare them in their employment etc. ?" So it can be suggested that the Management should see that these institutes may run on a better coordinated pattern rather than in a way they exist to-day to create interest in the job.

CENTRAL HINDU COLLEGE

Our College has at present 1262 and 578 students in undergraduate and postgraduate classes respectively. The total number of research scholars in the various Departments of the College is 115. It is worth noting that whereas at the undergraduate and postgraduate levels there has been an attempt to limit the number of students in order to achieve a proper ratio between students and teachers, there has been during the last few years a steady increase in the number of research scholars in all Departments. It is indeed a happy sign for our academic future that more and more teachers and students have come to realise the importance of research.

We offer our most sincere felicitations to the young friends who have successfully completed their Ph.D. work and wish all luck to those who are awaiting the approval of their theses.

Each department of this college organises weekly or fortnightly seminars to encourage research and also to initiate the postgraduate students into the techiniques of research. The absence of proper departmental libraries in most of the departments is however, a serious handicap in this respect.

I should also avail myself of this opportunity to thank the University Grants Commission for the encouragement they have given to research and higher studies by providing some Departments like that of English with grants for the publication of research works by teachers and scholars. At the same time, I would also submit that there is necessity of enlarging such grants so that it may be possible for all Departments to publish their research works of merit. This would be most effective in giving the required fellowship to our scholars. However, in spite of many difficulties, quite a large number of works of our teachers were published during 1965-66.

Academic interests, however, would be best served if the University itself, with the help of the University Grants Commission and other agencies, undertakes the publication of the research works of its scholars and teachers.

I would also avail myself of the opportunity to impress upon the University authorities and the University Grants Commission the necessity of increasing the number of scholarships to our postgraduate and research students. Many of our bright students are either deprived of higher education or cannot give the best of themselves on account of financial handicaps.

There are some other serious problems before us, such as inadequacy of staff, accommodation, furniture and equipment sanitation and water etc. I request the University authorities to kindly look into these difficulties and redress them. A clean and well-furnished College will not only have an aesthetic appeal but will produce an atmosphere conducive to better academic work.

Last but not the least, the inadequate number of teachers. Improvement in this situation is most urgently needed. Conditions in this respect have not doubt improved of late, but the number of teachers in the various Departments yet needs to be augmented in the interest of better and more effective teaching. For want of teachers it has been so far impossible to organize tutorials in a proper way, especially in compulsory subjects like Hindi and Englush in which many tutorial groups, consisting of 60 or more students, are a standing farce.

With all these deficiencies, however, the College have a good account of itself in academic matter during 1965-66. Many of our teachers were invited to attend learned conferences in India and abroad, and to deliver lectures. A number of distinguished foreign and Indian scholars visited the various departments of the college.

A number of new appointments were made in the various Departments of the College during the last academic session. Dr. J. L. Mehta, Reader in Philosophy was appointed Professor of Philosophy and Dr. S. K. Srivastava joined as the Malaviya Professor of Sociology.

Pt. Ramchandra Shastri has joined as Reader in the Centre of Advanced Studies in Philosophy, and Dr. G. S. Nepali in the Department of Sociology.

The Lecturers appointed during the session 1965-66 are:

Dr. A. K. Chatterjee, Shri K. N. Mishra and Shri Kamta Rai in the Department of Mathematics, Dr. Shiv Karan Singh and Dr. Kashi Nath Singh in the Department of Hindi, Dr. A. Thomas in the Department of Political Science, Shri Satyendra Tripathi in Sociology, and Dr. S. Sinha in Bengali.

We offer our heartiest felicitations to all these friends and hope that they will enrich the academic life of the College and the University.

From the session 1965-66 the new Faculty of Commerce started functioning. Its work started with the reorganisation of the M.Com. Course as a management course, the first course in this College to run under the Semester system. It is also the first M.Com. course in India to become a management course and to run under the semester system. The M.B.A. course was also brought under the semester system. Postgraduate Diploma Courses in Business Management and Refreshers Courses for business executives has also been prepared and we hope all these management courses will be started from the next session when necessary grants are received. Besides these, new papers in Scientific Method, Mathematics, Sociology and Psychology were introduced in the B.Com. course in place of the papers on General Education.

During the year 1965-66 the team consisting of Shri Y. K. Maheshwari and Shri A. K. Bhattacharya of the Department of Commerce won an All India debating Contest at Kanpur.

In the field of games and sports and N.C.C. also our students have made the mark. Shri Shanker Dutt Mishra was adjudged as the best cadet of U.P. at the Republic Day camp in January, 1966. At the annual sports of the College, one University and one College record was broken—the former in Hop Step and Jump by Shri Ram Bali Singh and the latter in Discuss Throw by Shri Sarangdhar Rai. Our students have represented the University in various inter-University meets.

COLLEGE OF INDOLOGY

It was on 1st March 1950 that the foundation-stone of the building of the College was laid by Dr. Rajendra Prasad, first President of the Indian Republic.

The College of Indology is a unique Institution of its kind in India and is a centre of higher research for Ph.D. and D.Litt. degrees and for Post-graduate teaching in the various branches of Indology. The College attracts students from different parts in India and from many countries in different continents. At present the number of foreign students in the College is between 40 and 50, nearly 1/3rd of the total number. About 85 students of the College have obtained Ph.D. degree from the University.

The College consists of 4 Departments, namely—(1) Sanskrit and Pali, (2) Art and Architecture, (3) Ancient Indian History, Culture and Archaeology, and (4) Indian Philosophy and Religion.

I. Department of Sanskrit and Pali

Number of Teachers (including one Professor & 2 Readers)	12
Number of students	
M.A. Previous—Sanskrit	20
M.A. Previous—Pali	2
M.A. Final—Sanskrit	20

There are 25 Research Scholars working in the Department 7 Research Scholars are expected to obtain Ph.D. degree at the ensuing Convocation.

The Department has been enjoying as many as 13 Research Scholarships.

II. Department of Art and Architecture

Number of Teachers (including one Reader)		3
Number of students	M.A. Previous	6
	M.A. Final	3
	Diploma course	1

Number of Research Scholars	3
Number of Research Fellowships and Scholarships (including one Senior Research Fellowship from U.G.C.)	3

III. Department of Ancient Indian History, Culture and Archaeology

Number of Teachers (including two Readers)		12
Number of students	M.A. Previous	13
	M.A. Final	9
Number of students in Diploma Courses :—		
	Archaeology	1
	Numismatics	3
	Indian History & Culture	4
Number of Research Scholars working for	Ph.D.	31
Number of students who are to be awarded	Ph.D. degree this year	4
Number of Scholarships (including 1 Senior and 2 junior Research Fellowships)		7

The Department has also been looking after a Puranic Research Section. It has also been running the Wisconsin Programme under which Wisconsin students study in the College for a year. There is also a Tibetan Study Programme. The Archaeology Section of the Department has been carrying on excavations at Rajghat. The report is under preparation.

IV. Department of Indian Philosophy and Religion

Number of Teachers (including one Professor and one Reader ; also one part-time teacher and one honorary teacher)		3
Number of students	M.A. Previous	5
	M.A. Final	6
	Diploma course	2
Number of Research Scholars who are working in the Department for their Ph.D. including 4 Teachers		15

Two students will be awarded Ph.D. degree at the ensuing Convocation.

Research Fellowships and Scholarships

The Department enjoys eleven Scholarships including six Gaekwad Fellowships, one Departmental Fellowship, one Junior Fellowship and three Government of India (T.C.S. one Junior Fellowship and three Government of India (T.C.S. Colombo Plan).

The Department has Ten foreign students on the rolls, including four Research Scholars.

TEACHER'S TRAINING COLLEGE

Results ;

B.Ed. : 100%
M.Ed. : 100%

Losses and gains :

The College mourned the dea of Shri Pashupati Nath Mukherjee, our Sculpture Instructor and a sculptor of All-India fame.

Sri G. P. Singh, Lecturer in Education, retired.

Sri S. N. Sharma, Instructor in Sculpture, Sri Dinesh, Lecturer in Physical Education, and Sri V. B. Pathak, Lecturer in Education, were appointed on temporary basis.

Miss Kamala Bokil, Reader in Education, left for U.S.A. to complete her research for Doctorate in Education.

B.H.U. Golden Jubilee :

The college actively participated in the various functions like Photographic Exhibition, Cultural activities, Foundation Day Jhanki etc.

Km. Radha Raman of B.Ed. participated in the Inter-Collegiate English Debate. Sri Lal Bahadur Singh and Km. Usha Agrawal both of B.Ed. took part in the Hindi Debate and won the Inter-Collegiate trophy of B.H.U. Km. Usha Agrawal stood second and was selected for the All-India Hindi Debate.

An Art and Craft Exhibition inaugurated by Sri Sri Prakash, ex-Governor of Bombay, was held during the Jubilee week. The girl students ran a canteen and the total profit of Rs. 138.00 was sent to the .B.H.U. Drought Relief Fund.

Scouting and Girl Guiding :

Camps were organised at Sarnath for a week.

Teaching Competition :

Km. Jaya Mehta and Smt. Madhuri Modwel of B.Ed. participated in the Teaching Competition held in the local Govt. Basic Training College. Km. Jaya Mehta stood first and Smt. M. Modwel was third.

Extra Mural Lectures :

Dr. Robert W. Pyle, specialist in Teacher Education, Teachers' College, Columbia University, gave two talks on November 29 and 30, 1966.

Dr. F. L. Kunz of the Integrative Education Association, U.S.A., delivered two lectures on 24th and 26th December, 1966.

Dr. A. R. Wadia spoke on "Education and National Integration in India" on 18th February, 1967.

Dr. S. Dasgupta Director, Gandhian Institute of Social Studies, Rajghat, Varanasi, delivered a lecture on "The Impact of the last Elections in Education" on 9th March, 1967.

Seminars and Workshops ;

Dr. (Miss) S. Varshney was invited to give a lecture in the Extension Lecture Programme of the Banaras Hindu University.

Sri Ramapati Shukla directed a three day Seminar of Hindi teachers of Jaunpur District in the T. D. College.

He was invited to address the students and staff of the Education Department of Harishchandra Degree College, Varanasi.

He was also invited to Review the Third Reader of the Reading Project of N.C.E.R.T. Delhi.

He attended a workshop of Hindi Grammarians sponsored by N.C.E.R.T. and held at Agra from February 26 to March 6, 1967.

Sri R. C. Shukla participated in the All-India Art Seminar held at Jamia Millia, Delhi and read a paper on Art Education.

Km. Kala Kaul attended a seminar on Adult Education held in Delhi.

Literary contribution ;

Sri R. K. Yadav's book "The Indian Language Problem" was published this year. Sri Ramapati Shukla's articles were published in the 'Youth', Secondary Education, Punjab Journal of Education and Dharmayug.

Sri K. P. Singh, one of our B.Ed. students, contributed an article in the Teacher Education, Delhi.

Extension Services Department ;

1. Development of Instructional Material in Mathematics —23rd to 25th August, 1966.

2. Workshop on Experimental Projects 22nd and 23rd September, 1966.

3. Development of Instructional Material in English (Tenses).

4. Visits : about 20 schools of Varanasi and Gorakhpur were visited and the following activities done :—

   (i) Library Science
   (ii) Audio-visual services
   (iii) Lectures about the Extension activities.

WOMEN'S COLLEGE

This year the College started its academic work from August 18th instead of July 9th. The college has on its roll 674 students. Out of this total of 674 the No. of resident students is 197 and that of day students is 477. There are 463 on the Arts side and 211 studying Science.

Results ;

The total percentage of passes works out as follows :—

Examination	Appeared	Passed	Percentage
B.A. Pt. I. Arts	78	65	83.3%
B.A. Pt. II. Arts	128	121	94.5%
B.A. Pt. III. Arts	88	83	94.3% with 17 first class with honours
P.U.C. Arts.	81	66	81.4% with 6 first classes
B.Sc. Pt. I. Science	35	15	62.8%
B.Sc. Pt. II Science	49	26	53%
B.Sc. Pt. III Science	30	25	83.3% with 2 first class & honours
P.U.C. Science	66	45	68.1% with 5 first classes

Our students have won many academic distinctions and top honours at the University examinations. This is for the fourth consecutive year that the Women's College has maintained the first class first position in B.A. examination. The two ranks in B.A. Pt. I and the first rank in P.U.C. Arts have also been won by the students of the Women's College. The names of the rank holders in order of merit are Km. Urmila Bhargava and Km. Swasti Devi in B.A. Pt. I and Km. Meena Kapoor in P.U.C. Arts.

U.G.C. Scheme of Exchange of Professors ;

The University has sanctioned Rs. 600/- for inviting distinguished scholars under the U.G.C. Scheme for delivering a series of lectures in respective fields of specialization. Last year Prof. V. Y. Kantak-Professor of English of the Baroda University, delivered a series of lectures in English literature.

The staff ;

There have been a few changes among our staff and temporary arrangements have been made to fill up the leave vacancies. The following have been appointed on a temporary basis :

1. (Miss.) A. L. Sinha, lecturer in Economics.
2. (Miss.) Leelawati Singh, lecturer in Philosophy.
3. (Mrs.) Saraswati, lecturer in Psychology.
4. (Miss.) Shakuntala Srivastava, lecturer in History.
5. (Miss) Indra Rani Bhandari, lecturer in Chemistry.
6. (Miss.) Uma Bhatanagar, lecturer in Chemistry.
7. (Mrs.) Prem Lata Srivastava has been appointed on probation as lecturer in Home Science.

(Miss.) Krishna Banerjee has been appointed as lecturer in English in the vacancy caused by the retirement of Dr. (Mrs.) L. Menon this academic session.

I am happy to mention the distinction won and the good research work done by our members of the staff. Dr. (Mrs.) Sita Srivastava got her Ph.D. degree in Politics. Dr. (Miss.) Nirmala Trivedi in Botany. Mr. B. V. Patakar was awarded the Sangeet Praveen Degree by the Gandharva Mahavidyalaya, Bombay.

We are glad to welcome back Dr. (Mrs.) Kamalaveni Chandrasekar, Reader in Zoology who had gone to U..S.A. on deputation leave for a year for post doctoral Research work with Dr. Aubrey Gorbman.

Dr. M. Shakuntala was invited by I.I.T. at Kanpur to deliver two lectures on the research work at the Atomic energy Research establishment at U.K. Dr. Miss. I. Roy has been deputed to attend the International conference in Botany at Delhi.

Other members of the staff who have submitted papers to the various conferences are (Miss.) P. V. Ranjini in Zoology

(Science Congress Hyderabad.) Dr. (Mrs.) Sita Srivastava (paper on the Administrative set up of the development of Food and Civil supplies in U.P.) and Mrs. Saraswati Srivastava (paper on inter Departmental coordination in Uttar Pradesh administration with particular reference to agricultural production in the state) (to the political conference Ahmadabad.) Mrs. V. B. Smart was invited to act as a Judge at the State Art exhibition by the Lalit Kala Adademy of Gujrat.

The college Cultural Association ;

The college cultural association was inaugurated by Shri Jyoti Bhushan Gupta our Honarary Treasurer on the 17th of September. It has been doing good work under the stewardship of Dr. (Mrs.) P. Pratap. We had a colourful variety of entertainments ranging from skits and dance to mucic and magic shows. Miss. Jaya Shenoy the Vice President and Miss. Asha Dar the secretary have been conducting the activities of the association in an enthusiastic and efficient manner.

The Athletic Association and N.C.C. ;

The Athletic association conducted the annual sports. The sports meet was inaugurated on the 20th of December by our Registrar Mr. S. L. Dar a keen sportsman and tennis blue of this University.

The N.C.C. started its activities with the Independence Day parade followed by another parade on the 18th of October 1966 when the Defence Minister Shri Y. V. Chavan visited the University. The girl cadets acquitted themselves very well in the March past. On the 20th of November N.C.C. day was celebrated with great enthusiasm, when the Principal of the college took the salute and addressed the Cadets stressing the need for unity.

Lucky Dip and Fete ;

In response to the appeal of the Vice-Chancellor for donations for relief of the Drought affected areas of Eastern U.P. and Behar the Women's College and the Women's Hostels organised a combined fete and Lucky Dip for collections on the

19th of December. The Fete was very colourful—the high lights being Lucky Dip, games, refreshment, stalls besides a stall of painting exhibits.

Development :

Our new home science and geography blocks are getting ready (cost of building 1 lakh). Besides this a sum of Rs. 10,000/- was sanctioned by the University Rs. 8000/- for an additional class room and Rs. 2000/- for the modification of the stage. The completion of the two wings now under construction will solve the space problem for the time being. We have sent a revised comprehansive scheme for consolidation and expansive under the IV plan. (20.11 lakhs non-recurring and 18.05 recurring.) A separate scheme for the post graduate course in Home Science has already been sent. The policy committee of the University pruned our scheme from 5 lakhs to about 4.28 lakhs.

We hope that in the next session it will be possible for us to start sociology and statistics (under the expansion scheme) for which we require a total grant of Rs. 5.65 lakhs.

There is great demand for a third bus for the Women's College. The library block is nearing completion (full grant including building furniture etc. 2,54000/- It will be possible for us to shift our library to the new building in the next session. We want to have a good text book section for our students. Since we are teaching music and different languages we need a records section consisting of linguaphone records and Music records. We have been granted a block grant of Rs. 35,000/- for the purchase of books for the period of the IV plan.